द्विवेदी-मीमांसा

लेखक

प्रेमनारायण टंडन

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद

मूल्य १॥)

१९३९

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि न कश्चित् ज्ञातुमर्हति॥

❀ ❀ ❀ ❀

शिल्पी परम प्रवीण मातृ-मंदिर-निर्माता!
अभिनव लेखन-कला-लोक के विज्ञ विधाता!

× × ×

हिंदी-भाषा के सदा लगे रहे उद्धार में।
ऋषि दधीचि-सम अस्थियाँ दे दीं पर-उपकार में॥

—रूपनारायण पांडेय

(द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ)

भारतेंदु कर गए भारती की वीणा निर्माण।
किया अमर स्पर्शों ने जिसका बहु विधि स्वर-संधान ॥
निश्चय उसमें जगा आपने प्रथम स्वर्ण-झंकार।
अखिल देश की वाणी को दे दिया एक आकार ॥

× × ×

पंखहीन थी अहा, कल्पना, मूक कंठगत गान।
शब्द शून्य थे भाव; रुद्ध प्राणों से वंचित प्राण ॥
सुख-दुख की प्रिय कथा स्वप्न! बंदी थे हृदयोद्गार।
एक देश था सही, एक था क्या वाणी-व्यापार?

× × ×

वाग्मि! आपने मूक देश को कर फिर से वाचाल,
रूप-रंग से पूर्ण कर दिया जीर्ण राष्ट्र-कंकाल।
शत कंठों से फूट आपके शतमुख गौरव-गान।
शत-शत दुर्ग-स्तंभों से ताने स्वर्णिम-कीर्त्ति-वितान।

× × ×

चिर स्मारक-सा, उठ युग-युग में, भारत का साहित्य।
आर्य, आपके यशःकाम को करे सुरक्षित नित्य ॥

—सुमित्रानंदन पंत

(द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ)

रायबहादुर
बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए०
को

सादर समर्पित

—प्रेमनारायण टंडन

अपनी बात

प्रसिद्ध अमेरिकन दार्शनिक एमर्सन ने सफलतापूर्वक अपना कार्य समाप्त करनेवालों के विषय में कहा है—

I look on that man as happy, who, when there is a question of success, looks into his works for a reply, not into the market, not into opinion, not into patronage In every variety of human employment, in the mechanical and in the fine arts, in navigation, in farming, in legislation, there are among the members who do their task perfunctorily, as we say, or just to pass, and as badly as they dare,—there are the working men, on whom the burden of the business falls—those who love work, and love to see it rightly done, who finish their task for its own sake; and the state and the world is happy that has the most of such finishers. The world will always do justice at last to such finishers; it cannot otherwise.

इस कथन का भावार्थ यह है कि वही मनुष्य वास्तव में सुखी है जो 'सफलता' का प्रश्न किये जाने पर अपनी पुस्तकों की बिक्री, अन्य व्यक्तियों की सम्मति और अपने संरक्षकों के आदर की ओर संकेत न करके अपने कार्य की ओर देखता है।

संसार में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं, जो अपने व्यवसाय में—ललित कला, नौका-संचालन कृषि या जो कार्य भी वे करते हों उसमें—प्राय: आलस्य किया करते हैं; किसी प्रकार समय काटना ही उनके जीवन का प्रधान उद्देश्य रहता है। इसके विपरीत, कुछ अध्यवसायी ऐसे भी होते हैं, जो कार्य को पूर्ण करने के लिए शक्ति भर, और लगन के साथ, उद्योग करते हैं। जीवन में, सफलता ऐसे ही वीरों को मिलती है। सत्य ही, वह देश धन्य है जहाँ ऐसे कर्मनिष्ठ अधिक से अधिक संख्या में जन्म लें। इन महानुभावों के कार्यों की महत्ता संसार—या राष्ट्र—एक न एक दिन अवश्य ही समझता है।

स्वर्गीय आचार्य पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ऐसे ही कर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। जीवन-भर अध्यवसायपूर्वक, अनेक कष्ट सहकर भी, उन्होंने अपना कर्तव्य पालन किया और निरंतर विरोधों का सामना करके हिन्दी की सतत सेवा की। हिंदी-संसार आज उनकी सेवाओं का मूल्य आँकने की चेष्टा कर रहा है और प्रत्येक हिंदी-साहित्य का विद्यार्थी उनकी सेवा में अपनी श्रद्धांजलि सादर समर्पित करने को उत्सुक है; उनके विशाल व्यक्तित्व के आगे हमारा मस्तक श्रद्धा से झुक ही जाता है। इसका कारण क्या है? अनेक प्रसिद्ध लेखकों और कवियों के होते हुए भी हम द्विवेदी जी का ही इतना आदर क्यों करते हैं? उन्होंने हिंदी के लिए किया ही क्या है? उनका हिन्दी-साहित्य में क्या स्थान है? आदि विषयों की परिचयात्मक विवेचना करने का प्रयत्न इस पुस्तक में किया गया है।

... ...

सन् १९३५ में मैंने भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र की साहित्य-सेवा के विषय में दो-एक लेख लिखने का विचार किया था।

इस संबंध में मैंने आदरणीय बाबू कालिदास जी कपूर, एम० ए०, एल० टी०, से बात की थी। इसी सिलसिले में उन्होंने द्विवेदी जी का नाम लिया और बोले—इनके विषय में कुछ लिख सको तो लिखो; इसकी बड़ी ज़रूरत है।

मैंने स्वीकार कर लिया। मास्टर साहब ने मुझे द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ दिया, सरस्वती (सन् १६१८ से), सुधा, माधुरी, विशाल भारत, हंस और जागरण की फ़ाइलें दीं और दीं द्विवेदी जी की कुछ पुस्तकें। नया-नया उत्साह था। द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ का "श्रद्धांजलि" शीर्षक अंश मैं उसी दिन पढ़ गया और दो लेख—पूर्वरूप और संक्षिप्त जीवनचरित्र—लिख डाले। शाम को मैंने वे लेख मास्टर साहब को दिखाये। उन्होंने संशोधन किया। मैंने बड़ी उत्सुकता से पूछा—ठीक हैं? उन्होंने मुझे उत्साहित करते हुए कहा—हाँ, ठीक ही हैं; पर इतनी जल्दी करने से काम नहीं चलेगा। इससे मेरा उत्साह ही बढ़ा। द्विवेदी जी की पुस्तकें मैंने मँगाईं; कुछ दिन के लिए, द्विवेदी जी की अनुमति से, नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी में जाकर द्विवेदी जी का पत्र-व्यवहार देखा और तब फिर से "मीमांसा" में हाथ लगाया। मुझे ठीक याद है कि जिस दिन मैंने यह पुस्तक लिखनी आरंभ की थी, वह जन्माष्टमी का अत्यंत शुभ और पुनीत दिवस था। आज उसी परमात्मा की असीम अनुकंपा से, लगभग तीन वर्ष के परिश्रम के बाद, मैं इसे तैयार कर सका हूँ। इसके लिए मसाला जुटाने में, आर्थिक कठिनाइयों के होते हुए भी, मैंने यथाशक्ति परिश्रम किया और मिले हुए मैटर का पूर्ण उपयोग करने की चेष्टा भी की, फिर भी यह पुस्तक जैसी होनी चाहिए थी, वैसी न हो सकी। इसका प्रधान कारण मेरी अयोग्यता है, मैटर की कमी नहीं।

इस पुस्तक में जितने पत्र प्रकाशित हुए हैं, आवश्यकतानुसार काट-छाँट करके उनका केवल उतना ही भाग प्रकाशित किया गया है, जिसका संबंध विषय से रहा है, अनावश्यक अंश छोड़ दिये गये हैं।

द्विवेदी जी के सत्संग का सौभाग्य न मिलने के कारण, उनके सहृदय मित्रों और भक्तों ने उनके चरित्र और स्वभाव के विषय में जो विचार यत्र-तत्र प्रकट किये हैं उन्हें ही मैंने अपनी भाषा में, अपना लिया है। कहीं-कहीं तो मैंने उन्हें जैसा का तैसा उद्धृत भी कर दिया है। ऐसे लेख द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ ('प्रस्तावना' और 'श्रद्धांजलि' शीर्षक स्तंभ) हंस (अप्रैल से जुलाई तक १९३० और अक्तूबर १९३५) माधुरी (फ़रवरी १९३४) सुधा (सितंबर १९३५) विशाल भारत, जागरण (वै० शु० १ सोमवार और १३ सोमवार सं० १९९०) भारत (१९२८) आदि में प्रकाशित हुए थे। लेखक थे सर्वश्री बा० श्यामसुंदरदास, बा० रायकृष्णदास, बा० शिवपूजनसहाय, पं० देवीदत्त शुक्ल (सरस्वती-संपादक), पं० श्रीराम शर्मा, पं० रूपनारायण जी पांडेय (माधुरी-संपादक) स्वामी सत्यदेव जी, पं० वेंकटेशनारायण तिवारी, पं० यज्ञदत्त जी, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, बा० कालिदास जी कपूर, श्री लक्ष्मीनारायण गर्दे, आदि।

इन विद्वान् लेखकों और आदरणीय संपादकों का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। बा० शिवपूजनसहाय जी ने पुस्तक के कुछ लेखों के सुधारने में तथा श्री उमेशचन्द्र देव विद्या-वाचस्पति (सरस्वती-सम्पादक) ने पुस्तक का संशोधन व संपादन करने में बड़ा परिश्रम किया है। पंडित श्रीधरसिंह (प्रो० गवर्नमेंट जुबिली-कालेज, लखनऊ) और प्रो० सी० एल० मालवीय (प्रो० कान्यकुब्ज कालेज, लखनऊ) ने मुझे बराबर अमूल्य सम्मति देकर

उत्साहित किया है। पंडित रूपनारायण जी पांडेय (माधुरी-संपादक) ने मेरे लेखों को माधुरी में प्रकाशित कर, समय-समय पर मुझे प्रोत्साहित करके और परामर्श देकर जो अमूल्य सहायता दी है तथा पंडित देवीदत्त जी शुक्ल (सरस्वती-संपादक) और बाबू कालिदास जी कपूर ने मुझ पर जो कृपा रक्खी है उसके लिए मैं केवल इतना कह सकता हूँ कि यदि ये महानुभाव मुझ पर ऐसी कृपा न रखते तो शायद "मीमांसा" कभी तैयार ही न हो सकती।

१—८—३६
रानीकटरा, लखनऊ

प्रेमनारायण टंडन

द्विवेदी-मीमांसा

(स्वर्गीय आचार्य पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की हिन्दी-सेवा की परिचयात्मक आलोचना ।)

लेखक, प्रेमनारायण टंडन
बी० ए०, विशारद,
हिंदी-अध्यापक, कालीचरन हाईस्कूल, लखनऊ ।

विषयानुक्रमणिका

विषय | पृष्ठ

आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी
साहित्य-वाचस्पति

द्विवेदी-मीमांसा

पूर्वरूप

पंख-हीन थी अहा! कल्पना, मूक कंठगत गान!
शब्द-शून्य थे भाव; रुद्ध, प्राणों से वंचित प्राण!
सुख-दुख की प्रिय कथा स्वप्न! बंदी के हृदयोद्गार,
एक देश था सही, एक था क्या वाणी-व्यापार?

—सुमित्रानन्दन पन्त

× × × ×

गद्य की दशा

१६ वीं शताब्दी का अन्तिम चरण था। देश में अँगरेजी राज्य की जड़ अच्छी तरह जम चुकी थी और काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक के हिन्दुस्तानी अँगरेजों को अपना सम्राट् मान चुके थे। फिर भी उनके हृदयों में अँगरेजी शासन के प्रति श्रद्धा की अपेक्षा आतंक का भाव ही प्रबल था। सरकार भी उनकी इस मनोवृत्ति को बदलने के लिए भरसक प्रयत्न कर रही थी। क्योंकि उसे अनुभव हो चुका था कि भारतीयों की संस्कृति में परिवर्त्तन किये बिना केवल तलवार के बल पर हम इन्हें अधिक दिनों तक अपने अधीन नहीं रख सकते। शासक और शासितों के बीच की इस खाई को पाटने का काम 'अँगरेजी-भाषा' से लिया जा रहा था, और लार्ड मेकाले की स्कीम के अनुसार यह सात समुद्र पार की महाप्रभुओं की भाषा हमारे देश के कोने-कोने में अपने पैर पसार रही थी। शिक्षा का माध्यम भी यही थी। अतः जितने शिक्षित निकलते थे उनकी आँखें बिना अँगरेजी का चश्मा चढ़ाये संसार

में कुछ देख ही न सकती थीं। इस प्रकार यह योजना आशा से अधिक सफलता पा रही थी। हिन्दुस्तानियों के दिमाग़ों पर अँगरेज़ी सभ्यता और संस्कृति का सिक्का अच्छी तरह जम गया था। हमें 'स्वदेश', 'भारतीय' और 'हिन्दी' जैसे शब्दों से चिढ़-सी हो गई थी। हमारी चाल-ढाल पर भी विदेशी-पन की छाप लगने लगी थी और हम मालिकों का अन्धानुकरण करने एवं उन्हीं के सिखाये गीत गाने में अपना गौरव अनुभव करने लगे थे। अपनी विशेषताओं से हम यहाँ तक उदासीन हो गये थे कि अपनी किसी वस्तु को तब तक अच्छा न मानते थे जब तक कोई विदेशी विद्वान् उसकी प्रशंसा न कर दे। किसी देश के पतन की यह चरम सीमा कही जा सकती है।

सौभाग्यवश अँगरेज़ी और भारतीय सभ्यता के प्रथम संसर्ग का यह दूषित प्रभाव भारतवासियों पर अधिक काल तक न ठहरा। कुछ ही समय के पश्चात् हम अपनी संस्कृति और साहित्य के पुनरुद्धार की आवश्यकता अनुभव करने लगे। देश में अनेक सुधारकों का जन्म हुआ और सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और आर्थिक आन्दोलन आरंभ हो गये। इन आन्दोलनों और सुधारकों ने हिन्दी-भाषा के पुनरुद्धार और प्रचार में बड़ा योग दिया, क्योंकि ऐसे आन्दोलनों को चलाने के लिए एक ऐसी भाषा की आवश्यकता थी जो भारतीय संस्कृति के अनुकूल हो, साथ ही साधारण जनता-द्वारा आसानी से समझी और बोली जा सके।

ऐसी भाषा हिन्दी ही हो सकती थी। फलतः अनेक सुधारकों ने, विशेषतया सामाजिक व धार्मिक सुधारकों ने, जिनमें स्वामी दयानन्द सरस्वती (संवत् १८७१-१९४०) का नाम विशेष रूप से उल्लेख्य है, लोक-भाषा के रूप में इसको ही अपनाया। वस्तुतः बिना हिन्दी को अपनाये उनका काम भी नहीं चल सकता था, क्योंकि

यही एक ऐसी भाषा थी जिसे भारत के समस्त प्रान्तों के निवासी थोड़ा-बहुत समझ सकते थे। भारतीय सुधारकों के पूर्ववर्त्ती व समकालीन ईसाई मिशनरी भी इसी कारण हिन्दी में ही अपनी पुस्तकें छपाते थे और आरम्भ में सरकार ने भी हिन्दुस्तानियों और गोरों में रब्त-ज़ब्त बढ़ाने के लिए हिन्दी का ही सहारा पकड़ा था। इन सब प्रयत्नों का सुपरिणाम, जो प्रायः घुणाक्षर न्याय से हुआ था, यह हुआ कि हिन्दी-भाषा का प्रचार जनता में पहले की अपेक्षा कुछ अधिक हो गया और भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (संवत् १९०७-१९४१) अपने दल-बल के साथ हिन्दी-भाषा को अपनाने का, और उसी में अपने भाव प्रकट करने का आदर्श जनता के सामने रख सके। इन लोगों ने अँगरेज़ी और बँगला से प्रभावित होकर हिन्दी-गद्य में भी काफ़ी सुधार किये और इन भाषाओं के अनेक नाटकों और उपन्यासों का अनुवाद करके तथा अनेक मौलिक पुस्तकें रचकर हिन्दी-भाषा की श्रीवृद्धि की। बँगला और अँगरेज़ी के साहचर्य्य के दो स्पष्ट प्रभाव हिन्दी गद्य पर पड़े—

(१) भाषा में शिष्टता और कोमलता आगई और उसकी व्यंजना-शक्ति बढ़ गई।

(२) अँगरेज़ी के विराम-चिह्नों का थोड़ा-बहुत प्रयोग होने लगा।

इसका यह फल हुआ कि भाषा स्पष्ट, संगठित और सुलझी हुई होगई। फिर भी भाषा में व्याकरण-सम्बन्धी दोष बने रहे और उसके रूप में भी काफ़ी अस्थिरता और असंयमता चलती रही।

पद्य

यह तो हुई गद्य की बात! पद्य की दशा भी लगभग ऐसी ही थी; यद्यपि उसका कलेवर अपेक्षाकृत अधिक उन्नति कर रहा

था। रीति-काल की कविता शृंगार से लदी थी, पर गौण रूप से उसमें धर्म और राजनीति की भी झाँकी मिल जाती थी। भारतेन्दु के काल तक पहुँचते-पहुँचते कवियों की भारती ने अन्य विषयों का कविता से सर्वथा बहिष्कार कर डाला। अब वे निरंकुश होकर नायिकाओं की एकान्त उपासना करने में ही वाणी की सफलता मानने लगे।

छन्द और काव्य-विषय

छंद तो रीति-काल के प्राय: सभी प्रचलित थे; पर पिंगल और अलंकारों का ज़ोर उतना नहीं था। व्रजभाषा को ही लोग कविता की भाषा समझते थे। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी इसका 'उद्धार'-सुधार किया था, यद्यपि वे खड़ी बोली में भी कविता किया करते थे। देश की परिस्थिति क्या है, साहित्य और समाज का क्या सम्बन्ध है, इन बातों को कुछ लोग समझ अवश्य गये थे; परन्तु ये विषय कविता के क्षेत्र से बाहर के माने जाते थे।

साहित्यिक अंग

हिन्दी गद्य और कविता में यह प्रगति हरिश्चन्द्र के जीवन काल में ही दिखाई दी। 'भारतेंदु' के अस्त और 'प्रताप' के तिरोहित हो जाने पर हिन्दी-साहित्य बिना पतवार की नौका की भाँति डगमगाने लगा। चारों ओर एक प्रकार की धाँधली-सी मची हुई थी। भाषा की अराजकता दूर नहीं हुई थी। व्याकरण की शुद्धता की ओर भी लेखकों का विशेष ध्यान नहीं गया था। मौलिक साहित्य की सृष्टि का तो श्रीगणेश भी न हुआ था। उसका भाण्डार संस्कृत के दो-एक ग्रन्थों के अनुवाद और बँगला से अनुवादित कूड़े-करकट तक ही परिमित था।

कहानियों का एक प्रकार से जन्म ही नहीं हुआ था। नाटकों का भी अभाव ही था। इसके सम्बन्ध में स्वयं द्विवेदी जी ने अपने नाट्य-शास्त्र में (२४ नवम्बर सन १९१०) लिखा है—"हिन्दी बोलनेवाले, हम लोग, लाभदायक और उपयोगी विषयों को नाटक के रूप में लाकर उनके द्वारा मनोरंजन करने की ओर बहुत ही कम ध्यान देते हैं। यदि कोई नाटक लिखता भी है तो वह प्राय: बेसिरपैर का लिखता है। भाषा ऐसी लचर कि उसके अभिनय की बात तो दूर रही, उसे पुस्तक ही में देखकर दु:ख होता है।" पत्र-पत्रिकायें रोज़ निकलती और बन्द होती थीं। उनमें संपादक लोग प्राय: अपने ही लेख भरा करते थे। हाँ, कभी कभी कुछ तत्त्व-हीन और चापलूसी से भरे लेख भी प्रकाशित हो जाते थे। कुछ लोग समालोचना का नाम अवश्य सुन चुके थे, पर वे उसके वास्तविक अर्थ, उद्देश्य और आदर्श से अनभिज्ञ थे। उस समय हिन्दी के प्रमुख लेखकों ने अपने-अपने दल बना रक्खे थे, जिनमें 'परस्पर-प्रशंसा' की प्रवृत्ति बड़े ज़ोरों पर थी। एक दलवाले दूसरे दल के लेखक की पुस्तक को बुरा अवश्य कहते थे, चाहे हृदय में वे उसे अच्छा ही मानते हों। उनकी समालोचना का लक्ष्य लेखक होता था, पुस्तक नहीं। संक्षेप में उस समय न तो भाषा ही व्याकरण-सम्मत और सुव्यवस्थित हो पाई थी और न उसके साहित्य के किसी अंग की पूर्त्ति की ओर ही लेखकों का ध्यान गया था। इतिहास, विज्ञान, समाजनीति, धर्मनीति, राजनीति और पुरातत्त्व आदि विषय साहित्य के अंतर्गत नहीं गिने जाते थे। लेखक प्राय: सभी निरंकुश थे। न उनकी कोई शैली थी, न प्रणाली।

उस समय भाषा की क्या दशा थी, इसका ठीक चित्र एक समाचार-पत्र ने इन शब्दों में खींचा है—"उस समय हिन्दी हर तरह से दीन-हीन थी। उसके पास न अपना कोई इतिहास था,

न कोश, न व्याकरण; साहित्य का ख़ज़ाना ख़ाली पड़ा था। बाहर की कौन कहे, ख़ास अपने घर में भी उसकी पूछ और आदर न था कचहरियों में वह अछूत थी, कालेज में घुसने न पाती थी; स्कूलों में भी एक कोने में दबकी रहती थी। हिन्दू-विद्यार्थी भी उससे दूर रहते थे। अँगरेज़ी और उर्दू में शुद्ध लिखने-बोलने में असमर्थ हिन्दी-भाषी भी उसे अपनाने में अपनी छुटाई समझते थे। सभा-समाजों की कौन कहे, घर के काम-काज, हिसाब-किताब, चिट्ठी-पत्री में भी प्रायः उसका बहिष्कार ही था।" (आज, ६ नवम्बर १९२५)

जन्म, शिक्षा और साहित्य-प्रवेश

"जिस व्यक्ति ने बीस वर्षों तक लगातार दस करोड़ हिन्दी-भाषी जनता का साहित्यिक अनुशासन किया वह बैसवाड़े की देहात का रहनेवाला एक सामान्य श्रेणी का ब्राह्मण था। अवध की नवाबी के पर्यवसान के बाद उसी प्रान्त के दौलतपुर नामक निर्धन ग्राम में उसका जन्म हुआ था। अवध—जिस प्रदेश का वह निवासी था—उस समय तक उजड़कर निरक्षरता और दरिद्रता का केन्द्र बन चुका था। किन्तु प्राचीन स्मृतियाँ लुप्त नहं होतीं, अतः प्राचीन संस्कार भी सुयोग पाकर कभी पुनर्जन्म ले लेते हैं। गङ्गा की जो धारा कभी अपनी वीचि-रचना के उपलक्ष्य में वाल्मीकि के कवि-कण्ठ का सुवर्णहार प्राप्त करती होगी वह आज भी दौलतपुर के समीप से ही बहती है। वे आम्र-कानन जो निद्रागत पथिकों के मुखों में भी मधुर रस डालते थे, आज भी दौलतपुर के आस-पास अपना वही उपहार लिये हुए खड़े हैं। इन्हीं आम्र-काननों के परिपूर्ण यौवन के समय माधव मास में इसी ग्राम के एक कान्यकुब्ज-कुल में शिशु महावीरप्रसाद ने सन् १८६४ ई० (सं० १६२१ वैशाख शुक्ल ४) को जन्म लिया। प्रसूतिगृह में उसकी जिह्वा पर सरस्वती का बीजमन्त्र अंकित कर दिया गया। मंत्र-विद्या सत्य सिद्ध हुई।"

द्विवेदी जी के पितामह संस्कृत के भारी विद्वान् थे; पर असमय में ही देहावसान हो जाने से वे अपने पुत्रों को कुछ पढ़ा-लिखा नहीं सके थे; जिससे द्विवेदी जी के पिता

को जीविकार्थ फ़ौज में नौकरी करनी पड़ी और उनके चाचा को बैसवाड़े के एक तअल्लुक़ेदार का मुसाहब होना पड़ा। ऐसे ही कुटुम्ब में उनका लालन-पालन हुआ था। निर्धनता के कारण उनकी शिक्षा की भी ठीक व्यवस्था न हो सकी। प्रारम्भ में गाँव की परिपाटी के अनुसार उन्होंने शीघ्र-बोध, दुर्गा-सप्तशती और अमरकोश पढ़ना शुरू किया। परन्तु शीघ्र ही संस्कृत का पढ़ना बन्द कर वे गाँव के स्कूल में पढ़ने लगे, जहाँ उन्होंने हिसाब-किताब और हिन्दी-उर्दू पढ़ी। उन दिनों अँगरेज़ी की बड़ी महिमा थी। इसका पता उनके पिता और चाचा को था, अतएव वे अँगरेज़ी पढ़ने को रायबरेली भेजे गये। रायबरेली दौलतपुर से बहुत दूर थी, अतएव वे वहाँ से बुलाकर रनजीत पुरवा के स्कूल में लाये गये। रायबरेली की अपेक्षा पुरवा दौलतपुर से कुछ समीप था। कुछ समय के पश्चात् पुरवा का स्कूल बन्द हो गया; अतएव उन्हें फ़तहपुर जाना पड़ा। परन्तु असुविधाओं के कारण वे वहाँ से उन्नाव चले गये। इस प्रकार वे जगह-जगह मारे-मारे फिरे और व्यवस्थित रूप से डटकर कहीं पढ़ न सके। फिर भी वे मतलब भर को अँगरेज़ी जान गये थे, अतएव उन्होंने स्कूल को नमस्कार किया और अजमेर जाकर १५) मासिक की नौकरी कर ली। कुछ दिनों के बाद उन्होंने वह नौकरी छोड़ दी और अपने पिता के पास बम्बई चले गये। बम्बई में उनके पिता वल्लभकुल के गोस्वामियों के यहाँ नौकर थे। वहाँ इन्होंने कुछ अँगरेज़ी पढ़ी और तारबर्क़ी का काम सीखा। साथ-साथ मराठी और गुजराती भाषायें भी पढ़ते रहे। कुशाग्रबुद्धि और प्रतिभा-सम्पन्न थे ही, शीघ्र ही इन भाषाओं के भी अच्छे जानकार हो गये। इसके कुछ दिनों के बाद इन्हें जी० आई० पी० रेलवे में २२) मासिक पर तार बाबू की जगह मिल गई। उस समय इनकी अवस्था २०-२२ वर्ष की थी। इस नौकरी के सिलसिले में इन्हें इधर-

उधर बहुत चक्कर लगाने पड़े और समय-समय पर बम्बई, नागपुर, अजमेर और झाँसी में रहना पड़ा। हरदा, खंडवा, होशंगाबाद और इटारसी में क्रम-क्रम से इनकी पदोन्नति होती रही। प्रवीणता के कारण तत्कालीन आई० एम० आर० (इंडियन मिडिलेंड रेलवे) के ट्रैफ़िक मैनेजर श्री डब्ल्यू० बी० राइट ने इन्हें टेलीग्राफ इन्स्पेक्टर बनाकर झाँसी भेज दिया। इन्होंने वहाँ नई तरह का एक लाइन-क्लियर ईजाद करके अपनी अनोखी प्रतिभा का परिचय दिया।* इसके बाद इन्होंने तारबर्क़ी पर एक पुस्तक भी अँगरेज़ी में लिखी। इन दिनों कानपुर से इटारसी और आगरा से मानिकपुर तक की पूरी लाइन का तार-संबंधी काम ये देखते थे।

रेलवे में नौकरी करते हुए भी इनका अध्ययन बराबर जारी रहा। बंगालियों के साथ रहते हुए झाँसी में इन्होंने बँगला सीखी और इस प्रकार वे कई भाषाओं के जानकार हो गये।

साहित्य की ओर द्विवेदी जी का झुकाव आरंभ से ही था वे पण्डितों के गाँव के थे और सो भी उस गाँव के, जहाँ सुखदेव मिश्र जैसे रस-सिद्ध कवि रह चुके थे। मिश्र जी की कविताओं का प्रभाव द्विवेदी जी के बचपन तक उनके गाँव में ख़ूब फैला हुआ था। इसके अतिरिक्त पंडित प्रतापनारायण मिश्र भी बैसवाड़े के ही थे और सज्जनकीर्ति-सुधाकर के सम्पादक पंडित वंशीधर वाजपेयी तो द्विवेदी जी के पड़ोसी ही थे†। बंबई

---

*"उस समय भला यह कौन जानता था कि एक दिन ये हिन्दीसाहित्य में भी नई तरह का लाइन-क्लियर ईजाद करके सदैव के लिए अपने भक्तों के हृदयों में बस जायँगे।"

† इस वायुमंडल का असर द्विवेदी जी पर पड़ ही चुका था।

पहुँचने पर द्विवेदी जी की चार आँखें हो गईं और उनमें भी साहित्यसेवा का भाव जाग्रत हुआ। फलतः वे कवितायें लिखने लगे और साथ ही अपनी रेलवे की ड्यूटी भी नियम से बजाते थे। उन्होंने अपनी प्रारंभिक काल की कुछ कवितायें पुस्तक-रूप में छपवाई थीं। इन पुस्तकों का उल्लेख हम आगे के अध्यायों में करेंगे।

धीरे-धीरे द्विवेदी जी का अध्ययन गंभीर होता गया और विचार भी परिष्कृत होते गये। वे हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत में भी कवितायें रचने लगे। उनकी रचनायें श्रीवेंकटेश्वर-समाचार, भारतमित्र, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, हिन्दोस्तान और संस्कृत-चन्द्रिका में आदरपूर्वक स्थान पाने लगीं।

अब उनका ध्यान गद्य लिखने की ओर भी आकृष्ट हुआ। कदाचित् उनका पहला लेख सन् १८९६ में 'श्रीवेंकटेश्वर-समाचार' में प्रकाशित हुआ। उन्होंने गद्य में कई पुस्तकें भी लिखीं। बेकन-विचार-रत्नावली, भामिनी-विलास का भाषानुवाद, आदि पुस्तकें इसी समय की हैं। हिन्दी-कालिदास और नैषध-चरितचर्चा से उनकी समालोचक के रूप में बड़ी प्रसिद्धि हुई और वे उस समय के अच्छे लेखकों में गिन लिये गये। इस समय तक रेलवे में भी उनकी काफ़ी वेतनवृद्धि हो चुकी थी। उन्हें १५०) मासिक मिलते थे।

जिस 'सरस्वती' का लगातार १८ वर्षों तक सम्पादन करके द्विवेदी जी ने आचार्य पद पाया उसके साथ उनका सम्बन्ध पहले-पहल कैसे स्थापित हुआ, इसका वर्णन इस प्रकार है। काशी-नागरीप्रचारिणी सभा के तत्त्वावधान में प्रयाग के इंडियन प्रेस से 'सरस्वती' १९०० ईसवी की जनवरी से प्रकाशित होने

लगी थी। द्विवेदी जी उस समय तक हिन्दी के अच्छे लेखक माने जा चुके थे। सरस्वती के ५-६ अंक प्रकाशित हो जाने पर भी जब उन्होंने उसके लिए कोई लेख न भेजा तब उसके प्रधान सम्पादक बाबू कार्तिकप्रसाद ने उनके पास यह पत्र लिखा—

सरस्वती-संपादक-समिति-कार्यालय
गढ़वासी टोला,
बनारस सिटी,
२६-६-१६००

महाशय,

अभी तक आपने अपने किसी लेख से 'सरस्वती' को भूषित नहीं किया जिसके लिये सरस्वती की प्रार्थना है कि शीघ्र उसकी सुधि लीजिये।

आपका—
कार्तिकप्रसाद

द्विवेदी जी ही नहीं, द्विवेदी जी का भाग्य भी 'सरस्वती' की सुधि लेने के लिए उतावला बैठा था। धीरे-धीरे उसमें इनके लेख और कवितायें प्रकाशित होने लगीं और 'सरस्वती' से उनका सम्बन्ध बढ़ने लगा। उस समय वे झाँसी में डी० टी० एस० (डिस्ट्रिक्ट ट्रैफ़िक सुपरिंटेंडेंट) के आफ़िस में चीफ़ क्लर्क थे। इसी सिलसिले में उनका परिचय एक ऐसे महापुरुष से हुआ जिनके सम्पर्क और सहयोग ने द्विवेदी जी के जीवन की दिशा ही बदल दी। ये थे इंडियन प्रेस के स्वामी बाबू चिन्तामणि घोष।

उन दिनों 'सरस्वती' के ५ संपादक थे—बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री, पंडित किशोरीलाल गोस्वामी, बाबू जगन्नाथदास बी० ए०, बाबू राधाकृष्णदास और बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए०। दो वर्ष के बाद चार संपादक तो अलग हो गये और अकेले बाबू श्यामसुन्दरदास रह गये जो दो वर्ष तक 'सरस्वती' का काम चलाते रहे। अब घोष बाबू को मालूम हुआ कि बाबू श्यामसुन्दर-दास भी अधिक समय तक 'सरस्वती' का काम न कर सकेंगे। अतएव वे उसके सम्पादन के लिए किसी ऐसे आदमी की खोज करने लगे जो जम कर उसका काम करे। हिन्दी के सौभाग्य से उनकी निगाह द्विवेदी जी पर जा पड़ी—उन्हीं द्विवेदी जी पर जिन्होंने घोष बाबू के इंडियन प्रेस से निकली हुई एक रीडर की कड़ी आलोचना करके उन्हें आर्थिक हानि तक पहुँचाई थी। पर चिन्तामणि •ाबू उदारचेता और पारखी व्यक्ति थे। उक्त प्रतिकूल आलोचना से नाराज़ होने के बजाय वे द्विवेदी जी से प्रसन्न हुए थे, और उनकी योग्यता के क़ायल हो गये थे। उन्होंने सोचा कि यही व्यक्ति 'सरस्वती' को योग्यतापूर्वक चला सकेगा। फलतः उन्होंने 'सरस्वती' के संपादन का भार द्विवेदी जी को सौंप दिया और वह भी २५) मासिक के एलाउंस पर। उस समय द्विवेदी जी को वेतन की ज़रूरत भो न थी। हाँ 'सरस्वती' की ज़रूरत अवश्य थी। उन्हें हिन्दी के लिए कुछ करना था, अतः 'सरस्वती' क्या मिली, वरदान मिल गया। सन् १६०४ की 'सरस्वती' उन्होंने झाँसो से निकालो। इसके लिए उन्हें कितना परिश्रम करना पड़ता था, इसका पता उनको निम्नलिखित दिन-चर्या से लग सकता है।

बहुत सबेरे उठकर पहले तो वे संस्कृत के ग्रन्थों का अवलोकन करते थे। फिर चाय पीने के बाद ७ से ८ बजे तक एक महाराष्ट्र पंडित से, जिनको उन्होंने अपना मास्टर बनाया था, कुछ ग्रन्थों के

विषय में पूछ-ताँछ करते थे। फिर कुछ गुजराती, बँगला, संस्कृत-पत्रिकाओं का अवलोकन करते और उसके बाद थोड़ी देर ख़ुद भी लिखते तथा 'सरस्वती' के लेखों का संपादन करते। १० बजे के क़रीब भोजन करके दफ़्तर जाते। वहाँ जो सिर झुकाया तो १ बजे तक ढेर की ढेर फ़ाइलों को साफ़ करके तब २ बजे के क़रीब उठकर कुछ जलपान किया करते। लौटकर अँगरेज़ी अख़बार अवलोकन करते और जो काम आता जाता उसे समाप्त करते। चार-पाँच बजे के क़रीब घर आकर हाथ-मुँह धोकर कपड़े बदलकर दरवाज़े पर बैठ जाते। जो लोग आते उनसे वार्त्तालाप होता। किसी को नेक सलाह देना, किसी की ज़रूरत पूरी कराने की चिन्ता करना—घंटे डेढ़ घंटे यही दिलबहलाव होता। इसके बाद फिर किताबों का अवलोकन करके ६-१० बजे तक बिस्तर पर चले जाते।

इन्हीं दिनों एक ऐसी घटना हो गई जिसने द्विवेदी जी को पूर्णतया साहित्य के क्षेत्र में लाकर रख दिया। पुराने डी० टी० एस० (डिस्ट्रिक्ट ट्रैफ़िक सुपरिंटेंडेंट) की बदली होने पर उनकी जगह जो नये साहब आये उनसे और द्विवेदी जी से एक दिन कहा-सुनी हो गई। स्वाभिमानी तो द्विवेदी जी थे ही; आपने रेलवे की १५०) की नौकरी पर लात मार दी और आकर कानपुर के पास जुही में रहने लगे और वहीं से 'सरस्वती' का संपादन करने लगे।

हिन्दी-पत्रों का संक्षिप्त इतिहास

द्विवेदी जी के सम्पादन-कार्य के विषय में कुछ लिखने के पूर्व हम संक्षेप में यह बताना आवश्यक समझते हैं कि हिन्दी में पत्रों का आरम्भ कब से हुआ और द्विवेदी जी के समय हिन्दी की पत्रकार-कला किस अवस्था में थी।

हिन्दी में प्रथम पत्र निकालनेवाले राजा शिवप्रसाद थे। उनका पत्र सन् १८५४ में 'बनारस अखबार' के नाम से निकला था। उसके सम्पादक महाराष्ट्र के एक सज्जन श्री गोविन्द रघुनाथ थत्ते थे। इस पत्र की भाषा पर उर्दू का बहुत अधिक प्रभाव था। इसके चार वर्ष बाद काशी से 'सुधाकर' नाम का एक नया पत्र निकला। श्री तारामोहन मित्र नाम के एक बङ्गाली सज्जन इसके सम्पादक व प्रकाशक थे। यह पत्र भी शीघ्र ही बन्द हो गया। इसके ८-१० वर्ष बाद तक एक प्रकार से न हिन्दी ही रही और न हिन्दी में कोई समाचार-पत्र ही निकला। हाँ, राजा लक्ष्मणसिंह-द्वारा लिखित कालिदास की शकुंतला के अनुवाद (सन् १८६३) ने लोगों का ध्यान फिर अपनी ओर आकर्षित किया। सन् १८६८ में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'कवि-वचनसुधा' को जन्म दिया। पहले यह मासिक थी, फिर पाक्षिक होकर साप्ताहिक हो गई। इसके पश्चात् सन् १८७३ में 'हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका' और सन् १८७४ में 'बालबोधिनी' का नम्बर आया। भारतेन्दु की इन तीनों पत्रिकाओं में 'कविवचन-

सुधा' को ही प्रसिद्धि मिली। सरकार ने भी धन और पद द्वारा भारतेन्दु की सेवाओं का मान किया। परन्तु जब बाबू हरिश्चन्द्र राजनैतिक मामलों में टीका-टिप्पणी करने लगे तब सरकार ने सहायता बन्द कर दी। 'अभिमानी हरिचन्द' इससे हतोत्साह नहीं हुए और 'कविवचन-सुधा' को कुछ समय तक प्रकाशित करते रहे। सन् १८८५ में यह पत्रिका भी बन्द हो गई।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पत्रिका-प्रकाशन-सम्बन्धी इस सदुद्योग का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि हिन्दी के लेखकों का एक अच्छा सङ्घ स्थापित हो गया। भारतेन्दु की दृढ़ता और उनके स्वाभिमान ने उन लेखकों के हृदय में हिन्दी-भाषा के प्रति प्रेम उत्पन्न कर दिया। अतः इन लेखकों को भी पत्र-पत्रिकायें निकालने का शौक़ हुआ और भारतेन्दु के जीवन-काल में ही हिन्दी में २०-२५ पत्र प्रकाशित होने लगे। इनमें से कुछ पत्र-पत्रिकाओं और उनके संपादकों के नाम इस प्रकार हैं—

पत्र-पत्रिका का नाम	समय	संपादक	स्थान
(१) अलमोड़ा-अख़बार	सन् १८७१	श्री सदानंद	मालवीय, अलमोड़ा
(२) हिंदी-दीप्ति-प्रकाश	,, १८७२	,, कार्तिकप्रसाद खत्री	
(३) बिहार-बंधु	,, १८७२	,, केशवराम भट्ट,	बिहार
(४) सदादर्श	,, १८७४	,, निवासदास,	दिल्ली
(५) काशी-पत्रिका	,, १८७६	,, लक्ष्मीशंकर मिश्र, एम० ए०,	काशी
(६) भारत-बंधु	,, १८७६	,, तोताराम,	अलीगढ़
(७) भारत-मित्र	,, १८७७	,, रुद्रदत्त,	कलकत्ता
(८) मित्र-विलास	,, ,,	,, कन्हैयालाल,	लाहौर

पत्र-पत्रिका का नाम	समय	संपादक	स्थान
(९) हिन्दी-प्रदीप	सन् १८७७	,, बालकृष्ण भट्ट,	प्रयाग
(१०) आर्य्य-दर्पण	,, ,,	,, बख़्तावरसिंह,	शाहजहाँपुर
(११) सारसुधा-निधि	,, १८७८	,, सदानंद मिश्र,	कलकत्ता
(१२) उचित वक्ता	,, ,,	,, दुर्गाप्रसाद,	,,
(१३) सज्जनकीर्तिसुधाकर	,, १८७९	,, वंशीधर,	उदयपुर
(१४) भारत-सुदशा-प्रवर्तक	,,	,, गणेशप्रसाद,	फ़र्रुखाबाद
(१५) आनंद-कादंबिनी	,, १८८२	,, बदरीनारायण चौधरी,	मिर्ज़ापुर
(१६) देश-हितैषी	,, ,,	,, ...	अजमेर
(१७) दिनकर-प्रकाश	,, १८८३	,, रामदास वर्मा,	लखनऊ
(१८) ब्राह्मण	,, ,,	,, प्रतापनारायण मिश्र,	कानपुर
(१९) शुभचिंतक	,, ,,	,, सीताराम,	जबलपुर
(२०) सदाचार-मार्तंड	,, ,,	,, लालचन्द्र शास्त्री,	जयपुर
(२१) हिंदोस्तान	,, ,,	,, रामपालसिंह,	इँग्लेंड
(२२) धर्म-दिवाकर	,, ,,	,, देवीसहाय,	कलकत्ता
(२३) प्रयाग-समाचार	,, ,,	,, देवकीनन्दन त्रिपाठी,	प्रयाग
(२४) कविकुल-कुंजदिवाकर	,,	,, रामनाथ शुक्ल,	बस्ती
(२५) पीयूष-प्रवाह	,, ,,	,, अंबिकादत्त व्यास	
(२६) भारत-जीवन	,, ,,	,, रामकृष्ण वर्मा,	काशी
(२७) भारतेंदु	,, ,,	,, राधाचरण गोस्वामी,	वृन्दावन

इनके अतिरिक्त हिंदी-वंगवासी, सुदर्शन, हितवार्ता (कलकत्ता), श्रीवेंकटेश्वर-समाचार (बंबई), छत्तीस-गढ़-मित्र (बिलासपुर)

आदि अनेक पत्र और भी निकलते थे। पर इनमें से अधिकांश शीघ्र ही बंद हो गये।

इन पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशित होने से इतना लाभ अवश्य हुआ कि लोग हिन्दी की सेवा की ओर ध्यान देने लगे। परन्तु भारतेन्दु-सरीखे उत्साही लेखकों के पश्चात् हिन्दी की दशा फिर डावाँडोल हो चली। लोग उर्दू को अपनाने लगे; उसी की पुस्तकें खपती और बिकती थीं—हिन्दी की कभी एक-आध पुस्तक छप गई तो छप गई। एक बार किसी ने स्वर्गीय राय बहादुर लाला बैजनाथ से पूछा था—आप हिन्दी तो ख़ूब लिख सकते हैं। फिर अपनी पुस्तकें अधिकतर उर्दू में ही क्यों छपवाते हैं? उन्होंने उत्तर दिया—हिन्दी की पुस्तकों की कोई बात भी पूछता है? 'विधवा-विवाह' पर लिखी हुई हिन्दी की मेरी पुस्तक की प्रतियाँ आज भी मेरे पास पड़ी हुई हैं, पर उनका जो उल्था उर्दू में निकला था उसका दूसरा संस्करण भी प्रकाशित हो चुका है।

हिन्दी के लिए वास्तव में यह बड़े संकट का समय था; पर भाग्य ने साथ दिया। सन् १८९३ में कुछ हिन्दी-प्रेमियों ने, जिनमें बाबू श्यामसुन्दरदास और पंडित रामनारायण मिश्र मुख्य थे, काशी में नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना की। इस संस्था ने हिन्दी-प्रचार का कार्य बड़े ज़ोर से करना आरंभ किया; शीघ्र ही बहुत से पढ़े-लिखे लोग इसके कार्यों की प्रशंसा करने लगे। इस संस्था के कार्य-कर्त्ताओं के प्रयत्न करने पर सन् १९०० में सरकारी कचहरियों में नागरी का प्रवेश हो गया।

इसी साल इंडियन प्रेस के स्वामी स्वर्गीय बाबू चिन्तामणि घोष ने 'सरस्वती' नाम की पत्रिका को काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से जन्म दिया। इस पत्रिका का पहला अंक

जनवरी १६०० में प्रकाशित हुआ था। पहले दो वर्षों तक इसके पाँच संपादक रहे—स्वर्गीय बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री, स्वर्गीय पंडित किशोरीलाल गोस्वामी, स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर', स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदास और बाबू श्यामसुन्दरदास। तीसरे वर्ष अकेले बाबू श्यामसुन्दरदास जी को ही उसका संपादन करना पड़ा। चौथे वर्ष पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' की सेवा करने को आ गये। उस समय से लेकर बीस वर्ष तक वे अकेले ही उसका संपादन करते रहे। इस काल में अस्वस्थता के कारण उन्हें लगभग दो साल का दो बार करके अवकाश लेना पड़ा। उनके समय में सरस्वती कैसी निकली और हिन्दी-साहित्य के प्रचार व प्रसार में उसने क्या योग दिया तथा द्विवेदी जी के व्यक्तिगत परिश्रम ने हिन्दी में किस प्रकार और कितने लेखक पैदा कर दिये, इन सबका विवरण हम क्रमशः आगे के परिच्छेदों में देंगे।

'सरस्वती' में विविध विषय

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय में पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः एक ही विषय की प्रधानता रहती थी। स्वयं भारतेन्दु जी की 'कवि-वचन-सुधा' में प्राचीन कवियों का काव्य ही प्रकाशित होता था। देव का 'अष्टयाम', चन्द का 'रासो', जायसी का 'पद्मावत', कबीर की साखियाँ, बिहारी के दोहे आदि के ही प्रकाशन की ओर लोग दत्तचित्त थे। पर शीघ्र ही इस प्रथा का अंत हो गया। 'कवि-वचन-सुधा' पाक्षिक होकर साप्ताहिक हो गई; 'हरिश्चन्द्र-मैगज़ीन' भी निकली। धीरे-धीरे इनमें समाज-नीति और धर्म-नीति पर भी लेख निकलने लगे। भारतेन्दु जी का, कालान्तर में, ध्यान देश की दशा की ओर गया। अतः राजनीति पर भी लेख निकलने आरम्भ हुए। उनका सिद्धान्त-वाक्य यह था—

> खल गगन सों सज्जन दुखी मति होहिं, हरि पद मति रहै।
> अपधर्म छूटै स्वत्व निज भारत गहै कर-दुख वहै॥
> बुध तजहिं मत्सर, नारि-नर सम होंहि जग आनँद लहै।
> तजि ग्राम कविता सुकविजन की अमृत-बानी सब कहै॥

इन पंक्तियों के रेखांकित भागों पर ग़ौर करने से विदित होता है कि भारतेन्दु जी के इस सिद्धान्त में राजनीति, समाज-नीति, धर्मनीति, सबकी चिन्ता है। वे शिक्षित समाज, अँगरेज़-शासकों और पुरानी लकीर के फ़क़ीरों पर भी निडर होकर साफ़-साफ़ छींटे फेंका करते थे। 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' में भारतेन्दु का 'पाँचवें पैग़म्बर', श्री ज्वालाप्रसाद की

'कालिराज की सभा', श्रीतोताराम बी० ए० का 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न,' श्री कमलाप्रसाद का 'रेल का विकार खेल' आदि कई सुन्दर और जनसाधारण की प्रकृति के अनुकूल प्रचलित विषयों पर लेख प्रकाशित हुए थे। हाँ, अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः धार्मिक व सामाजिक लेख ही प्रकाशित हुआ करते थे। ऐसा एक ही आध पत्र था जिसमें साहित्य, धर्म और समाज, इन तीनों ही विषयों पर लेख एक साथ छपते हों। अन्य विषयों की कौन कहे 'आनंद कादंबिनी' में तो श्री बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' प्रायः अपने ही लेख भर दिया करते थे। इस बात का पता भारतेन्दु जी के निम्न पत्र से भी लगता है, जो उन्होंने प्रेमघन जी को लिखा था—

"जनाब यह किताब नहीं कि जो आप अकेले ही इकराम फ़रमाया करते हैं, बल्कि अख़बार है जिसमें अनेक जन-लिखित लेख होना आवश्यक है। और यह भी ज़रूरत नहीं कि सब एक तरह के लिक्खाड़ हों।"

बात यह थी कि हिंदी-गद्य का यह आरंभिक काल था। हिंदी में पत्र-पत्रिकायें भी नई ही निकली थीं और सम्पादक अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व से परिचित न थे। पत्र-पत्रिकाओं को वे अपनी रुचि के अनुसार बना लेते थे, जनता की रुचि का उन्हें ध्यान ही नहीं रहता था। यही कारण था कि अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन घाटा उठाकर शीघ्र ही बंद करने को विवश होना पड़ता था। भारतेन्दु ने इस त्रुटि को पहचाना और वे अपनी पत्रिकाओं को लोक-प्रिय बनाने के लिए उनमें धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक लेख छापने लगे, साथ ही कविता का भी रसास्वादन अपने पाठकों को कराते रहे।

उक्त दोनों पत्रिकाओं के बाद पण्डित प्रतापनारायण मिश्र के 'ब्राह्मण' और बालकृष्ण भट्ट के 'हिन्दी-प्रदीप' का नंबर आता है। मिश्र जी ने अपने 'ब्राह्मण' का उद्देश 'हमारी आवश्यकता' शीर्षक लेख में इस प्रकार लिखा है—

"जी बहलाने के लेख हमारे पाठकों ने बहुत से पढ़ लिये। यद्यपि इनमें भी बहुत सी समयोपयोगी शिक्षा रहती है, पर वाग्-जाल में फँसी हुई ढूँढ़ निकालने-योग्य; अतः अब हमारा विचार है कि कभी कभी ऐसी बातें भी लिखा करें जो इस काल के लिए प्रयोजनीय हों तथा हास्यपूर्ण न होके सीधी सीधी भाषा में हों। हमारे पाठकों का काम है कि इन्हें नीरस समझ के छोड़ न दिया करें, तथा केवल पढ़ ही न डाला करें, वरंच उनके लिए तन से, धन, से, कुछ न हो सके तो वचन ही से यथावकाश कुछ करते भी रहें।"

मिश्र जी के इस कथन से स्पष्ट होता है कि साहित्य-सेवा के साथ-साथ 'ब्राह्मण' का उद्देश्य जन-साधारण की प्रवृत्ति को हिंदी की ओर आकर्षित करना था। मिश्र जी साहित्यिक उत्थान के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों का निवारण भी चाहते थे। उन्होंने अनेक लेखों में समाज के दोषों का उल्लेख भी किया।

इसके विपरीत भट्ट जी का 'हिंदी-प्रदीप' एक साहित्यिक पत्र था उसमें कभी-कभी राजनीति के लेख भी छपा करते थे। हाँ, सामाजिक लेख कुछ कम होते थे। यह पत्र लगभग ३० वर्ष तक निकलता रहा। इसकी साहित्यिक सेवाओं के विषय में भट्ट जी ने स्वयं ही लिखा है:—

"इन बत्तीस साल की जिल्दों में कितने ही उत्तमोत्तम उपन्यास, नाटक, तथा अन्यान्य प्रबन्ध भरे पड़े हैं। वे यदि पुस्तकाकार छपा

दिये जायँ तो निस्सन्देह हिन्दी-साहित्य के अङ्ग का कुछ न कुछ कोना अवश्य भर जायगा।"

इस अवतरण से स्पष्ट हो जाता है कि सरल और मनोरञ्जक साहित्य के साथ ही अध्ययन के योग्य कुछ गम्भीर लेख भी उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगे थे। पर इनमें अभी तक उन विषयों का समावेश नहीं किया गया था जिनको अन्य भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं में बराबर स्थान मिल रहा था। स्वयं द्विवेदी जी ने मिश्र जी के 'ब्राह्मण' के विषय में उनका संक्षिप्त जीवन-चरित लिखते हुए लिखा है—

"ब्राह्मण के ज़माने में हिन्दी की तरफ़ लोगों का ध्यान नया ही नया था। इससे मासिक पुस्तकों में जैसे लेख होने चाहिए वैसे बहुत कम लेख ब्राह्मण में निकले। हमने इस पत्र के पहले तीन साल के सब अङ्क देख डाले, किन्तु इतिहास, जीवन-चरित, विज्ञान, पुरातत्त्व अथवा और कोई मनोरञ्जक पर लाभदायक विषय पर अच्छे लेख हमें न मिले। इसमें प्रतापनारायण का दोष कम था, समय का अधिक।"

—सरस्वती (मार्च १९०६)

अतः 'सरस्वती' के सम्पादक होने पर द्विवेदी जी के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे इन सभी विषयों का उसमें समावेश करते। समय की भी उस समय यही माँग थी। कारण देश* में उन दिनों एक ऐसी विचित्र बहुज्ञता का बाज़ार गर्म हो रहा था जो इसके पहले देखी सुनी भी नहीं गई थी। स्कूलों के विद्यार्थी भी इतिहास, भूगोल, विज्ञान, गणित

* द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, प्रस्तावना

अँगरेज़ी, उर्दू, संस्कृत, फ़ारसी, आदि की अनिवार्य शिक्षा से शिक्षित होकर निकल रहे थे; और कालेजों में तो शास्त्र इतने पढ़ाये जा रहे थे जितने स्वयं शुकदेव जी ने भी न पढ़े होंगे। यद्यपि यह बहुत ही छिछली शिक्षा थी, परन्तु इससे जिस एकमात्र उत्कृष्ट वृत्ति का विकास हुआ वह थी परिचय की वृत्ति। उस परिचय में पांडित्य चाहे न हो, परन्तु एक अभिज्ञता जो कभी व्यर्थ नहीं जाती, संचित की गई थी। उस समय यह परिचय की आकांक्षा समाज में सर्वत्र देखी जाती थी; अतः उसकी वृत्ति का भी विधान होने लगा। जो पत्र-पत्रिकायें अँगरेज़ी में निकलीं उनमें यद्यपि आवश्यक विषय-वैचित्र्य था, किन्तु जनता तक उनकी पहुँच नहीं थी।" द्विवेदी जी को यह कमी बहुत अखरती थी। अब 'सरस्वती'-द्वारा उन्होंने इस कमी को पूरा करने का निश्चय किया। उद्देश्य की पूर्ति में एक बाधा यह थी कि जनता में पढ़ने का शौक़ बहुत ही कम था। अतः उन्होंने पहले अपने पाठकों की रुचि को हिंदीसाहित्य की ओर आकर्षित करने की चेष्टा की। 'सरस्वती' के एक अंक में उन्होंने लिखा—

"लेखों से 'सरस्वती' की सहायता करनेवाले सज्जनों से प्रार्थना है कि अब वे अपने लेखों को पहले की अपेक्षा अधिक रोचक बनाने की कृपा करें।"

ऊपर हम लिख चुके हैं कि पण्डित प्रतापनारायण मिश्र ने भी एक बार अपने लेखकों से ऐसी ही प्रार्थना की थी। पर परिस्थिति ने उनका साथ न दिया और उन्हें 'ब्राह्मण' को शीघ्र ही बन्द कर देना पड़ा। द्विवेदी जी इसे देख चुके थे, इसलिए सावधान थे। शीघ्र ही उन्होंने अपने लेखकों और पाठकों को अधिक गंभीर और ठोस लेखों के प्रति अभिरुचि बढ़ाने के लिए उत्साहित किया और बढ़ती हुई नवीन शिक्षा द्वारा शिक्षित नवयुवक पाठकों की

सहानुभूति वे प्राप्त कर सके। तत्पश्चात् उन्होंने भिन्न-भिन्न नवीन विषयों की ओर ध्यान दिया। अँगरेज़ी लेखक 'मिल' की 'लिबर्टी' नामक पुस्तक का 'स्वाधीनता' के नाम से और स्पेंसर की 'एजूकेशन' का 'शिक्षा' के नाम से उन्होंने अनुवाद किया। अर्थ शास्त्र की ओर जनता का अधिक ध्यान नही था अतः उन्होंने 'सम्पत्ति-शास्त्र' नामक ग्रंथ लिखा। इसे उन्होंने अँगरेज़ी के अर्थशास्त्र के कई सुप्रसिद्ध ग्रंथों के आधार पर लिखा था। हिन्दी के अर्थशास्त्र के विद्यार्थियों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए इसकी भूमिका उन्होंने 'सरस्वती' में प्रकाशित की थी।

संस्कृत और हिन्दी के कुछ ग्रन्थों की शुरू शुरू में आलोचना करनेवाले द्विवेदी जी का ध्यान ऐसे नवीन विषयों की ओर कैसे आकर्षित हो गया, इसकी विवेचना करना एक मनोरंजक विषय है। विद्यार्थी की हैसियत से वे इधर-उधर भटकते रहे थे। रेल के कर्मचारी होकर भी उन्हें इधर-उधर जाना पड़ा था। साधारण व्यक्ति इन दोनों परिस्थितियों में पड़ कर केवल अपने भाग्य का रोना रोया करता है। पर द्विवेदी जी उन दिनों अपना अनुभव विस्तृत करते रहे; विभिन्न प्रांतों के निवासियों से मिलकर उन्होंने नई-नई बातें सीखीं और वे ८ भाषाओं के पूर्ण जानकार हो गये। उनके पास अनेकानेक विभिन्न विषयों की पुस्तकें और मराठी आदि भाषाओं की पत्रिकायें आती थीं। उन्हें वे गौर से पढ़ा करते थे। रेल के कर्मचारी रहकर भी पठन-पाठन को ही उन्होंने अपना व्यसन बना रक्खा था। जैसा कि प्रथम परिच्छेद में कह आये हैं। इन पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकों में अनेक विषयों के लेख रहते थे और जनता उन्हें अपनाती भी थी। बहुत दिन तक वे जनता की रुचि और परिस्थिति का अध्ययन करते रहे। यही कारण

था कि अवसर पाते ही उन्होंने 'सरस्वती' को विभिन्न विषयों से विभूषित करके उसे विचार की अपेक्षा प्रचार की पत्रिका बनाया। संस्कृत-साहित्य, जीवन-चरित, इतिहास, पुरातत्त्व, विज्ञान, अध्यात्म-विद्या, संपत्तिशास्त्र, हिन्दी-भाषा, शासन-पद्धति, शिक्षा, प्राचीन अनुसंधान, यात्रा-विवरण, नवीन अभ्युत्थान का परिचय, समाज-तत्त्व, दर्शन, संगीत, चित्रकला, नीति आदि अनेकानेक विषयों के लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित होने लगे। संपादक के लिए तो इनमें से अधिकांश विषयों का ज्ञान वे आवश्यक भी समझते थे। बँगला के 'प्रवासी' में 'संपादकों को किन विषयों का ज्ञान होना चाहिए,' इस पर एक लेख छपा था। उसी की बातों का समर्थन करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा था—

"संपादकों को इन शास्त्रों और इन विषयों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए—इतिहास, संपत्तिशास्त्र, राष्ट्र-विज्ञान, समाज-तत्त्व, व्यवस्था-विज्ञान (Jurisprudence), अपराध-तत्त्व (Criminology), अनेक लौकिक और वैषयिक व्यापारों का संख्या-संबंधी शास्त्र (Statistics), पौर और जानपद वर्ग के अधिकार और कर्तव्य, अनेक देशों की शासन-प्रणाली, शांतिरक्षा और स्वास्थ्य-रक्षा का विवरण, शिक्षा पद्धति और कृषि-वाणिज्य का वृत्तांत। देश का स्वास्थ्य किस तरह सुधर सकता है, कृषि, शिल्प और वाणिज्य की उन्नति कैसे हो सकती है, शिक्षा का विस्तार और उत्कर्ष-साधन कैसे किया जा सकता है, किन उपायों के अवलम्बन से हम राष्ट्र-सम्बन्धी नाना प्रकार के अधिकार पा सकते हैं, सामाजिक कुरीतियों को किस प्रकार दूर कर सकते हैं—इत्यादि अनेक उपयोगी विषयों पर संपादकों को लेख लिखना चाहिए।"

—सरस्वती

परन्तु द्विवेदी जी के इस कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं था कि प्रत्येक संपादक के लिए इन सभी विषयों का मर्मज्ञ या विशेषज्ञ होना अनिवार्य है; उनका आशय केवल इतना ही था कि वह इन विषयों से परिचित हो, इनका अर्थ समझता रहे और इन्हें व्यर्थ न समझे। आगे चलकर इसी नोट में उन्होंने लिखा है—

"संपादक होने से कोई सर्वज्ञ—सब विषयों का ज्ञाता—नहीं हो सकता। सब विषय तो दूर रहे, दो-चार विषयों का ज्ञान प्राप्त करना भी दुःसाध्य है। अतएव यदि एक-एक संपादक एक ही एक विषय का चूडांत ज्ञान प्राप्त करके उसी पर लेख लिखे तो बहुत लाभ हो।"

सम्पादक की योग्यता-संबंधी इन दोनों विचारों को दृष्टि में रखकर यदि हम 'सरस्वती' के अङ्क देखें तो ज्ञात होगा कि द्विवेदी जी अनेक विषयों से केवल परिचित थे तथा अनेक के अच्छे ज्ञाता। उनके सम्पादकीय नोट प्रायः दस-दस विषयों पर हुआ करते थे; साथ ही दो-एक लेख भी वे प्रतिमास लिख डालते थे। नये विषयों पर वे स्वयं तो लिखते ही थे, दूसरों से भी लिखवाते थे। उनका ज्ञान और अध्ययन इतना विस्तृत था कि वे प्रायः अपने लेखकों को विषय के साथ साथ सहायक पुस्तकों के नाम भी बताया करते थे। एक बार एक महाशय ने काम-विज्ञान पर एक लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित होने के लिए भेजा। लेख अच्छा नहीं था और कई आवश्यक स्थानों पर लेखक ने समुचित प्रकाश भी नहीं डाला था। द्विवेदी जी धैर्य-पूर्वक सारा लेख ध्यान से पढ़ गये और अन्त में निबन्ध के सब दोष नोट करके अपनी सम्मति देते हुए जो पत्र उन्होंने लेखक के पास लिखकर

भेजा उसका सारांश यह था कि अमुक-अमुक पुस्तकों में इस विषय की सुन्दर विवेचना की गई है। लेखक महाशय को चाहिए कि उन्हें एक बार पढ़ें और तब अपना लेख सुधार कर प्रकाशित करायें। ऐसा था द्विवेदी जी का विस्तृत अध्ययन, जिसका क़ायल सबको होना पड़ता था।

ऊपर जिन विषयों की सूची दी गई है उनमें अधिकांश बड़े शुष्क और गम्भीर हैं; फिर नये विषयों की ओर साधारण जनता का ध्यान आकर्षित करना आसान भी नहीं होता। द्विवेदी जी को इन सभी बातों का ध्यान रखना पड़ता था। अतः विषय को रोचक और शैली को सरल और स्पष्ट बनाने का वे सदा ही प्रयत्न किया करते थे। फलतः 'सरस्वती' में प्रकाशित लेखों में गम्भीरता के साथ साथ प्रचुर मात्रा में रोचकता, सरलता और माधुर्य भी मिलता था; ज्योतिष, वेदाङ्ग आदि रूखे-सूखे विषयों पर भी बड़े मनोमोहक और रोचक लेख उन्होंने लिखवाये। इससे 'सरस्वती' का जनता में बड़ा आदर होने लगा।

सामयिक विषयों का चयन और सङ्कलन करते समय वे एक आदर्शवादी सुधारक बन जाते थे। भारतवासी अपनी प्राचीन संस्कृति, भाषा, साहित्य आदि की रक्षा करें, यही उनका उद्देश्य और आदर्श था। अतः वे अपने पाठकों को संसार में आज कैसी उन्नति हो रही है, कौन-कौन देश उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं, भारत की वास्तविक स्थिति और दशा क्या है, आदि बातों से पूर्ण परिचित रखना अपना कर्तव्य समझते थे। इसके लिए उन्हें बड़ा परिश्रम करना पड़ता था; प्रायः अँगरेज़ी, मराठी, बँगला, गुजराती आदि भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं की उल्लेखनीय टिप्पणियों का अनुवाद वे 'सरस्वती'

में प्रकाशित किया करते थे। कभी-कभी उन्हें काट-छाँट कर उद्धृत भी कर देते थे। स्वयं उनकी सम्पादकीय टिप्पणियाँ ही विविध ज्ञान का भण्डार हैं। गहरे से गहरे तात्त्विक विवेचन के दर्शन तो उनमें होते ही हैं, साथ ही उनमें कहीं गहरी तात्त्विक विवेचना के दर्शन भी होते हैं तो कहीं साधारण दन्त-कथाओं की विवेचना द्वारा मनोरञ्जन। विविध विषयों एवं सामयिक प्रगतियों की परिचयात्मक आलोचना द्विवेदी जी के विशाल अध्ययन और प्रखर प्रतिभा का परिचय देती है। इनमें से अधिकांश नोट यद्यपि दूसरों के व्याख्यानों या लेखों अथवा अन्य भाषाओं की पुस्तकों या पत्र-पत्रिकाओं के आधार पर लिखे जाते थे—आधार पर ही नहीं, उनका स्वतन्त्र भावानुवाद या रूपान्तर-मात्र होते थे, जिसके लिए सम्भव है, द्विवेदी जी को कोई विशेष महत्त्व देना न चाहे—तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसके लिए द्विवेदी जी को बड़ा परिश्रम करना पड़ता था। इन निबन्धों की भूमिका वे स्वयं लिखा करते थे जिसमें प्रायः मूल लेखक और लेख के विषय के परिचय और महत्त्व पर प्रकाश डाला जाता था। फलतः जनता ने भी इस विविध विषय-विभूषित पत्रिका का हृदय से स्वागत किया; लोग उसके प्रत्येक अङ्क के लिए लालायित रहते थे। पाठकों की 'सरस्वती' के विषय में क्या सम्मति थी, इसका नमूना नीचे लिखे कुछ उद्धरणों से मिल जाता है। एक महाशय लिखते हैं—

"उसका कलेवर उज्ज्वल वसन और निरलङ्कार था, वैसा ही उसका अंतस् भी स्वच्छ, सरल और निरलस था। उसके निश्चल विचार थे, स्पष्ट स्फुट भाषा थी। उसमें विद्या थी, किन्तु विद्या का प्रदर्शन न था। कठिन परिश्रम था, उपालंभ न था। सङ्गठन था, विज्ञापन न था।"

यदि ऐसी 'सरस्वती' द्विवेदी जी के सम्पादन-काल के

आरम्भ में ही हिन्दी-भाषा-भाषियों का हृदय-हार बन गई तो उसमें आश्चर्य ही क्या है? वास्तव में जनता उस समय ज्ञानार्जन करना चाहती थी। परिस्थिति एक ही विषय के विशेषज्ञ को महत्त्व न देकर ऐसे व्यक्ति को चाहती थी जिसका ज्ञान विस्तृत हो। द्विवेदी जी इस बात को भली भाँति समझ गये थे। ऊपर दिया हुआ उनका नोट इस बात का प्रमाण है। 'सरस्वती' की रीति-नीति स्थिर करते समय उन्होंने यही आदर्श सामने रक्खा। प्राचीन काल के सभी विषयों में पारंगत एक गुरु की तरह वे अपने पाठकों की ज्ञान-वृद्धि के साथ उनमें ज्ञानार्जन-वृत्ति भी उत्पन्न करना चाहते थे। कालांतर में उनकी यह आकांक्षा पूर्ण हुई। 'सरस्वती' ने थोड़े ही समय में इतने स्नातक उत्पन्न कर दिये जितने शायद एक विश्वविद्यालय न पैदा कर सकता। ये स्नातक पदवीधारी न होने पर भी शायद ज्ञान में डिगरीवालों से कम न थे। 'सरस्वती' के इस स्नातक-निर्माण-कार्य की आलोचना करते हुए द्विवेदी-अभिनंदन ग्रंथ में लिखा गया है—

"यदि हम इस कसौटी पर 'सरस्वती' की परीक्षा करें कि उसके द्वारा अँगरेज़ी अथवा दूसरी प्रांतीय भाषायें न जाननेवाले व्यक्ति कहाँ तक अपने-अपने देशवासी भिन्न-भाषा-भाषियों की शिक्षा-दीक्षा की समता कर सकते थे और कहाँ तक संसार की गति से परिचित न हो सकते थे—यदि हम यह पता लगा लें कि जो पाठक 'सरस्वती' की ही सहायता से अपनी विद्या-बुद्धि और मतिगति-निर्माण करते थे वे देश की पठित जनता के बीच किस रूप में दिखाई देते थे—तो हम उस पत्रिका का बहुत कुछ यथार्थ मूल्य समझ लें। हम बहुत प्रसन्नता के साथ देखते हैं कि 'सरस्वती' की सामग्री इस विचार से यथेष्ट मात्रा में उन्नत थी और उसके पाठकों को (संभवतः कविता को छोड़ कर) किसी विषय में संकुचित

होने का कुछ भी अवसर न था। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो 'सरस्वती' अपने समय में हिंदी-जनता की विद्या बुद्धि की माप-रेखा थी और वह अपने देश की अन्य भाषाओं की पत्रिका से हीन नहीं थी। परिचयात्मक सामग्री देने में द्विवेदी जी की कुशलता अद्वितीय थी।''

द्विवेदी जी की विभिन्न विषय-विभूषित 'सरस्वती' की यह नीति नई समझी जाती थी। इसका कारण यह था कि पाठकों के विचार संकुचित हो गये थे; काव्य और उसके विषयों की पद्यपय आलोचना को छोड़कर अन्य किसी विषय को वे साहित्य के अंतर्गत समझते ही नहीं थे। इसके विपरीत पाश्चात्य देशों में ऊपर दिये हुए प्रायः सभी विषय साहित्य के विभिन्न अंग समझे जाते थे। स्वयं भारत में ही मौर्य और गुप्त सम्राटों के समय में तक्षशिला, नालंद आदि विश्वविद्यालयों में प्रायः उक्त सभी शास्त्र पढ़ाये जाते थे—यूनानी और चीनी यात्रियों ने इस बात को स्पष्ट लिखा है। अतः जब 'सरस्वती' द्वारा हिन्दी-भाषा-भाषियों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया गया तब साहित्य के इन अंगों की पूर्ति की भी चिंता हुई। फलतः यद्यपि आज भी इन अंगों की पूर्णोन्नति नहीं हो सकी है, तथापि इस त्रुटि को दूर करने में साहित्यसेवी संलग्न हैं और आशा है कि शीघ्र ही हमारा साहित्य सर्वांगपूर्ण हो जायगा और हमें गर्व के साथ उसकी ओर संकेत करके यह कहने का सुअवसर प्राप्त होगा कि ऐसा कोई भी विषय नहीं है जिस पर हिन्दी में अच्छे ग्रंथ न लिखे गये हों।

लेखक-निर्माण

हम पीछे लिख आये हैं कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दी-संसार में बड़ी धाँधली मची हुई थी। पत्र-पत्रिकायें निकलती थीं और उनमें मनमाने लेख भरे जाते थे। ये लेख कभी तो मित्रों के होते थे और कभी सम्पादक महोदय के ही। पत्र-संचालकों या सम्पादकों को जनता की रुचि की कुछ भी चिन्ता न थी; वे केवल अँगरेज़ी और बँगला की नक़ल करके अपनी सम्पादक बनने की हवस पूरी करना चाहते थे।

'सरस्वती' का सम्पादन हाथ में आते ही द्विवेदी जी ने अनुभव किया कि बिना योग्य लेखक और पाठक उत्पन्न किये हिन्दी की दशा में सुधार होना असम्भव है। उन दिनों हिन्दी में लेखक थे भी इने-गिने। जो थे भी वे लकीर के फ़क़ीरों की तरह पुराने विषयों को ही कविता करने और गद्य लिखने के लिए अपनाते थे। भाषाशैली और व्याकरण पर तो कोई ध्यान ही न देता था। द्विवेदी जी ने इस अनियमितता को रोकने का भारी प्रयत्न किया और इस प्रकार के दोष-पूर्ण लेखों का प्रकाशन एकदम बन्द कर दिया। लोग लेख भेजते थे। द्विवेदी जी उनके दोष दिखा कर लौटती डाक से ही वापस कर देते थे। इससे दक़ियानूसी लेखकों में बड़ा असंतोष फैल गया। द्विवेदी जी ने इसकी कुछ चिन्ता न की। जब तक अच्छे लेख न मिले, उन्होंने स्वयं इतना परिश्रम किया कि 'सरस्वती' का पूरा मेटर प्रायः ख़ुद ही तैयार करने लगे। वे विभिन्न विषयों का अध्ययन करके लिखते थे और कल्पित नाम से छपा देते थे। द्विवेदी जी की चौमुखी प्रतिभा इन दिनों देखने योग्य थी। वे कभी

'नियमनारायण शर्मा' के रूप में हिन्दी के अक्षर-विन्यास को व्यवस्थित करते, कभी श्रीकण्ठ पाठक एम० ए० होकर भाषा की मिट्टी पलीद करनेवालों को राह पर लाते, कभी 'भुजंग-भूषण भट्टाचार्य' बनकर कथा-साहित्य की नींव डालते तो कभी 'कश्चित् कान्यकुब्ज'; का जामा पहनकर समाज को सुधारने की कोशिश करते थे।

उन्होंने स्वयं भारी परिश्रम करना स्वीकार किया, पर ऐरे-गैरे पँच कल्यानी लेखों को छापना उचित नहीं समझा। लग-भग साल भर तक यही क्रम चलता रहा। दूसरे-तीसरे वर्ष उन्होंने 'भाषा और साहित्य' तथा 'भाषा और व्याकरण' आदि के ढंग के लेख भी प्रकाशित किये। इनके लिखने का एक उद्देश्य यह भी था कि लेखक द्विवेदी जी के विचारों से परिचित हो जायँ और स्पष्ट रूप से उन्हें ज्ञात हो जाय कि क्यों उनके लेख 'सरस्वती' में प्रकाशित नहीं होते। ऐसे लेखों के प्रकाशित होने से एक लाभ और हुआ कि जिन लोगों को हिन्दी में लिखने की चाह थी वे अब सावधान होकर लिखने लगे; परन्तु जो लेखक 'हम चुनीं दीगरे नेस्त' का शिकार हो रहे थे और अपनी योग्यता के सामने किसी को कुछ समझते ही नहीं थे, वे द्विवेदी जी से असंतुष्ट हो गये और उन्होंने 'सरस्वती' के लिए लिखना ही बन्द कर दिया। इतनी सरलता से पिछले खेवे के इन स्वयंभू लेखकों से छुटकारा पाकर शायद द्विवेदी जी ने संतोष की साँस ली होगी।

धाँधली मचानेवालों का मुँह बन्द करने के पश्चात् द्विवेदी जी ने सत्साहित्य के उत्पादन के लिए योग्य लेखकों को ढूँढ़ना और उन्हें उत्साहित करना आरम्भ किया। बात यह थी कि जो लोग विद्वान थे और कुछ लिख सकते थे वे पहले तो लिखते ही नहीं थे

और यदि लिखते भी थे तो अँगरेज़ी आदि अन्य भाषाओं में; हिन्दी में लिखने में 'शायद' वे अपना अपमान तक समझते थे। द्विवेदी जी सामयिक पत्रों में ऐसे लेखकों के लेख पढ़ा करते थे और प्रयत्न करते थे कि ये लोग हिन्दी में भी लिखें। यह प्रयत्न कभी-कभी व्यतिरेक-युक्ति-साधन के रूप में भी देखा जाता था। एक ऐसे ही लेखक के विषय में वे लिखते हैं—

"हिन्दुस्तान रिव्यू का जुलाई १९१४ का अंक इस समय हमारे सामने है। उसमें प्लेटो और शंकराचार्य के तत्त्व-ज्ञान पर एक लम्बा लेख है। उसके लेखक हैं कोई डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री, आई० ई० एस०। ये शायद वही डाक्टर साहब हैं जो किसी समय पंजाब में थे और सरकारी वज़ीफ़ा पाकर अपना दार्शनिक और संस्कृत-ज्ञान पक्का करने के लिए योरप गये थे। यदि यह सच है तो क्या आप पर उन लोगों का कुछ भी हक़ नहीं, जिनसे वसूल हुआ रुपया वज़ीफ़े के रूप में पाकर आपने अपनी विद्वत्ता की सीमा बढ़ाई है? क्या केवल अँगरेज़ीदाँ हज़रत ही इस देश में बसते हैं? क्या ये स्कूल, कालेज और वज़ीफ़े उन्हीं के घर के रुपये से चलते और मिलते हैं? आप लोगों को अपने घर की भी ख़बर रखनी चाहिए। जिसके घर में चूहे डंड पेलते हों वह यदि जगतसेठ के गोदाम में गेहूँ की गाड़ियाँ उलटाने जाय तो कितने आश्चर्य की बात है! हमारी यह शिकायत डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री से ही नहीं, उत्तरी भारत के अन्यान्य डाक्टरों और अँगरेज़ीदाँ शास्त्रियों से भी है। आप लोग अपनी भाषा में भी उपयोगी लेख लिखने की दया करें। लिखना नहीं आता तो सीखिए, अपना कर्त्तव्य पालन कीजिए।"

इन चेतावनियों से बहुत से लोग तो रास्ते पर आगये और हिन्दी में लिखने लगे, पर कुछ लोग ऐसे भी थे जो बात बात

में पाश्चात्य देशों के गीत गाया करते थे और भारतीय होते हुए भी भारतवासियों को मूर्ख कहा करते थे। द्विवेदी जी इनसे बहुत चिढ़ गये। उन्होंने 'साहित्य की महत्ता' शीर्षक लेख में ऐसे व्यक्तियों को फटकारते हुए लिखा—

"जर्मनी, रूस, इटली और स्वयं इँग्लेंड चिरकाल तक फ्रेंच और लैटिन भाषाओं के माया-जाल में फँसे रहे थे। पर बहुत समय हुआ, उन्होंने उस जाल को तोड़ डाला। अब वे अपनी भाषा के साहित्य की अभिवृद्धि करते हैं, कभी भूल कर भी विदेशी भाषाओं में ग्रन्थरचना करने का विचार भी नहीं करते। बात यह है कि अपनी भाषा का साहित्य ही जाति और स्वदेश की उन्नति का साधन है। विदेशी भाषा का चूडांत ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी विशेष सफलता नहीं हो सकती. अपने देश को विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता। अपनी माँ को निःसहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा-शुश्रूषा में रत होता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित्त होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तंब ही कर सकते हैं।"

इसके पहले 'भाषा और साहित्य' के लेख में वे विश्व-विद्यालयों के बड़े-बड़े पदवीधारी लेखकों को भी ख़ूब फटकार चुके थे। यहाँ तक कि महामना पंडित मदनमोहन जी मालवीय से भी आपने प्रार्थना की—"आप स्वयं हिंदी में लिखा कीजिए और अपने प्रभाव के अधीन सबको हिंदी हो अपनाने को प्रवृत्त कीजिए।"

इन हृदय-वेधक सच्चे उद्गारों का लेखकों पर अभिलषित प्रभाव पड़ा। बात यह थी कि कुछ लोग विद्वान् थे और उनके हृदय में मातृभाषा हिन्दी के लिए प्रेम और आदर था, पर हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं और सम्पादकों की धाँधली देखकर उन्होंने

साहित्य-सेवा से अपना हाथ खींच लिया था। अब उनको एक ऐसा व्यक्ति ललकार रहा था जिसने अपना तन, मन और धन मातृभाषा की उन्नति के लिए अर्पण कर दिया था। अतः मातृ-भाषा के प्रति उन्होंने अपना कर्तव्य निर्धारित कर लिया। द्विवेदी जी तो चाहते ही थे कि हिन्दी-भाषा-भाषी दूसरी भाषाओं में पीछे लिखें, पहले अपनी मातृभाषा की यथोचित उन्नति कर लें। अतः उन्होंने इन लोगों का सहर्ष स्वागत किया। परिणाम-स्वरूप डाक्टर महेन्दुलाल गर्ग, श्री शिवचन्द भारतीय, पंडित गौरीदत्त वाजपेयी, राय देवीप्रसाद पूर्ण, पंडित नाथूराम शर्मा, पंडित शुकदेव तिवारी, मुंशी देवीप्रसाद मुंसिफ, पंडित रामचरित उपाध्याय, कुँवर हनुमन्तसिंह, श्री गिरिजाकुमार घोष, पंडित सत्यनारायण कविरत्न, श्री मैथिलीशरण गुप्त, पंडित रामचन्द्र शुक्ल, पंडित वेङ्कटेशनारायण तिवारी, श्री वृजनन्दनसहाय, स्वामी सत्यदेव, पंडित गिरिधर शर्मा नवरत्न, प्रभृति लेखकों ने 'सरस्वती' में लिखना आरम्भ कर दिया। इनमें कुछ लेखक तो उनके समकालीन थे परन्तु अन्तिम ५-७ लेखक नवयुवक ही थे जिनमें वे उपाधियों या डिगरियों की ओर ध्यान न देकर प्रतिभा के कण ढूँढ़ा करते थे। सत्य ही वे प्रतिभा के उपासक थे; समर्थक थे। वे गुण-ग्राही थे और ऐसे पारखी जौहरी थे कि हीरे का उचित मूल्य देते थे, चाहे वह किसी निर्धन व्यक्ति के हाथ में ही क्यों न हो। परन्तु कृत्रिम की उन्हें परख थी और उसकी ओर से वे घृणा से दृष्टि फेर लिया करते थे।

लेखकों में से कई ऐसे भी थे जो विदेशी भाषाओं के पण्डित थे। इनका ज्ञान स्वभावतः बहुत विस्तृत था। इनमें से कई विद्वान् अँगरेज़ी के पत्रों में लेख लिखा करते थे। इन लेखों का विदेशों में भी बड़ा मान होता था। द्विवेदी जी ने सोचा कि यदि ऐसे विद्वान् हिन्दी पर कृपा

करने लगें तो उसका बेड़ा पार होने में विलम्ब न लगे। फल-स्वरूप ऐसे विद्वानों को लिख लिखकर और अनुनय-विनय करके उन्हें हिन्दी-भाषा में लिखने की प्रेरणा देने लगे। उन विद्वानों के हृदयों में हिन्दी में लिखने की भी इच्छा थी, पर वे इसमें लिखते डरते थे। अँगरेज़ी और संस्कृत के महाविद्वान् महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा को उन्होंने हिन्दी लिखने के लिए किस प्रकार प्रेरित किया, इसका वर्णन 'झा' महोदय के शब्दों में ही सुनिए—

"यहाँ (इलाहाबाद में) जब मैं म्योर सेन्ट्रल कालेज में काम करता था, एक दिन पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी अपनी लठिया टेकते हुए मेरे बँगले पर आये। यथोचित आदर सम्मान के बाद उन्होंने मुझसे कहा—"झा जी, आप 'सरस्वती' में लेख क्यों नहीं लिखते?" मैंने कहा—"पंडित जी, मेरी मातृभाषा हिंदी नहीं है। संस्कृत और अँगरेज़ी में तो मुझे लिखने का अभ्यास है। लेकिन हिंदी में तो मैं कदाचित् लिखही नहीं सकता। मैं घबराता हूँ कि हिंदी में व्याकरण की अनेक अशुद्धियाँ हो जायँगी।" द्विवेदी जी इसे गंभीर मौन के साथ सुनते रहे फिर बोले—"आप लिखिए तो। आप पंडित हैं। आप जो लिखेंगे वह अच्छा ही होगा। अच्छा तो आप लेख भेज रहे हैं न?" यह कह कर द्विवेदी जी वहाँ से चले गये।

"इसके पश्चात् साहस करके मैंने 'सरस्वती' में एक लेख भेजा। और महीने के अंत में मेरे पास 'सरस्वती' आ पहुँची। मैंने जब ध्यान-पूर्वक उस लेख को पढ़ा तब मुझे विदित हुआ कि यद्यपि भाव सब मेरे ही हैं, किंतु भाषा में आमूल परिवर्तन कर दिया गया है।"

ऐसे लेखकों में श्रीयुत काशीप्रसाद जी जायसवाल का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। वे अपने लेख विलायत से भेजा

करते थे। इनके बाद अँगरेज़ी के सुप्रसिद्ध लेखक और पत्रकार श्री सन्त निहालसिंह का नाम आता है। सन्त जी ने अमेरिका, चीन और जापान आदि देशों का भ्रमण कर ज्ञानोपार्जन किया था और इनके लेख 'माडर्नरिव्यू' में प्रकाशित होते थे। द्विवेदी जी ने वे लेख पढ़े और बहुत पसन्द किये; फिर सन् १९११ की फ़रवरी मास की 'सरस्वती' में उन्होंने संत जी का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित किया और अन्त में उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा—

"संट जी से एक उलहना है। अँगरेज़ी न जाननेवाले अपने देशवासियों को अपनी बहुज्ञता से लाभ पहुँचाने का भी कभी उन्होंने ख़याल किया है या नहीं! सबसे अधिक तो इसी की ज़रूरत है। वह क्या आपके अँगरेज़ी लेखों से हो सकता है? जिस योरप और अमेरिका से उन्होंने इतना ज्ञानार्जन किया है वे सब अपनी ही अपनी मातृभाषाओं में लिखते हैं। फिर क्यों न आप भी कभी-कभी अपनी देश-भाषा में कुछ लिखने की कृपा किया करें? अपनी माँ की बोली की—अपनी देश की भाषा की सेवा करना भी तो मनुष्य का कर्तव्य है!"

इस उलहने की दाद देकर सेन्ट जी ने कई लेख 'सरस्वती' में लिखे। इसी प्रकार रायसाहब छोटेलाल जी (बार्हस्पत्य) इंजीनियर के ज्योतिष-वेदाङ्ग पर बड़े महत्त्व के गवेषणापूर्ण लेख 'हिन्दुस्तान-रिव्यू' नामक अँगरेज़ी पत्र में प्रकाशित हुए थे। इन लेखों की विद्वानों ने बड़ी प्रशंसा की थी। द्विवेदी जी ने भी इन्हें बहुत पसन्द किया। उन्होंने लेखक की प्रशंसा में संस्कृत में स्वयं एक पद बनाया। उसमें बार्हस्पत्य जी को आशीर्वाद भी दिया। बस, उसी दिन से द्विवेदी जी ने मानो उन्हें 'सरस्वती' के लिए मोल ले लिया। बार्हस्पत्य जी ने

'सरस्वती' में कई सुन्दर और गवेषणापूर्ण लेख बड़े रोचक ढंग से लिखे। द्विवेदी जी का व्यवहार अपने इन सभी लेखकों के प्रति बड़ा सौजन्यपूर्ण रहता था। जो लोग द्विवेदी जी की संपादकीय टिप्पणियाँ पढ़कर अनुमान किया करते थे कि यह व्यक्ति अहम्मन्यता से पूर्ण होगा, स्वयं वे ही द्विवेदी जी से व्यवहार या साक्षात्कार करके उनकी सहिष्णुता और सौजन्य पर मुग्ध हो जाते थे। पत्र का उत्तर और लेख की स्वीकृति वे तीसरे दिन अवश्य भेज दिया करते थे। यों तो वे सभी को उत्साहित किया करते थे, परन्तु जिस व्यक्ति का लेख अस्वीकृत कर के लौटाते थे उसके साथ भी पत्र भेजते थे और उसमें एक-आध वाक्य ऐसा लिख दिया करते थे जिससे कि लेखक निरुत्साह और अप्रसन्न न होकर प्रसन्न हो जाता था। एक बार उन्होंने एक महाशय को इस प्रकार पत्र लिखा था—

दौलतपुर ६-३-०७

"श्रीमान् महोदय,

आपका कृपापत्र मिला। परमानन्द हुआ। क्षमा कीजिएगा, मैं आपको हिंदी में ही पत्र लिखता हूँ। जब आप इतनी अच्छी हिंदी जानते हैं तो हम क्यों टूटी-फूटी अँगरेज़ी लिख कर उसे ख़राब करें।"

इन महाशय की जिस भाषा के लिए 'अच्छी' शब्द लिखकर द्विवेदी जी ने उनको उत्साहित किया है उसका नमूना यह है—

पता—बाख़िदमत पं० महाबीर प्रसाद द्विवेदी सम्पादक "सरस्वती" मासिक पत्रिका बमुक़ाम दौलतपुर डाकख़ाना भोजपुर ज़िला रायबरेली पहुँचे।

परन्तु इन महाशय को द्विवेदी जी ने केवल उत्साहित करके नहीं छोड़ दिया। आगे चल कर उनसे प्रार्थना करते हुए लिखा—

"हमारे देशबंधु अँगरेज़ी ऐसी क्लिष्ट भाषा को लिख कर उसके साहित्य-सागर को तो गँदला करते ही हैं, पर अपनी मातृभाषा लिखने की भी चेष्टा नहीं करते। यह दुर्भाग्य की बात है। क्या ही अच्छा हो यदि आप 'मातृभाषा-विषयक मनुष्य का कर्त्तव्य' या इसी तरह के किसी विषय पर लेख लिख कर इन लोगों को लज्जित करें।

विनयावनत

महावीरप्रसाद द्विवेदी"

द्विवेदी जी अपने लेखकों से भली भाँति परिचित रहते थे। कौन मनुष्य किस विषय का अच्छा लेखक बन सकता है, इसकी उन्हें अनोखी परख थी। नये कवियों की कविता लौटाते समय वे उनके दोष स्पष्टतया लिख देते थे, जिससे उन्हें भविष्य में अपनी उन्नति करने का सहारा मिल जाता था। यही नहीं, वे कवियों को सामयिक रुचि के विषय भी बतलाते थे और उन पर कवितायें लिखने के लिए उन्हें उत्साहित करते थे। पंडित केशवप्रसाद मिश्र अपने विषय में एक ऐसे ही प्रसंग का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

'यों ही दस वर्ष बीत गये। सन् १९१३ के दिसम्बर में आख़िर हिम्मत कर ही तो डाली। 'सुदामा' पर एक लम्बी तुकबंदी लिखकर उत्साह से द्विवेदी जी के पास भेज दी और मान लिया कि अब पंच बराबर होने में बस बस सिर्फ़ एक ही महीने की देर है। 'सरस्वती' में मेरी 'कविता' निकली कि मैं लेखकों में गिना गया।

"लेकिन द्विवेदी जी ने तुकबंदी लौटा दी। लिखा कि इसमें ये दोष हैं, इन्हें दूर करके किसी और पत्रिका में प्रकाशित करा लो। मैंने ठीक करके उसे 'मर्यादा' में भेज दिया और वह यथासमय प्रकाशित भी हो गई।

"हाँ, द्विवेदी जी ने मुझे उसी पत्र में यह भी लिखा था कि 'वर्तमान दुर्भिक्ष' पर एक अच्छी कविता भेजो तो मैं 'सरस्वती' में प्रकाशित कर दूँगा। इससे मेरा उत्साह भंग नहीं हुआ, मेरी पहली कविता के लौट आने से उसे थोड़ी-बहुत ठेस भले ही लगी हो।

"मैं रोम रोम से मा सरस्वती की वन्दना करने लगा। वरदे! शारदे! थोड़ी ही देर के लिए मुझ पर पसीज जा! मैं भी 'सरस्वती' का लेखक बन जाऊँ। मैंने तन-मन से दुर्भिक्ष पर कुछ पंक्तियाँ लिख डालीं। इनकी रचना में मुझे कुछ देर न लगी। फिर क्या था, तुरन्त ही द्विवेदी जी को भेज दीं। उन्होंने दाद दी और मैं उनकी दीक्षा से 'सरस्वती' का लेखक बन गया। थोड़े ही दिनों में द्विवेदी जी का यह पत्र आया कि "सरदार शहर राजपूताना के एक सज्जन तुम्हारी कविता से प्रभावित होकर तुम्हें ही स्वतः दुर्भिक्ष-पीड़ित समझकर कुछ सहायता करना चाहते हैं। मैंने उन्हें सच्ची बात लिख दी है।"

नये लेखकों को द्विवेदी जी विषय के साथ-साथ सहायक पुस्तकें भी बतलाया करते थे। कभी-कभी तो स्वयं भी पुस्तकें पास से या मोल लेकर दे दिया करते थे। हिन्दी के प्रसिद्ध कहानी-लेखक श्रीयुत विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक ने अपने सम्बन्ध में द्विवेदी जी के प्रोत्साहन का इस प्रकार वर्णन किया है—

"मैं एक बार उनके दर्शन को जुही पहुँचा। कुछ बातचीत हो चुकने के बाद द्विवेदी जी ने प्रश्न किया।

"क्या पढ़ते हैं?"

इस बार साहस करके कह दिया—"अधिकतर तो उपन्यास और गल्पें ही पढ़ी हैं।"

"अच्छा! कौन-कौन उपन्यास पढ़े हैं?"

मैंने अँगरेज़ी, हिंदी, बँगला तथा उर्दू के कुछ प्रसिद्ध उपन्यासों के नाम बताये।

"उपन्यास तो ख़ूब पढ़े हैं।"

"हाँ। और लिखने की रुचि भी कुछ इसी ओर है।"

"बड़ी अच्छी बात है। छोटी-छोटी कहानियाँ और गल्पें तो पढ़ी ही होंगी—वैसे ही लिखा कीजिए।"

"देखिए, प्रयत्न करूँगा।"

"द्विवेदी जी सिर झुकाकर मस्तक पर हाथ फेरने लगे। कुछ क्षणों के पश्चात् बग़ल से पानों की डिबिया उठाकर उसमें से दो पान निकाले और मुझे दिये। इसके पश्चात् बोले—"मैं एक मिनिट में आता हूँ।" यह कहकर उठे और कमरे के अन्दर चले गये। लौटकर एक पुस्तक हाथ में लिये हुए आये। चारपाई पर बैठकर बोले—"बँगला तो आप जानते ही हैं—रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गल्पें पढ़ी होंगी—उन्हीं की गल्पों का यह संग्रह है। इसमें से कोई एक गल्प जिसे आप सबसे अच्छी समझें, हिन्दी में अनुवाद करके मुझे दें—मैं उसे छापूँगा। लेकिन इतना ध्यान रखिएगा कि न तो पुस्तक में कहीं क़लम या पेंसिल का निशान लगाइएगा, न स्याही के धब्बे पड़ने दीजिएगा, न पृष्ठ मोड़िएगा।"

इसी सम्बन्ध में पंडित रामनारायण मिश्र अपना अनुभव इस प्रकार लिखते हैं—

"जब मैं स्कूलों का डिप्टी हुआ तब एक बार द्विवेदी जी का मेरे पास पत्र आया कि शिक्षा-विभाग की उस वर्ष की रिपोर्ट पर एक लेख लिख दो। मैं आश्चर्य से चकित हो गया। मुझे स्वप्न में भी यह ख़याल न था कि द्विवेदी जी स्वयं मुझे 'सरस्वती' के लिए लेख लिखने के लिए लिखेंगे। अस्तु, मैं सोच ही रहा था कि क्या लिखूँ कि मेरे पास इंडियन प्रेस से उक्त रिपोर्ट की एक प्रति डाक-द्वारा पहुँच गई। मैं समझ गया कि द्विवेदी जी ही ने उसे भेजवाया होगा। मैंने लेख भेजा और वह छप भी गया। मेरा उत्साह बढ़ गया और मैंने 'सरस्वती' में लिखना शुरू कर दिया। मेरे अनुकूल विषय वे बतलाते थे और तक़ाज़ा करते रहते थे। 'क़ैदी बालकों के स्कूल' 'संयुक्तप्रान्त में स्त्री-शिक्षा' 'प्रारम्भिक शिक्षा'. 'डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और शिक्षा', 'भारतीय शासन-प्रणाली', इत्यादि विषयों पर उन्हीं की प्रेरणा से, समय-समय पर, मैंने लेख भेजे थे।"

जिन लेखों को वे प्रकाशित करते थे प्रायः उन सभी पर पुरस्कार दिया करते थे। और उसके लिए भी लेखकों को बार-बार लिखने की आवश्यकता नहीं होती थी। पत्रिका प्रकाशित हुई और उन्होंने पुरस्कार का मनीआर्डर कराना शुरू किया।

वे अपने नये लेखकों को प्रोत्साहित करने के लिए ऐसे लेखों पर भी पुरस्कार दे देते थे जिनको अधिकांश द्विवेदी जी स्वयं लिखते थे। पण्डित लक्ष्मीधर वाजपेयी एक ऐसे ही अपने लेख के सम्बन्ध में लिखते हैं—"मेरे बारे में द्विवेदी जी का ख़याल बँध गया कि मैं महाराष्ट्र में रहता हूँ, अतः नाना फड़नवीस के संबंध

मैं 'सरस्वती' में एक अच्छा लेख दे सकता हूँ। इसके लिए उन्होंने आज्ञा दी। मैंने इस संबंध में अनेक पुस्तकें एकत्र कर के लेख तैयार किया। अनुभव कम था और मसाला अधिक, अतः लेख पूरे ५० पृष्ठ का तैयार हुआ। मैंने वह उनके पास भेज दिया। लौटती डाक से उन्होंने पत्र लिखा कि 'सरस्वती' के लिए लेख लिखा है या पोथा? ख़ैर, इसे छापूँगा।

"समय पर सरस्वती' आई और मैंने आश्चर्य और उत्सुकता-पूर्वक देखा कि नाना फड़नवीस का मेरा वह ५० पृष्ठ में लिखा लेख छपा हुआ है। लेख का सार तथा सिलसिला इतना उत्तम बँधा हुआ कि कहीं विश्रृंखलता मालूम ही नहीं दी। इतना ही नहीं, बल्कि लेख मेरे नाम से छपा हुआ है और दो रुपये पेज के हिसाब से १६) का मनीआर्डर भी पुरस्कार में मेरे पास एक हफ़्ते के अन्दर ही—आप ही आप—आ गया! मैं तो भौचक्का रह गया कि यह कैसा महान् पत्रकार है कि जो अपने छोटे-छोटे कृपापात्र लेखकों के प्रति इतना सजग रहता है!"

वे यह भी चाहते थे कि उनके लेखक उन्हीं की भाँति सदैव लिखा करें। हर महीने वे उन्हें पत्र भेज रिमाइन्ड करा दिया करते थे। पण्डित रूपनारायण जी पांडेय (माधुरी-सम्पादक) ने मुझसे कई बार यह बात कही है कि प्रतिमास द्विवेदी जी कविता भेजने के लिए उन्हें तीन-चार पत्र डाला करते थे। इसी प्रकार जो महाशय बहुत दिन तक 'सरस्वती' में कुछ न लिखते, उनसे वे जवाब भी तलब किया करते थे। बेचारा समय न मिलने का बहाना करता। परन्तु द्विवेदी जी इससे न सन्तुष्ट होते और उत्तर देते—"जी नहीं, यह सब बहाना है। तुम दृढ़ निश्चयी नहीं, समय मिलना न मिलना अपने हाथ में है। चाहो तो समय निकाल सकते हो।" बहुत से नवयुवक लेखक और कवि उनके

दर्शनों को जाया करते थे। उनसे मिलने पर द्विवेदी जी बड़ी प्रसन्नता और सहानुभूति प्रकट करते थे। फिर उन्हें उत्साहित करते हुए कहते थे—"तुम्हारे लेखों और पत्रों से तो यह मालूम पड़ता है कि पुराने लेखक हो, परन्तु अवस्था से तो अभी नवयुवक हो। लेखक चाहे जो कुछ उत्तर दे, परन्तु उसका हृदय प्रसन्नता से फूल जाता था और मन में सोचने लगता था कि द्विवेदी जी की लेखनी भी तो धोखा देती है। उनके लेख देखकर कौन व्यक्ति कह सकता है कि ये उन्निद्र रोग से पीड़ित और पारिवारिक बाधाओं से व्यथित हृदय के उद्गार हैं। कुछ नवयुवक लेखक उनके पास सिफ़ारिशें लेकर पहुँचते थे। द्विवेदी जी को उनसे बड़ी चिढ़ थी। वे प्रतिभा और चाव चाहते थे। जिस नवयुवक लेखक में वे सच्ची लगन, विस्तृत अध्ययन, सुन्दर शैली और सज्जनोचित संकोच देखते थे, उसका आधुनिक संपादकों की भाँति मज़ाक न उड़ाकर वे उसे उत्साहित करते थे। यदि उसमें दोष होते तो वे उसे गुरुवत् स्नेह और सहानुभूति के साथ समझाते थे। प्रायः ऐसे लेख उनके पास आते थे जिनमें काट-छाँट के बाद केवल लेखक का नाम रह जाता था, पर नये लेखकों को उत्साहित करने के लिए द्विवेदी जी प्रायः उनके लेख स्वयं फिर से लिखकर उन्हीं के नाम से छाप दिया करते थे। यों उन्होंने बहुत से लेखकों को क़लम पकड़ना सिखाया। बनारस के 'आज' के ख्यातनामा सम्पादक पण्डित बाबूराव विष्णु पराड़कर इस विषय में इस प्रकार लिखते हैं—

"द्विवेदी जी के पोस्टकार्ड का प्रथम दर्शन मुझे सन् १९०८ ईसवी में हुआ था। उन दिनों मैं कलकत्ते में 'हितवार्त्ता' का संपादन करता था। उसके कुछ लेखों से सन्तुष्ट होकर आपने प्रथम कार्ड में मुझे केवल आशीर्वाद दिया था। बाद के कार्डों में मेरी भाषा

की त्रुटियाँ दिखाई गई थीं - विषय के अनुरूप शैली न होने की बुराई की ओर मेरा ध्यान दिलाया गया था। उन दिनों मेरे सामने आदर्श था स्वर्गीय पंडित गोविंदनारायण मिश्र का, जिनकी गंभीर विद्वत्ता तथा प्राकृत और हिन्दी के साहित्यों का अध्ययन और मनन वस्तुतः अपूर्व था। पर पंडित गोविंदनारायण जी का गद्य कादंबरी का अनुकरण था और मैं भी उनका पदानुसरण करने का यत्न किया करता था। द्विवेदी जी को यह शैली पसन्द नहीं थी और अपने एक कार्ड में आपने यह लिख भी दिया था। वर्षों बाद मुझे द्विवेदी जी के इस कथन की सत्यता का अनुभव हुआ। मैं भी भाषा सरल और वाक्य छोटे करने का यत्न करने लगा। आज के कुछ लेख आपको बहुत पसन्द आये थे और जब जो लेख अच्छा मालूम हुआ, तुरन्त कार्ड लिखकर अपना सन्तोष प्रकट किया। कार्यक्षेत्र से अवसर ग्रहण करने के बाद भी मेरे जैसे एक साधारण पत्रकार पर भी ऐसी दयादृष्टि रखनेवाला आचार्य हिंदी को पुनः कब प्राप्त होगा?"

साथ ही उन्होंने 'सरस्वती' का स्टैण्डर्ड भी ऊँचा किया। आरम्भ में उनका उद्देश्य और आदर्श समझकर पण्डित रुद्रदत्त शर्मा ने टोका था—"हिन्दी में इतने उच्च कोटि के लेखक कहाँ मिलेंगे? पत्रिका का चलना कठिन है।" परन्तु द्विवेदी जी इससे निरुत्साह न हुए, प्रत्युत प्रेरणा और प्रोत्साहन-द्वारा उन्होंने कितने ही लेखकों और कवियों का स्वयं ही निर्माण कर दिया। यही नहीं, अन्य भाषा-भाषियों को भी हिन्दी और हिन्दी-साहित्य का प्रेमी और आदरकर्ता बना दिया। आज उनके बनाये हुए कई लेखक और कवि देश में आदर्श और रत्न माने जाते हैं और अपनी विद्वत्तापूर्ण तथा कलामय कृतियों से हमारे साहित्य को गौरवान्वित कर चुके हैं।

संपादन-कला और परिश्रम

द्विवेदी जी ऐसे-वैसे नहीं, सिद्धांतवादी और सिद्धांतपालक संपादक थे। जनता की रुचि का अध्ययन करके उन्होंने यह निश्चय किया था कि व्यर्थ के, अनुपयुक्त और अनुपयोगी लेखों व कविताओं को हम 'सरस्वती' में प्रकाशित न करेंगे। प्राय: वे अपने निश्चय पर डटे रहे। साधारणतया वे विरोध और स्पर्धा-संबंधी झगड़ों से दूर रहा करते थे। परंतु जब उन्हें कोई ललकारता था, उन पर या सरस्वती पर किसी प्रकार का आक्षेप करता था, तब वे भी चुप नहीं रहते थे। व्याकरण, विभक्ति, कविता की भाषा-विषयक आंदोलनों का इतिहास इस बात का प्रमाण है। इन दोषों से युक्त लेख या कविता को प्रकाशित करने के लिए वे कभी तैयार न होते थे।

साधारण व्यक्ति इसे जल में रह कर मगर से बैर करना कहेगा, पर एक कर्मवीर के लिए यह केवल दृढ़ता है। विरोध दोनों ही का होता है। अंतर यह रहता है कि साधारण सामाजिक प्राणी विवश होकर डर जाता है, पर कर्मवीर उसकी चिंता नहीं करता—उपेक्षा या अवहेलना की दृष्टि से देखकर केवल मुस्करा देता है।

इस दृढ़ता का एक परिणाम यह हुआ कि द्विवेदी जी के बहुत से विरोधी पैदा हो गये। कुछ ने तो स्वपक्ष या स्वनीति-संबंधी लेखों को इधर-उधर प्रकाशित कराया और कुछ इतना

आगे बढ़ गये कि उन्होंने द्विवेदी जी से नाराज़ होकर निजी पत्र-पत्रिकाओं को जन्म दिया। काशी से 'तरंगिणी' नाम की पत्रिका का जन्म ऐसे ही हुआ था। उसके संपादक द्विवेदी जी से नाराज़ हो गये थे। उनकी शिकायती कविता 'सरस्वती' में छपी है। पर द्विवेदी जी की दृढ़ता, संपादन-कला-संबंधी परिश्रम, आदि के कारण 'सरस्वती' का प्रचार दिन प्रति बढ़ता गया। उसकी सफलता देखकर अन्य पत्र-पत्रिकाओं को जन्म दिया गया।

भागलपुर से 'कमला' प्रकाशित हुई और प्रयाग से 'मर्यादा'। पहली तो शीघ्र ही बंद होगई, पर दूसरी पत्रिका कुछ दिनों तक अच्छी तरह प्रकाशित होती रही। उसको लेखक भी अच्छे मिले; 'सरस्वती' के ही कुछ लेखक उसमें प्रायः लिखा करते थे। उनके लेखों में गंभीरता, रोचकता और मधुरता का मिश्रण रहता था। इधर मेरठ से 'ललिता' नाम की पत्रिका प्रकाशित हुई। अन्य पत्रिकाओं ने तो 'सरस्वती' से स्पर्धा करने का असफल प्रयत्न ही किया, पर 'ललिता' इन सबसे आगे बढ़ गई—उसने अपने कवर पर ही 'सरस्वती' से टक्कर लेने की वात लिख डाली। इसी समय खँडवा से 'प्रभा' प्रकाशित हुई। यह पत्रिका भी अच्छी थी, पर पूरे साल भर भी न चल सकी। कुछ साल बाद वह फिर 'प्रताप'—कार्यालय, कानपुर से निकली; पर कुछ दिन बाद फिर बंद होगई। पत्रों में काशी से प्रकाशित होने वाला 'इन्दु' बहुत सजधज से निकलता था।

प्रायः इन सभी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन थोड़े समय बाद ही बन्द कर दिया गया; शायद ही किसी का जीवन ५-६ वर्ष से अधिक का हुआ हो। इसके दो कारण थे—पहला धनाभाव और दूसरा अध्यवसायी, परिश्रमी और कर्मवीर सम्पादक का न मिलना। यों पहला कारण प्रधान जान

पड़ता है, पर वास्तव में कर्तव्य और उत्तरदायित्व को समझने-वाला सम्पादक मिल जाने पर वह गौण हो जाता है। धन की समस्या 'सरस्वती' के सामने भी आई और बहुत दिन तक रही, पर यह द्विवेदी जी का ही दम था जो उसको लोकप्रिय बना सका। यद्यपि उनको आर्थिक सहायता भी मिल रही थी, तथापि जिस लगन से उन्होंने कार्य किया उसके सामने इस सहायता का विशेष मूल्य नहीं रह जाता।

'सरस्वती' को वे एक उत्कृष्ट पत्रिका बनाना चाहते थे और अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे एक वीर योद्धा की भाँति साहस और उत्साह से सतत परिश्रम करते रहे।

आरम्भ में प्रकाशित होने के लिए जो लेख आते थे उनमें भाषा, शैली, भावों की अस्पष्टता-सम्बन्धी अनेक दोष रहा करते थे। द्विवेदी जी विद्वान् थे और काम नया था। अतः आते ही उन्होंने दोष-पूर्ण लेखों को एक किनारे रख दिया। जान पड़ता है, उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि 'सरस्वती' में दोषों से रहित लेख ही प्रकाशित होंगे। बड़ी मुश्किल बात थी। इन दोषों से छुटकारा पा जाना एक आध महीने या साल का काम न था।

द्विवेदी जी के इस निश्चय से रुष्ट होकर या अन्य किसी कारण से 'सरस्वती' के तत्कालीन लेखकों ने द्विवेदी जी के सम्पादक होने के कुछ समय पश्चात् उसमें लेख लिखना ही बन्द कर दिया और द्विवेदी जी को मन माफ़िक अच्छे लेख न मिल सके। अतएव साल दो साल तक अधिकांश लेख उन्हें स्वयं ही लिखने पड़े। सम्पादकीय नोट, कवितायें, साधारण विभिन्न विषयों के लेखों की तो बात दूर, आख्यायिकायें और कहानियाँ तक उन्हें लिखनी पड़ती थीं। यह बात सन् १९०४

और १९०५ की है, जब वे अपने लेख कल्पित नाम से छपाया करते थे। शायद इस काल में केवल पण्डित गिरिजादत्त जी वाजपेयी के ही लेख उन्होंने प्रकाशित किये हैं—अन्य प्रायः सभी स्वयं लिखे हैं। १९०५ और १९०६ में उन्होंने पढ़ा बहुत है और नवीन विषयों से 'सरस्वती' के प्रत्येक अङ्क को सजाया है। इन दोनों वर्षों में लेखों की थोड़ी-बहुत सहायता उन्हें अवश्य मिलती रही। १९०७ और १९०८ में उन्हें फिर बहुत परिश्रम करना पड़ा। 'सद्धर्मप्रचारक', 'ललिता' आदि पत्रों से इस समय 'सरस्वती' की होड़ हो रही थी; समालोचना व भाषा-सम्बन्धी झगड़े रोज ही शुरू होते थे और उनका उत्तर देना आवश्यक था। परिणाम यह हुआ कि वे बीमार हो गये। १९१० में उन्हें पूरे वर्ष भर की छुट्टी भी लेनी पड़ी।

द्विवेदी जी के इन वर्षों में प्रकाशित सम्पादकीय तथा अन्य लेखों को पढ़कर हमें उनकी योग्यता और बुद्धिमत्ता का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही 'सरस्वती' में प्रकाशित अन्य सज्जनों के लेखों में भी यत्र-तत्र उन्हीं के व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। इसका कारण यह था कि प्रकाशनार्थ आये हुए सभी लेखों को वे बड़े ग़ौर से आद्योपान्त पढ़ा करते थे। भाषा, विराम-चिह्न, क्रम, अस्पष्टता तथा शैली विषयक दोषों को सुधारने में पहले वे दिन और रात एक कर देते थे और तब लेख को प्रकाशित करते थे। द्विवेदी जी 'सरस्वती' का सम्पादन जुही से करते थे। वे एक दिन भी इण्डियन प्रेस के आफ़िस में बैठकर काम करने नहीं गये। पर उनके समय में 'सरस्वती' की छपाई में बड़ी सावधानी रहती थी। द्विवेदी जी की सम्पादन-सम्बन्धी कुशलता की प्रशंसा करते हुए 'इण्डियन प्रेस' के वर्तमान स्वामी श्रीयुत हरिकेशव घोष लिखते हैं—

"यद्यपि अस्वस्थता के कारण 'सरस्वती' का संपादन वे जुही से करते थे, पर मुद्रकों को सदा यही अनुभव होता था मानो द्विवेदी जी सामने मौजूद हैं। इनके पास से प्रकाशनार्थ आई हुई सामग्री इतनी शुद्ध और स्पष्ट होती थी कि उनसे किसी बात को दुबारा पूछने की ज़रूरत शायद ही पड़ती थी। वे ग़ज़ब के प्रूफ़-संशोधक थे। शैली, स्पेलिङ्ग और विराम-चिह्नों की एकरूपता का उन्हें बड़ा ध्यान रहता था। छापे की छोटी-से-छोटी भूल भी उन्हें असह्य थी"।

नियमों में उन्होंने स्पष्ट लिख रक्खा था कि 'सम्पादकीय-संशोधन-कार्य में हस्तक्षेप करनेवाली कोई भी शर्त, किसी भी लेखक की, स्वीकार नहीं की जा सकती। 'सरस्वती'-सम्पादक को लेखों के सुधारने का पूर्ण अधिकार है।' जो महाशय इस विषय में कुछ हस्तक्षेप करते उनका लेख द्विवेदी जी उसी क्षण वापस कर देते थे। एक पी-एच० डी० महाशय* ने एक बार एक लेख छपने के लिए भेजा। बात आज से लगभग ३० वर्ष पहले की है। उस समय आजकल की तरह बी० ए०, एम० ए० मारे-मारे नहीं फिरते थे। डिगरीदार लेखकों के लेखों को सम्पादक बड़े ही सम्मान के साथ पत्र-पत्रिकाओं में स्थान देते थे। पी-एच० डी० महाशय के लेख से भी 'सरस्वती' का मान ही होता—स्वयं द्विवेदी जी ने भी इसको समझा होगा, पर लेख के साथ जो पत्र लेखक महोदय ने भेजा था उसका आशय यह था कि कृपया इसमें किसी प्रकार का कोई परिवर्तन या सुधार न करें। बस, द्विवेदी जी ने वह लेख वापस कर दिया और लिख दिया कि—'आवश्यकतानुसार जो संशोधन आदि होंगे, किये ही जाँयगे। इस विषय में मैं किसी प्रकार की शर्त नहीं मान सकता।'

---

* द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रन्थ पृ० ५४३

द्विवेदी जी के इस निश्चय ने उनके कई प्रगाढ़ मित्रों को रुष्ट कर दिया; पर द्विवेदी जी अपने निश्चय पर डटे रहे। स्वर्गीय पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने 'सतसई-संहार' नामक लेख-माला छपने के लिए भेजी। द्विवेदी जी को उनकी शैली पसन्द न आई और उन्होंने उसमें परिवर्तन करना चाहा। शर्मा जी, इसके विपरीत, यह चाहते थे कि वह लेखमाला ज्यों-की-त्यों अविकल रूप में प्रकाशित हो—वाक्य या शब्द तो क्या उसमें कहीं एक अक्षर भी न बदला जाय। अतः द्विवेदी जी ने उसको छापना अस्वीकार कर दिया और वह लेखमाला लगभग एक वर्ष तक 'सरस्वती' कार्यालय में पड़ी रही। जब द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के सम्पादन से, बीमार हो जाने पर छुट्टी ले लीं तब पण्डित देवीप्रसाद शुक्ल बी०ए० के सम्पादन-काल में वह प्रकाशित हो सकी।

सम्पादन-सम्बन्धी इस दृढ़ता के कारण द्विवेदी जी से बहुत से व्यक्ति रुष्ट हो गये और उन्हें अभिमानी और अशिष्ट समझने लगे। पर द्विवेदी जी उनसे नाराज़ न होकर उन्हें समझा-बुझा देना अच्छा समझते थे। प्रायः उनसे वे विनीत स्वर में कहते—'भाई साहब, आख़िर आपको सर्वज्ञता का तो दावा है नहीं, हम सभी भूल कर सकते हैं। मैं भूल करूँ और आप बता दें तो मैं कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करूँगा।' उनकी यह विनम्रता कुछ लोगों को मुग्ध भी कर लेती थी। जिस व्यक्ति को योग्यता, ज्ञान, पद आदि का अभिमान हो जाता है वह दूसरों के ज़रा से विरोध पर उनका दुश्मन हो जाता है। पर साहित्यिक-क्षेत्र में ऐसे लोग प्रायः उन्नति नहीं करते। यहाँ तो ऐसे व्यक्तियों की आव-श्यकता है जो जीवन भर अपने को विद्यार्थी समझें और स्वाध्याय में लगे रह कर गुरुजनों के अनुभव-जन्य ज्ञान से

लाभ उठाने के लिए लालायित रहें। द्विवेदी जी के समय में भी बहुत से व्यक्ति ऐसे थे जिन्होंने उनकी महत्ता को समझा था। वे द्विवेदी जी के संशोधन के लिए लालायित भी रहते थे। सुनते हैं, एक बार कवि विशाखदत्त-प्रणीत 'मुद्राराक्षस' नामक नाटक पर एक लेख द्विवेदी जी के पास प्रकाशित होने के लिए आया। उसे उन्होंने छापना स्वीकार कर लिया और यथोचित संशोधन करके उसे प्रेस में भेज दिया। लेख के अंत में द्विवेदी जी ने एक ऐसा वाक्य लिख दिया जिससे लेख में सजीवता-सी आगई। कंपोज़ होने के पहले भाग्यवश लेखक को वह संशोधित लेख देखने को मिल गया। उस एक वाक्य को देखकर लेखक महाशय बहुत ही संतुष्ट हुए और उन्होंने स्वीकार किया कि उसका होना अत्यंत आवश्यक था; वही उस लेख की जान है। इसी प्रकार उन्नति करने की आकांक्षा रखनेवाले अन्य व्यक्ति भी उनके संशोधनों का मूल्य समझते थे। श्रीयुत लक्ष्मण नारायण गर्दे ने लिखा है—

"सन् १९११-१२ में मैंने काशी से महात्मा टालस्टाय के एक लेख का अनुवाद 'सरस्वती' में शुद्ध करके छापने के लिए भेजा था। वह लेख उन्होंने (द्विवेदी जी ने) लौटा दिया; पर मुझे इसका दुःख नहीं हुआ। कारण, लौटे हुए लेख में द्विवेदी जी के हाथ के वे अक्षर मुझे मिले, जो अन्यथा नहीं मिल सकते थे; वह भाव मिला जो अन्यथा नहीं मिल सकता था; वे दर्शन मिले, जो अन्यथा नहीं मिल सकते थे। यह बहुत बड़ा लेख था। इसके कई पन्नों पर द्विवेदी जी के हाथ का करेक्शन है। क्या सुंदर करेक्शन है, तबीयत फड़क उठती है; और उन्हीं के हाथ के अक्षर हैं। पर, करेक्शन करते-करते दिमाग़ परेशान हो जाता है; क्योंकि टालस्टाय के अत्यंत सूक्ष्म विचार, और भाषा ऐसे लेखक की, जो अभी लेखक

नहीं, न जाने क्या समझ कर लिख डाला है! वह करेक्शन देख कर प्रसन्नता हुई, झुँझलाहट-सी देख कर मज़ेदारी भी आ गई; और फिर लेख के ऊपर यह राय पड़ी कि 'यह लेख समझ में नहीं आता है, इसलिए लौटा दिया जाता है।' यह राय क्या थी, उस अनुवाद को इज़्ज़त देना था। वह बड़ों की विनय है।" —हंस, अभिनंदनांक (अप्रेल १९३३, पृ० ३-४)

बहुत से लेखक इसी प्रकार संशोधनों से लाभ उठाया करते थे। एक स्थान पर स्वर्गीय श्री प्रेमचन्द जी ने भी लिखा है—
"जब मैंने नया-नया हिन्दी लिखना सीखा था, 'सरस्वती' में अपनी कहानियाँ भेजा करता था, तब द्विवेदी जी के किए हुए संशोधनों से लाभ उठाकर भविष्य में शुद्ध—हिन्दी लिखने का प्रयत्न करने के लिए, प्रत्येक कहानी की दो प्रति करके मैं एक अपने पास रख लेता था और कहानी के प्रकाशित होने पर बड़ी सावधानी के साथ, मूल से मिलाकर संशोधनों को समझने का प्रयत्न करता था कि अमुक शब्द के स्थान पर अमुक शब्द क्यों रक्खा गया है और इस परिवर्तन से कहानी में कोई विशेषता आई है या नहीं।" 'पंच-परमेश्वर' शीर्षक कहानी उन्होंने 'पंचों में ईश्वर' के नाम से प्रकाशित होने के लिए भेजी थी। इस शीर्षक के बदले जाने से जो चमत्कार और नवीनता आगई उसे प्रेमचंद जी ने भी स्वीकार किया है।

यह तो हुई गद्य, लेख, कहानी, आदि में किये हुए संशोधनों की बात, पद्य का भी उनको इसी प्रकार सम्पादन करना पड़ता था। लेकिन पद्य का सुधार करना इतना सरल नहीं था, जितना गद्य का। पद्य में छन्द, भाषा, भाव, प्रवाह, रस आदि सभी का ध्यान रखते हुए एक शब्द भी बदल देना

बड़े साहस और उत्तरदायित्व का कार्य है। पर द्विवेदी जी को एक-आध शब्द नहीं, पद के पद और कभी-कभी पूरे-पूरे छन्द निकालने या बदलने पड़ते थे। हिन्दी के ख्यातनामा कवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी जी के संशोधनों के विषय में इस प्रकार लिखते हैं—

"नये वर्ष की 'सरस्वती' आई नई ही सजधज से। अब उसका रूप-रङ्ग और भी सुन्दर हो गया। देखकर जी ललच गया। परन्तु जिस बात की आशा भी न थी उस 'हेमंत' को भी वह ले आई। मेरा रोम-रोम पुलक उठा। जिस रूप में मैंने उसे भेजा था उससे दूसरी ही वस्तु वह दिखाई पड़ती थी—बाहर से ही नहीं, भीतर से भी। पढ़ने पर आनंद आश्चर्य में बदल गया। इसमें तो इतना संशोधन और परिवर्द्धन हुआ था कि यह मेरी रचना ही नहीं कही जा सकती थी। कहाँ वह कङ्काल और कहाँ यह मूर्त्ति! वह कितना विकृत और यह कितनी परिष्कृत। फिर भी शिल्पी के स्थान पर नाम तो मेरा ही छपा है। मुझे अपनी हीनता पर लज्जा आई और पंडित जी की उदारता देखकर श्रद्धा से मेरा मस्तक झुक गया। इतना परिश्रम उन्होंने किया और उसका फल मुझे दे डाला। यह तो मुझे पीछे ज्ञात हुआ कि मेरे ऐसे न जाने कितने लोग उनसे इस प्रकार उपकृत हुए हैं। नाम की अपेक्षा न रखकर काम करना साधारण बात नहीं, परन्तु काम आप करके नाम दूसरे का करना और भी असाधारण है। पंडित जी अपने सम्पादकीय जीवन भर यही करते रहे। उनके तप और त्याग का मूल्य आँकना सहज नहीं। हिंदी के प्रभविष्णु कवि स्वर्गीय नाथूराम शंकर शर्मा ने एक पत्र में मुझे लिखा था—"संपादक जी बहुधा कविताओं में संशोधन भी कर देते हैं। 'केरल की तारा' नाम की कविता में मैंने लिखा था—

पीठ पर टपका पड़ा तो आँख मेरी खुल गई
चार बूँदों से मिले मन की लँगोटी धुल गई।

इसमें नीचे की पंक्ति उन्होंने बदलकर छापी—

विशद बूँदों से मिले मन मौज मिश्री घुल गई।''

बात यह है कि भावावेश में साधारण कवि प्रायः अपने को भूल कर विषय के बाहर की बातें लिख जाता है। कविता में से इन्हें हटाकर सारे पद्य को सुसंबंधित कर देना साधारण कार्य नहीं—कविता में परिवर्तन कर देने पर भी रस, प्रवाह, भाषा आदि में किसी प्रकार का दोष न आने देने के लिए बड़ी कुशलता और प्रचुर अभ्यास की अपेक्षा है। द्विवेदी जी ने इस कार्य को भी सफलता के साथ सम्पन्न किया। एक बार एक प्रसिद्ध कवि की रचना से उन्होंने साढ़े तीन छन्द (१४ पंक्तियाँ) निकालकर अपनी ओर से आधा छन्द (दो चरण) जोड़ दिया और विशेषता यह कि भाषा में किसी प्रकार का अंतर न आया, विचारों का तार न टूटा और छन्द में कहीं व्यतिक्रम न पड़ा। यह थी सम्पादन-कला और कुशलता। इसके लिए द्विवेदी जी को बहुत ही अधिक परिश्रम करना पड़ता था; चौबीसों घण्टे वे व्यस्त रहते थे। सम्पादन-कार्य के आगे उन्होंने कभी दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा, वरन इसके लिए अपने स्वास्थ्य का—अँगरेज़ी कवि मिल्टन की भाँति अपनी नेत्र-ज्योति का—बलिदान कर दिया; परन्तु कभी दूसरों के आगे एक बार भी इसकी शिकायत नहीं की। १८ वर्ष के सम्पादकीय युग में केवल एक बार ही ऐसा अवसर आया था जब द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के दो अङ्क संयुक्त निकाले थे। साथ ही प्रत्येक अङ्क का प्रत्येक लेख सुसम्पादित रहता था और इनका सम्पादन भी इतनी कुशलता से किया जाता था

कि ऐसा जान पड़ता था मानो सभी लेख एक ही क़लम से लिखे गये हों। वास्तव में इस सम्पादन-कौशल, परिश्रम और धैर्य के विषय में इतना ही कहकर चुप हो जाना पड़ता है कि 'न भूतो न भविष्यति।'

दूसरे शब्दों में—अपने समय के या आज कल के कुछ सम्पादकों की भाँति नाम या डिगरियाँ देख कर ही द्विवेदी जी लेख नहीं छाप दिया करते थे। वे लेख का विषय और उसकी नवीनता देखते थे; लेखक की विद्वत्ता, अनुभव और अभ्यास देखते थे और 'सरस्वती' में ऐसे ही लेखकों की कृतियों को स्थान देते थे जो उनकी इस कसौटी पर खरे उतरते थे। फलतः 'सरस्वती' की बाह्य सुन्दरता तो बढ़ी ही, साथ ही उसके आंतरिक सौंदर्य में भी, द्विवेदी जी की प्रौढ़ लेखनी-द्वारा प्रसूत प्रांजल और विचार-पूर्ण लेखों के कारण अतिशय वृद्धि हुई। कालांतर में, श्रीयुत कृष्णदेव प्रसाद गौड़, एम० ए०, एल० टी० के शब्दों में—"साहित्य-पिपासु जिह्वा 'सरस्वती' की रसमयी सामग्री की चाह में बावली रहती थी; 'सरस्वती' हिन्दी और हिन्दी 'सरस्वती' समझी जाती थी। अन्य प्रांतीय भाषा-भाषी पत्र-पत्रिकाओं पर भी उसका रोब जम गया; हिन्दी बोलनेवाले भी उन्नत मस्तक होकर कहने लगे—हमारे यहाँ भी एक पत्रिका है। भाषा और शैली का आदर्श भी उन्होंने ऐसा बना रक्खा था कि जिसका लेख 'सरस्वती' में छप जाता, वह अपने को लेखक समझने लगता था; उस पर अच्छे लेखक होने की छाप बैठ जाती थी। वस्तुतः द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' को सरस्वती बना दिया।"

आगे हम द्विवेदी जी द्वारा संशोधित एक लेख की अविकल प्रतिलिपि देते हैं जिससे पाठकों को पता लगेगा कि वे भाषा

तथा भावों का संशोधन कैसी सावधानी से करते थे और उनकी संशोधन-शैली किस प्रकार की थी। मूलपृष्ठ में लेख है और शंका-स्थलों पर नम्बर लगाकर हाशिये पर द्विवेदी जी के संशोधन तथा रिमार्क दिये हैं। यह लेख पंडित देवीदत्त शुक्ल का लिखा हुआ है जिसे उन्होंने द्विवेदी जी की संशोधन-शैली का परिचय देने के लिए, इसी रूप में 'माधुरी' में छपाया था।

एक संशोधित लेख

उर्दू कविता पर एक दृष्टि

+सैयद रास मसऊद ने विलायत में बैठे-बैठे एक लेख उर्दू-कविता के विषय में लिखा। फिर वहीं इँगलैंड में एक सामयिक पत्र में उसे प्रकाशित कराया। इस बात को कुछ समय हुआ। लेख काम का है। अतएव उसका आशय नीचे प्रकाशित किया जाता है—

(१) विदेश की

(२) हमें आश्चर्य होता है

जब हम यहाँ इँग्लैंड में अँगरेजों को अर्वाचीन (१) देशी भाषाओं के साहित्य की ओर विशेष रूप से ध्यान देते हुए नहीं देखते तब (२) हम बड़े चकित होते हैं। हमारे देशी साहित्य के प्रति

अँगरेज़ लोगों की इस उदासीनता के कारणों में से मुख्य कारण यह है कि जो अँगरेज़ भारत में बरसों नौकरी पर रहते हैं (३) वे यहाँ देशी भाषा के ज्ञान में कोरे ही लौटते हैं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि अँगरेज़ों और भारतवासियों के बीच और किसी बात में उतना भेद नहीं है (४) जितना कि ज्ञान सम्बन्धी साधनों के प्रति उदासीन रहने में (५)। और दुर्भाग्य से यह भेद दिन (६) दिन बढ़ता ही जा रहा है। भारत में अगणित भाषाएँ (७) हैं। (८) इनमें उर्दू एक महत्त्वपूर्ण भाषा है। इसका कारण यह है कि उसकी उत्पत्ति का सम्बन्ध संस्कृत से भी वैसा ही है जैसा कि अरबी और फ़ारसी से। अब वह केवल मुसलमानों ही की ज़बान नहीं रही, लाखों हिन्दुओं का भी उसपर अधिकार है। (९) हिन्दू और मुसलमानों का संमिश्रण स्थापत्य (१०) विद्या में भी विद्यमान है। इसका उदाहरण आगरे का ताजमहल है। (११) साहित्यिक संमिश्रण कविता में तो प्रकट ही है। यद्यपि (१२) मुसलमान आक्रमणकारियों (१३) तथा विजेताओं के सैनिकों के लश्कर से उर्दू उत्पन्न हुई है तथापि उसकी (१४) ऐसी भारी उन्नति हो गई है कि (१५) वह

(३) वे भी वहाँ की भाषा के ज्ञान से
(४) ×
(५) है।
(६) पर
(७) यें (८) उ
(९) हिन्दुओं
(१०) अर्थात् गृह-निर्माण
(११) साहित्य-विषयक (१२) आ-दिम (१३) ×
(१४) अब इतनी
(१५) उसका

(१६) इससमय विशेष श्री संपन्न	आज एक उत्तम साहित्य (१६) प्रवर्तन करने में समर्थ है और उसने भारत की अन्यान्य जीवित भाषाओं के बीच अपने लिए मुख्य स्थान प्राप्त कर लिया है। उसकी उत्पत्ति के विचार से यह बात स्वाभाविक थी कि उसके पहले के कवि
(१७) जन	(१७) गण फारसी कविता का अनुकरण करते थे। और यद्यपि इस अनुकरण से उन्होंने भाव व्यक्त करने की शक्तियों को उन्नत किया था तो भी वे लोग उसे एक भाषा का रूप तथा पार्थक्य-सूचक विशेषताएँ प्रदान नहीं कर सके। यह स्वरूप तो उसे बाद को प्राप्त हुआ।
(१८) यें	उन पुराने कवियों की रचनाएँ (१८)
(१९) की कल्पनाओं	उसी प्रकार (१९) के काल्पनिक तथा
(२०) ×	(२०) भावयोग की भावनाओं से परिपूर्ण हैं जैसा कि फारसी का साहित्य है। निस्संदेह एक समय फारसी कविता का इतना अधिक अनुकरण किया गया था
(२१) ज्ञाता	कि उर्दू-साहित्य का कोई भी (२१) पाठक इस बात को जान सकता है और बता भी सकता है कि किस कवि ने फारसी के किस कवि का अनुकरण करने का प्रयत्न किया है। इन मिथ्या आदर्शों के कारण
(२२) जटिलता के पाश में फँसी	उर्दू-कविता बहुत समय तक (२२) कठिन तथा मर्यादित रही। यद्यपि

(२३) उस समय के भी कुछ कवियों की रचनाओं में हृदयहारी भाव पाये जाते हैं।

(२४) किसी ने भी

(२५) भरे हुए

(२६) वे मूल्यवान

(२७) उनका

(२८) ग़ालिब उस समय हुए थे

(२९) वस्तुयें

(३०) और दुःख के व्यंजक

(३१) अच्छी

(३२) उन्होंने अपने मन को दार्शनिक विचारों के स्रोत में

(२३) कुछ कवियों ने चमत्कारी भाव प्रकट किये थे, किंतु मौलिकता की ओर (२४) ध्यान नहीं दिया। उस समय के कवियों में महाकवि ग़ालिब का बड़ा नाम है। उनके पद्यों में केवल शब्द-वैचित्र्य तथा रूपकालंकार ही नहीं है, किंतु वे सुंदर तथा गंभीर भावों से (२५) ओत-प्रोत हैं। वे पद्य हमारी पसंद के हों चाहे न हों पर (२६) उनमें दृढ़ता अवश्य है। हम पर (२७) उस दृढ़ता का प्रभाव पड़ता है।

(२८) उनकी कविता का मुख्य स्वर सर्वा शुभवाद है। उनका समय वह था जब पुरानी (२९) वस्तुएँ समय के प्रवाह से टूटफूटकर टुकड़े-टुकड़े हो रही थीं और अंतिम मुग़ल-सम्राट् बहादुरशाह बंदी बनाकर रंगून भेजे जा चुके थे। उसी समय ग़ालिब ने मार्मिक पीड़ा (३०) तथा दुःख-सूचक अपने ख़ास विचार जगत् के सामने कविता के रूप में व्यक्त किये। मुग़ल-सम्राट् के पतन के साथ उन्होंने उन सब बातों को अंतर्धान होते देखा जिनको वे (३१) श्रेष्ठ तथा स्वच्छ समझते थे। (३२) वे किस तरह बार-बार अपने आपको अपने मस्तिष्क के दार्शनिक विचारों में गर्क

(१६) इससमय विशेष श्री· संपन्न

(१७) जन

(१८) यें

(१९) की कल्पनाओं

(२०) ×

(२१) ज्ञाता

(२२) जटिलता के पाश में फँसी

आज एक उत्तम साहित्य (१६) प्रवर्तन करने में समर्थ है और उसने भारत की अन्यान्य जीवित भाषाओं के बीच अपने लिए मुख्य स्थान प्राप्त कर लिया है। उसकी उत्पत्ति के विचार से यह बात स्वाभाविक थी कि उसके पहले के कवि (१७) गण फारसी कविता का अनुकरण करते थे। और यद्यपि इस अनुकरण से उन्होंने भाव व्यक्त करने की शक्तियों को उन्नत किया था तो भी वे लोग उसे एक भाषा का रूप तथा पार्थक्य-सूचक विशेषताएँ प्रदान नहीं कर सके। यह स्वरूप तो उसे बाद को प्राप्त हुआ।

उन पुराने कवियों की रचनाएँ (१८) उसी प्रकार (१९) के काल्पनिक तथा (२०) भावयोग की भावनाओं से परिपूर्ण हैं जैसा कि फारसी का साहित्य है। निस्संदेह एक समय फारसी कविता का इतना अधिक अनुकरण किया गया था कि उर्दू-साहित्य का कोई भी (२१) पाठक इस बात को जान सकता है और बता भी सकता है कि किस कवि ने फारसी के किस कवि का अनुकरण करने का प्रयत्न किया है। इन मिथ्या आदर्शों के कारण उर्दू-कविता बहुत समय तक (२२) कठिन तथा मर्यादित रही। यद्यपि

(२३) कुछ कवियों ने चमत्कारी भाव प्रकट किये थे, किंतु मौलिकता की ओर (२४) ध्यान नहीं दिया। उस समय के कवियों में महाकवि ग़ालिब का बड़ा नाम है। उनके पद्यों में केवल शब्द-वैचित्र्य तथा रूपकालंकार ही नहीं है, किंतु वे सुंदर तथा गंभीर भावों से (२५) ओत-प्रोत हैं। वे पद्य हमारी पसंद के हों चाहे न हों पर (२६) उनमें दृढ़ता अवश्य है। हम पर (२७) उस दृढ़ता का प्रभाव पड़ता है।

(२३) उस समय के भी कुछ कवियों की रचनाओं में हृदयहारी भाव पाये जाते हैं।
(२४) किसी ने भी
(२५) भरे हुए
(२६) वे मूल्यवान (२७) उनका

(२८) उनकी कविता का मुख्य स्वर सर्वा शुभवाद है। उनका समय वह था जब पुरानी (२९) वस्तुएँ समय के प्रवाह से टूटफूटकर टुकड़े-टुकड़े हो रही थीं और अंतिम मुग़ल-सम्राट् बहादुरशाह बंदी बनाकर रंगून भेजे जा चुके थे। उसी समय ग़ालिब ने मार्मिक पीड़ा (३०) तथा दुःख-सूचक अपने ख़ास विचार जगत् के सामने कविता के रूप में व्यक्त किये। मुग़ल-सम्राट् के पतन के साथ उन्होंने उन सब बातों को अंतर्धान होते देखा जिनको वे (३१) श्रेष्ठ तथा स्वच्छ समझते थे। (३२) वे किस तरह बार-बार अपने आपको अपने मस्तिष्क के दार्शनिक विचारों में गर्क

(२८) ग़ालिब उस समय हुए थे
(२९) वस्तुयें
(३०) और दुःख के व्यंजक
(३१) अच्छी
(३२) उन्होंने अपने मन को दार्शनिक विचारों के स्रोत में

करते हैं तथा उस दुःख को जो सदा उनके दिल को चीरता रहता था इस तरह विस्मृत करते हैं यह देखना सच-मुच मन को बड़ा अच्छा लगता है। अँगरेजों के आगमन तथा नये रीति-रिवाजों के प्रचलन को वे उस (३३) पुरानी समाज की मृत्यु की पूर्व-सूचना समझते हैं जिस (३४) के प्रति उनका (३५) बड़ा अनुराग (३६) थे और जिसके वे स्वयं ही भूषण थे। वे अपनी कविता में उस पुरानी स्थिति (३७) की लौटाने की चेष्टा करते हैं* और इस प्रसङ्ग में जो पद्य कहे हैं वे (३८) अत्यन्त ही करुणा रस पूर्ण तथा सुन्दर हैं। "एक (३९) मात्र बची हुई (४०) वस्तु मुझे उस मण्डली की याद दिलाती (४१) है जो शाम को बैठकों में (४२) एकत्रित होती थी। वह वस्तु (४३) बत्ती (४४) है। हाय! वह भी अपने आप जल गई।"

यह (४५) उपर्युक्त भावार्थ उस पद्य का है जिसको उन्होंने स्वाभाविक भाषा में रचा है। दूसरे स्थान में वे अपने उस (४६) दुःख को (४७) जो उनके हृदय में भरा हुआ था और जिसके कारण सांसारिक वस्तुओं की तृष्णा उनके चित्त से दूर हो गई थी, इस तरह व्यक्त करते हैं। (४८)।

निमग्न किया है और अपनी मर्म-कुंतक व्यथाओं को विस्मृति के गर्त में डाल देने की चेष्टा की है। उनकी इस कविता का असर मन पर बहुत अधिक पड़ता है। (३३) पुराने। (३४) पर। (३५) × (३६) था।

(३७) को।

*।

(३८) करुण रस से परिपूर्ण और बड़े सुन्दर हैं। देखिए, एक शेर में वे कहते हैं—(३९) वस्तु अब तक (४०) थी जो। (४१) थी (४२) त्र (४३) थी (४४) ×

(४५) भाव

(४६) हार्दिक

(४७) ×

(४८)—

"(४६) सब नहीं, हम लोगों के पास (५०) हाय, केवल कुछ ही गुले लाल तथा गुलाब के रूप में आये हैं (५१)

"(५२) हे भगवन्, (५३) कुछ लोगों के मुख कैसे सुन्दर रहे होंगे जो अब (५४) धूल में (५५) नीचे दबे छिपे पड़े हैं।"

परन्तु ग़ालिब भूतकाल के कवि हैं। लोग उनकी कविताएँ इसी दृष्टि से नहीं पढ़ते कि वे प्राचीन कवि की (५६) रची हुई हैं। उनकी रचनाएँ❀ भारत में उसी दृष्टि से पढ़ी जाती हैं जैसे कि यहाँ (५७) (इँग्लेंड में) मिल्टन की (५८) हाँ यह (५६) बात ठीक है कि नई सन्तान को उनकी कविताओं में अर्वाचीन मानव-समाज की (६०) मिश्रित अभिलाषाओं के भावों का दिग्दर्शन नहीं होता।

जब से भारत का पाश्चात्य (६१) जगत् के साथ सम्बन्ध हुआ है तब से उर्दू-साहित्य में नये-नये प्रभाव आप ही आप पड़ने लगे हैं। वह पुरानी कविता जिसका आदर्श फारसी कविता थी आध्यात्मिक तथा प्रेम के भावों से परिपूर्ण रहती थी अब क्रमशः निर्बल पड़ने लगी, यहाँ तक कि विगत शताब्दी के ८०वें वर्ष में उसकी इतिश्री हो गई। महाकवि हाली ने खुल्लम-खुल्ला उसके विरुद्ध कह कर उसका प्रभाव नष्ट कर डाला।

(४६) हाय! (५०) ×
(५१), सब नहीं।
(५२) × (५३) उनमें से
(५४) नीचे (५५) ×
(५६) हैं × यें
(५७), इँगलेंड में,
(५८)। (५६) × (६०) क्या मतलब? (६१) जगत एक ही है। उसमें उत्तरी, दक्षिणी, भाग करना जबरदस्ती है। पाश्चात्य देश क्यों न लिखें।

(१) ?

(२) यह भी कोई मुहावरा है ?

(३) इसके परिणाम का स्वरूप

(४) हुआ

(५) ?

(६) पहुँच

हाली नये भावों के प्रचारक हैं। (१) युवा काल में वे ग़ालिब के भक्त थे। उन्होंने ख़ुद ग़ालिब की शैली का वर्षों तक अनुकरण किया था। जब वे सर सैयद अहमद ख़ाँ के प्रभाव में आगये और जब उन्होंने अपने आपको दिलोजान से (२) उस लड़ाई में भिड़ा दिया जो उस समय नये विचार वालों और पुराने विचार वालों के बीच छिड़ी हुई थी। (३) इसका परिणाम-स्वरूप जातीय महाकाव्य मुसद्दस-हाली सन् १८८० में प्रकाशित (४) हो गया।

उर्दू साहित्य में यह कविता अपने ढंग की पहली है। इस महाकाव्य ने हमारी भाषा के साहित्य के इतिहास में एक नये (५) युग की मनादी बजवा दी। इसने उस जातीय कविता की नींव डाली जो इस समय हमारे देश में बल पकड़ रही है। हाली का संदेश देश के एक छोर से दूसरे छोर तक (६) गूँज गया। भारत के मुसलमानों पर उसने जो प्रभाव डाला है उसे एक प्रसिद्ध भारतीय आलोचक के मुँह से सुनिए। आलोचक महोदय कहते हैं:—

"कवि के तहेदिल की वह आवाज़ फूट निकली जो पहले कभी न सुनी गई थी। वह ऐसी सुन्दर, ऐसी प्रभावोत्पादक,

(७) और

ऐसी करुणाजनक, ऐसी उत्तेजक (७) ऐसी सच्ची कवित्वपूर्ण है कि उसने मुसलमान समाज के अहदियों तक को अपनी निद्रा से चौंका दिया।

मैंने सिद्धांतहीन, धार्मिक तथा भ्रातृत्व के भावों से शून्य और विषयासक्त मनुष्य देखे हैं। ये ऐसे लोग हैं जो अपने भोग-विलास के कारण दुःख शब्द का उच्चारण तक सुनना गवारा नहीं कर सकते और यदि किसी गायक ने इन लोगों के सामने कोई दुःखव्यंजक पद गा दिया तो उसकी खैर न समझिए। अपमान-सूचक शब्दों से वह तिरस्कृत कर दिया जायगा। परन्तु ये ही लोग मुसद्दस के पढ़े जाने पर एतराज़ नहीं करते और जब तक उसका पढ़ना जारी रहता है तब तक ये लोग बैठे रोया करते हैं।

मैंने अपने देश के अन्य धर्मावलम्बियों को इसके सुनने से अश्रुपात करते देखा है। और कैसा अश्रुपात जो हृदयगत दुःख के कारण स्वतः प्रवृत्त हुए थे (८) और सच्चे थे।"

(८) अतएव

प्राच्य में कविता अब तक भी हम लोगों के लिए एक जीवनी शक्ति है और हम उन भावों को व्यक्त करने में ज़रा भी लज्जित नहीं होते जो वह उत्तेजित करती है।

(९) इस्लाम के उदय तथा उसके पराभव की कथा का

(१०) किया गया है।

(११) ×

(१२) ×

(१३) हमारी

(१४) हमारी आत्मा

(१५) ऐसा कोई

(१६) ?

(१७) धन्य यह भाषा! इसे लिख कर पढ़ा भी नहीं।

पं० देवीदत्त,

यह भाषा बड़ी खराब है। सरल लिखना सीखो और बामुहावरा भी। वह लिखना किस काम का जो ठीम-ठीक समझ ही न आवे, जिसमें कुछ रस या प्राण ही न हो। बनावटी भाषा न लिखनी चाहिए। इसे दुहरा कर

(९) इस्लाम का उदय तथा उसके पराभव की कथा इस महाकाव्य में उल्लेख (१०) की गई है। कवि ने इस विषय को अपनी आत्मा के सारे पवित्र उद्वेग के साथ चित्रित किया है। उन्होंने अपने भावों को बलिष्ठ जोरदार और सुंदर भाषा में प्रकट किया है। (११) उन्होंने उन सारे दुःखों, उन आशाओं को जो उस समय मुसलमानों के दिलों पर गुज़र रही थीं (१२) उन्होंने अपने उस महाकाव्य में एक एक छाँट कर रख दिया है। लोग यह मालूम करने लगे कि (१३) उनकी भाषा के साहित्य-क्षेत्र में कोई नई वस्तु आविर्भूत होगई है। (१४) उनके अंतःकरण को प्रेरित करने के लिए कोई नया साधन उत्पन्न होगया है। पुराने विचार वालों के विरोध को इस महाकाव्य ने दबा दिया और उनका ज़ोर जाता रहा। भारत में आज (१५) कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो इस बात से इनकार कर सके कि उर्दू में यह महाकाव्य (१६) एक भारी वस्तु है।

जो आवाज़ हाली ने उठाई वह आज ज्यों की त्यों गूँज रही है। इक़बाल और चकबस्त (हिंदू) जैसे तात्कालिक कवियों की रचनायें हज़ारहा लोग पढ़ते हैं। और

फिर लिखिए और मुझे भेजिए।
म० प्र० द्वि०
१६ । ३ ।२०

इन ग्रंथों में वह नई आत्मा चमक रही है जिसने भारत को जगा दिया है। (१७) इक़बाल के 'तराने' उर्दू भाषी भारत का जातीय गीत के रूप में स्वीकार किये गये हैं।

भाषा-सुधार-कार्य

हम पीछे लिख आये हैं कि हिन्दी-भाषा में शैली की अस्थिरता और व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धि द्विवेदी जी को बहुत खटकती थी। 'सरस्वती' का सम्पादन हाथ में लेते ही उन्होंने इसकी ओर पूरा ध्यान देना आरम्भ किया। 'सरस्वती' में उन्होंने प्रमुख साहित्य-सेवियों के व्याकरण-सम्बन्धी दोष दिखाये और उन्हें शुद्ध किया तथा अनेक लेखकों के प्रकाशनार्थ आये हुए लेखों को भी व्याकरण-विषयक दोषों के कारण ही 'सरस्वती' में स्थान न दिया और यदि प्रकाशित भी किया तो उन दोषों को सुधार कर। इसलिए बहुत से लेखक झुँझला उठे और विद्वानों में वाद-विवाद भी छिड़ गया। पर द्विवेदी जी ने इसकी चिन्ता न की और अपने सिद्धांत पर डटे रहे। उन्हें किसी वर्ग विशेष अथवा लेखक विशेष से किसी प्रकार का द्वेष तो था ही नहीं, अतः उन्होंने भाषा और व्याकरण के नियमों की अस्थिरता-सम्बन्धी अपने विचार 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक लेख में स्पष्ट कर दिये। यह लेख 'सरस्वती' के छठे भाग के ग्यारहवें अंक में प्रकाशित हुआ। इसमें उन्होंने अनेक प्रसिद्ध लेखकों के उदाहरण देकर अपने कथन की पुष्टि की थी।

सचमुच यह लेख बड़ी योग्यता से लिखा गया था; फिर भी लोग द्विवेदी जी के विरुद्ध होगये और इसी लेख में त्रुटियाँ दिखाकर उनकी हँसी उड़ाने की चेष्टा करने लगे। बाबू बालमुकुन्द गुप्त तो और भी आगे बढ़े। उन्होंने 'आत्माराम' के कल्पित

नाम से 'अनस्थिरता' शब्द की हँसी उड़ाते हुए एक लेख-माला ही निकाल दी। यह 'भारत-मित्र' में प्रकाशित हुई। इस लेख-माला का कुछ अंश भद्दे विनोद का नमूना था। भाषा इसकी बड़ी ही उग्र थी। बात यह थी कि द्विवेदी जी ने अपने लेख में गुप्त जी के बँगला-अनुवाद का एक अवतरण देकर उसमें अनुवाद के दोष दिखलाये थे। बस, गुप्त जी आपे से बाहर होकर द्विवेदी जी पर वाग्बाण बरसाने लगे। 'हम पञ्चन के ट्वाला माँ' जैसे बैसवाड़ी के वाक्यों का प्रयोग करके गुप्त जी ने द्विवेदी जी का उस लेख-माला में गहरा उपहास किया। इस लेखमाला में सहृदयता, सौजन्य और शिष्टता तक का ध्यान नहीं रक्खा गया। इस पर द्विवेदी जी बड़े क्षुब्ध हुए। 'कल्लू अल्हइत' के कल्पित नाम से उन्होंने 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' शीर्षक आल्हा छन्द में एक भड़ौआ लिखकर गुप्त जी के भद्दे विनोद का तादृश ही उत्तर दिया। गुप्त जी ने इस पर अपनी राय देते हुए लिखा—

"भाई वाह! कल्लू अल्हइत का आल्हा ख़ूब हुआ। क्यों न हो, अपनी स्वाभाविक बोली में है न।"

द्विवेदी जी का यह आल्हा जनवरी १६०६ की 'सरस्वती' में (भाग १, संख्या १, पृष्ठ ६८) प्रकाशित हुआ। दूसरे ही महीने में उन्होंने 'भाषा और व्याकरण' शीर्षक एक लेख लिखा, जो फ़रवरी १६०६ की 'सरस्वती' में (भाग १, संख्या २, पृष्ठ ६०) प्रकाशित हुआ। इस लेख में द्विवेदी जी ने गुप्त जी की युक्तियों का बड़े सुन्दर ढंग से व्यङ्ग्य की पुट देते हुए खंडन किया। परिणाम-स्वरूप हिन्दी के तत्कालीन सभी धुरंधर विद्वान् द्विवेदी जी के पक्ष में हो गये। हिन्दी-संसार में हलचल मच गई। द्विवेदी जी के पक्षपातियों ने गुप्त जी को मुँहतोड़

जवाब दिया। इन व्यक्तियों में पंडित गोविन्दनारायण मिश्र का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने गुप्त जी के प्रतिवाद का खंडन करते हुए 'आत्माराम की टें टें' शीर्षक एक लेखमाला लिखी। इसकी भाषा यद्यपि बड़ी कटु और उग्र थी—ईंट का जवाब पत्थर से दिया गया था—तथापि शैली की गंभीरता और पंडित जी की योग्यता ने बहुतों को द्विवेदी जी के पक्ष में कर दिया। यह लेख-माला 'हिन्दी-बंगवासी" में प्रकाशित हुई थी। क्रमशः 'श्रीवेंकटेश्वर-समाचार', 'सुदर्शन' आदि पत्र भी मैदान में उतर आये।

द्विवेदी जी के व्याकरण और भाषा की शुद्धता-सम्बन्धी इस प्रकार के आन्दोलनों का एक सुपरिणाम यह हुआ कि अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी भाषा और व्याकरण की शुद्धता-विषयक चर्चा होने लगी और शीघ्र ही एक दूसरा विवाद छिड़ गया। वह यह था कि हिन्दी में विभक्ति सटाकर लिखना चाहिए या हटाकर यह बात सन् १९०९ की है। विद्यादिग्गज, 'हिन्दी-गद्य के बाणभट्ट' पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र इस आन्दोलन के अग्रणी थे। सटाऊ और हटाऊ सिद्धान्त के इस विवाद में बम्बई के 'श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार,' प्रयाग के 'अभ्युदय,' बनारस के 'भारतजीवन,' कलकत्ते के 'भारतमित्र' और 'हित-वार्त्ता' आदि पत्रों ने पूर्ववत् भाग लिया और खण्डन-मण्डन के अनेक लेखक प्रकाशित हुए।' 'हितवार्ता' में अधिकांश लेख पण्डित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी के थे। उन्होंने लाला भगवानदीन, पण्डित रामचन्द्र शुक्ल और बाबू भगवानदास हालना के विचारों का खण्डन किया। ये तीनों विद्वान् विभक्तियों को अलग लिखने के पक्ष में थे। इसके विपरीत पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र, पण्डित अमृतलाल चक्रवर्ती, पण्डित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, आदि मिलाकर लिखने के

पक्ष में थे। चक्रवर्ती जी 'भारतमित्र' के सम्पादक थे, उन्होंने कई सम्पादकीय नोट लिख कर अपने विचारों को प्रकट किया। ये महाशय तो विभक्ति-सम्मेलन तक करने के पक्ष में थे। अपने कथन की पुष्टि में इन्होंने स्वर्गीय अम्बिकादत्त व्यास के लिखे हुए एक पोस्टकार्ड का ब्लाक भी प्रकाशित किया, जिसमें विभक्ति सटी हुई लिखी गई थी। यह ब्लाक १६०६ के अगस्त मास के 'भारतमित्र' में छपा था। ३१ अगस्त के अङ्क में साहित्योपाध्याय बदरीनाथ शर्मा ने जो मिर्ज़ापुर के निवासी थे, इस कार्ड का खण्डन करते हुए अपना लेख लिखा। विपक्षियों में पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का लेख बड़ा सुन्दर था। यह लेख 'अभ्युदय' के १६०६ के २३ और ३० जुलाई तथा ६ अगस्त के अङ्कों में प्रकाशित हुआ था। फिर १०, ११, २४ सितम्बर के अङ्कों में भी इन्हीं विचारों का समर्थन करते हुए शुक्ल जी ने नोट लिखे।

प्राय: ये सभी लेख पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र के विचारों को काटते थे। मिश्र जी ही इस आन्दोलन के नायक और सटाऊ-सिद्धान्त के पक्षपाती थे। उन्होंने 'विभक्ति-विचार' नाम की एक छोटी-सी पुस्तक ही इस विषय पर लिख डाली। इसमें इन्होंने हिन्दी की विभक्तियों को शुद्ध विभक्तियाँ सिद्ध किया और यह सलाह दी कि इन्हें शब्दों से मिलाकर लिखना ही उचित होगा। इनके विचारों का खण्डन करते हुए पण्डित रामचन्द्र शुक्ल और बाबू भगवानदास हालना ने लेख लिखे थे।

द्विवेदी जी, एक प्रकार से, इस वादविवाद से अलग ही रहे। यह बात वास्तव में बड़े आश्चर्य की है कि उन्होंने इस आन्दोलन में भाग क्यों नहीं लिया। शायद उन्होंने इसकी

विशेष आवश्यकता नहीं समझी; क्योंकि उन्हीं के पक्ष के विद्वानों की ही, अंत में, विजय रही। वे स्वयं विभक्ति को अलग लिखने के पक्ष में थे। और उनके पक्ष की विजय का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि कलकत्ता और बम्बई की कुछ पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं को छोड़कर प्रायः सभी जगह विभक्ति अलग ही लिखी जाती है।

व्याकरण की शुद्धता के लिए द्विवेदी जी एक और महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे थे। वह था 'सरस्वती' में समालोचनार्थ आई हुई पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं के भाषा-व्याकरण-सम्बन्धी दोष दिखाना। यह कार्य बड़े साहस का था, इसमें कोई सन्देह नहीं; पर 'सरस्वती' का सम्पादन-कार्य हाथ में लेने के समय से ही वे इस ओर प्रयत्नशील हुए थे और उनका यह दोषप्रदर्शन-कार्य दिन-दिन बढ़ता ही गया। साधारण-लेखकों की भूलों की ओर वे प्रायः विशेष ध्यान नहीं देते थे। पर जिन व्यक्तियों को 'साहित्यिक' कहलाने और साहित्य-सेवा करने का दावा था वे यदि कोई भूल करते थे तो द्विवेदी जी को हार्दिक दुःख होता था और उनकी पुस्तकों की वे प्रायः तीव्र आलोचना करते थे। ऐसी अनेक आलोचनायें 'सरस्वती' के प्रायः प्रत्येक अंक में निकलती थीं। इसका एक सुन्दर उदाहरण मिश्र-बन्धुओं के 'हिन्दी-नवरत्न' की आलोचना है। हिन्दी-साहित्य की, एक प्रकार से, यही पहली समालोचनात्मक पुस्तक थी, जिसमें खोज, अध्यवसाय और लगन की झलक मिलती है। इसको स्वयं द्विवेदी जी ने भी स्वीकार किया है। इसकी आलोचना 'सरस्वती' (भाग १,२ संख्या ३) में छपी थी। इसमें भाषा के दोष दिखाते हुए द्विवेदी जी ने लिखा था—

"भाषा इसकी परिमार्जित नहीं है। अनेक स्थलों की रचना व्याकरण-च्युत भी है। संभव है, तीन आदमियों की शिरकत इसकी भाषा के अधिकांश दोषों का कारण हो। अच्छे लेखक की भाषा जैसी होनी चाहिए, वैसी भाषा इस पुस्तक की नहीं। दो-चार उदाहरण लीजिए:—

"(१) हिंदी-कविता के समान संसार में किसी भाषा की रचना ऐसी सौष्ठव, और श्रुति-मधुर नहीं है। —भूमिका, पृष्ठ ३०। किसी भाषा की रचना ऐसी सौष्ठव......नहीं है—यह बिल्कुल ही अशुद्ध है। 'सौष्ठव' की जगह 'सुष्ठु' चाहिए। इसके सिवा सारे संसार की भाषाओं के विषय में वही मनुष्य कुछ कह सकता है जो उन सबको जानता है। क्या लेखक उन सबको जानने का दावा कर सकते हैं?

"(२) हमने उनका वर्णन थोड़े में 'स्थाली पुलाक न्याय' दिखा दया है। पृष्ठ २१५।

दूषित भाषा का यह बहुत बुरा उदाहरण है। इस विषय के अधिक उदाहरण देकर हम लेख नहीं बढ़ाना चाहते। इतने ही उदाहरण देखकर 'स्थाली पुलाक न्याय' से पाठक समझ सकेंगे कि इसकी भाषा सदोष है या निर्दोष और यदि सदोष है तो कितनी।"

इसी प्रकार अनेक स्थलों के दोष दिखाने के पश्चात् 'वाक्य और वाक्यांश-दोष', 'शब्द-दोष', 'फुटकर दोष' पर प्रकाश डालते हुए द्विवेदी जी ने लिखा—

"'ब' और 'व' की तो बड़ी ही दुर्दशा हुई है। 'व्रजभाषा', 'वल्लभाचार्य', 'विरह', 'विषय', 'विध' और 'वियोग' आदि हज़ारों शब्द इसमें ऐसे हैं जिनमें 'व' के बदले 'ब' का प्रयोग हुआ है। लेखक महोदयों ने स्वयं अपने नामों के 'विहारी' शब्दों में भी 'ब' का

प्रयोग किया है। हाँ जिल्द के ऊपर जो नाम छपे हैं उनमें 'व' अवश्य है। पर वह शायद प्रेसवालों की कृपा का फल है।"

इसी प्रकार द्विवेदी जी ने अन्य लेखकों की व्याकरण-सम्बन्धी भूलें दिखाईं। पंडित केशवराम भट्ट ने 'हिन्दी-व्याकरण' नाम की एक पुस्तक लिखी। भट्ट जी 'विहारबन्धु' के संपादक थे। द्विवेदी जी ने इस पुस्तक की आलोचना की, जो 'पुस्तक-परीक्षा' स्तंभ के अन्तर्गत 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई। पुस्तक के वाक्य देकर द्विवेदी जी ने अपनी क्या सम्मति दी। देखिए—

द्विवेदी जी—आप 'चाहिये' को 'चाहिए' क्यों नहीं लिखते ?

'इये' प्रत्यय की जगह 'इए' क्यों न हो ? स्वर प्रधान है, व्यंजन अप्रधान। जहाँ तक स्वरों से काम निकले तहाँ तक व्यंजनों के प्रयोग की क्या आवश्यकता ? अकेले 'ए' का जैसा उच्चारण होता है, वैसे ही 'य—ए' का होता है। फिर द्राविड़ी प्राणायाम क्यों ? यदि कोई यह कहे कि इए' करने से संधि हो जायगी, तो ठीक नहीं। हिंदी में इस प्रकार की संधि नित्य मानने से बड़ा गड़बड़ होगा। 'आईन' इत्यादि शब्द फिर लिखे ही न जा सकेंगे। हाँ, 'आयीन' चाहे कोई भले ही लिखे।

हिंदी-व्याकरण—परंतु जब कोई किसी विषय को लिखने बैठता है तो उसके सामने बहुत से ऐसे-ऐसे भाव भी आ खड़े होते हैं।

द्विवेदी जी—इस वाक्य में 'तो' की जगह 'तब' होता तो ठीक होता। 'जब' के साथ 'तब' का ही प्रयोग उचित जान पड़ता है।

हिंदी व्याकरण—फिर 'या' का अक्षय भंडार रहते इसे किसी दूसरे का ऋणी होने देना अच्छा नहीं।

'द्विवेदी जी—'अक्षय' यहाँ पर भंडार का विशेषण है; अतएव वह "अक्षय्य' क्यों नहीं ?

इसी प्रकार जब पंडित श्याम जी शर्मा ने 'हिंदी-शिक्षक' व्याकरण नाम की पुस्तक में लिखा—

'तू' का संप्रदान में 'तुम्हारे लिए' और संबंध में 'तुम्हारा, 'तुम्हमें और 'तुम्हारी' हो जाती है।

तब द्विवेदी जी ने अपना नोट दिया कि यहाँ पर 'तेरे लिए' और 'तेरा, तेरे, तेरी' क्यों न हो ? इसके सिवा 'हो जाती है' क्यों ? 'हो जाता है' या 'हो जाते हैं' क्यों न होना चाहिए ?

सरस्वती (११-६-४३०)

एक अंक में 'संस्कृत-प्रवेशिनी' (सम्पादक, काव्यतीर्थ श्री-लाल जैन) पर नोट देते हुए लिखा—

"इसके लेखक व्याकरण-शास्त्री हैं। आशा है, आप व्याकरण का महत्त्व ख़ूब जानते होंगे। वे यह भी जानते होंगे कि व्याकरण की सत्ता सभी भाषाओं पर है। हिंदी भी एक भाषा है। अतएव वह भी अपने व्याकरण के नियमों के अधीन है। पर इस नियमन की याद आप शायद भूल गये हों। आपका एक वाक्य है—'दूसरे भाग में शेष कुल विभक्ति और धातुओं के रूप प्रयोग सहित बतलाए गए हैं।' इस वाक्य में पहले तो 'विभक्ति' लिखना, फिर उसे एक वचन में रखना औरों को न खटके तो न खटके, व्याकरण-शास्त्रियों को तो अवश्य ही खटकना चाहिए।"

सरस्वती (११-४-२७७)

ऐसे संशोधनों से लेखकों का बड़ा उपकार होता था। बहुत से लोग उनकी इन बातों को सहर्ष ग्रहण कर लेते

थे। एक स्कूल में एक वार पण्डित जी इमला बोल रहे थे। एक लड़के ने 'लिये' लिखा। पण्डित जी ने इस पर कहा—'लिये' को 'लिए' लिखा करो। 'सरस्वती'-सम्पादक भी 'लिए' ही चाहते हैं। बात यह थी कि एक महाशय ने 'इसी-लिये' लिखा था। द्विवेदी जी की निगाह उस पर पड़ गई। उन्होंने अपने नोट में लिखा—

"इसीलिये" क्यों? 'इसीलिए' क्यों नहीं? जब स्वर से काम न चले तब व्यञ्जन का प्रयोग कीजिए। यहाँ पर 'लिये' क्रिया का बहुवचन नहीं है; किन्तु 'इसीलिये' अव्यय का उत्तराङ्ग है; अतएव हम इसीलिये की जगह 'इसीलिए' लिखना ठीक समझते हैं।"

इसी प्रकार विराम-चिह्न के प्रयोग की ओर भी जनता का ध्यान उन्होंने आकर्षित किया। हिन्दी-भाषा में, आरम्भ में, पण्डित प्रतापनारायण मिश्र और उनके कुछ समकालीन लेखक विराम-चिह्नों का बहुत ही कम प्रयोग करते थे। कविता में इन चिह्नों का न होना उतना नहीं खटकता था, जितना गद्य में; लच्छेदार लम्बे-लम्बे वाक्यों को समझने के लिए इनका होना बहुत जरूरी है। द्विवेदी जी ने पूर्ण विराम, अल्प विराम, आदि का स्वयं प्रयोग किया और दूसरों के ऐसा न करने पर उनकी आलोचना की। उनका विचार था कि विराम-चिह्नों का प्रयोग न करके 'और' आदि जोड़ देने से वाक्य बढ़ जाता है और उसमें शिथिलता आ जाती है। 'हिन्दी-नवरत्न' की आलोचना में एक स्थान पर विराम-चिह्नों-सम्बन्धी दोष भी दिखाये गये हैं। वह वाक्य यह है—

"कहते हैं कि गोस्वामी जी ने पहले सीय-स्वयम्बर और अयोध्याकाण्ड की कथा बनाई थी और इतना बन जाने पर

उन्हें समग्र रामायण बनाने की लालसा हुई और तब उन्होंने शेष ग्रन्थ भी बनाया। पृष्ठ ५०।'

इस प्रकार के लम्बे-लम्बे वाक्यों से द्विवेदी जी को बहुत चिढ़ थी। इस वाक्य पर उन्होंने अपना नोट यों दिया था—

'इसमें पिछले दो 'और' जाने से बेतरह शिथिलता आ गई। उन्हें निकाल कर उनकी जगह एक-एक पाई (फुलस्टाप) रख देने से यह दोष दूर हो जाता।''

इसी प्रकार 'श्री समय सार-टीका' की आलोचना भी भाषा-सुधार का एक सुन्दर नमूना है। यह आलोचना अगस्त १९१८ की 'सरस्वती' (पृष्ठ ११०) में प्रकाशित हुई थी। पुस्तक की भूमिका के कुछ वाक्य यों थे—

''इस भाषा करने में हमने अति साहस किया है। यह काम न्याय और व्याकरण के विद्वानों का था पर हमारे समान विद्वत्ता-रहित व्यक्ति का न था तो भी आत्मप्रेमवश जो यह साहस किया है उस पर विद्वज्जन हास्य न करके कृपादृष्टि द्वारा इसे अव-लोकन करेंगे और जहाँ कोई भूल मालूम पड़े उसे अवश्य सूचित करेंगे क्योंकि मुझ जैसे अल्प ज्ञानी द्वारा भी भूलें हो जाना सम्भव है।''

द्विवेदी जी ने इस पर जो नोट लिखा वह इस प्रकार है—

''यह अत्यंत शिथिल भाषा का अच्छा नमूना है। यही बात और तरह बड़ी अच्छी हिंदी में लिखी जा सकती थी। ख़ैर, शैली का विचार जाने दीजिए। 'इस' और 'भाषा' शब्दों के बीच एक 'की' दरकार है। दूसरे वाक्य में 'पर' शब्द व्यर्थ हैं। 'तो' का इस्ला ही ग़लत है। वह तो' होना ही चाहिए। अंतिम वाक्य का

उत्तरांश तो सचमुच ही हास्य-जनक हो गया है। भूलें हो जाना तो प्रकाण्ड पंडितों से भी संभव है। अति अल्प ज्ञानियों से हो जाना तो कुछ बात ही नहीं। फिर 'भी' अव्यय की क्या सार्थकता है?''

ऊपर के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भाषा-परिष्कार-विषयक आन्दोलन करना कितने साहस का काम था। लोग विरोध करते थे, कटाक्ष करते थे, खुल्लमखुल्ला गालियाँ देते थे। पर द्विवेदी जी इस प्रतिवाद से ज़रा भी विचलित न हुए। भाषा की शुद्धता और स्थिरता के लिए उनका उद्योग एक व्रत था। उन्हें व्रत से डिगाने के लिए प्रतिवाद-रूप अनेकानेक विघ्न उपस्थित हुए। पर वे न डिगे, न डिगे। विघ्न-बाधाओं की ओर यों तो उन्होंने देखा ही नहीं, लेकिन जब देखा तब तीसरे नेत्र से। इस दृष्टि में भी क्रोध नहीं, क्षमा प्रधान थी। सुबह का भूला यदि शाम को आ जाय तो भूला नहीं कहलाता, यही उनका सिद्धान्त समझिए। "साथ ही तर्क-वितर्क और विरोध आदि अस्थायी और अप्रिय घटनाओं से हमारी भाषा को वैसो ही एक स्थायी सुष्ठु विशेषता बन गई, जैसे कीचड़ में कमल खिलता हो। कारण यह था कि द्विवेदी जी के कथन में सत्य था, सार था, विद्वत्ता थी। वे केवल विरोध के लिए विरोध नहीं करते थे। यही था उनकी सफलता का रहस्य। इन अस्थायी और कटु तर्क-वितर्कों का परिणाम अच्छा ही हुआ। इनसे भाषा का रूप स्थिर होने और उसके व्याकरण-सम्बन्धी दोष दूर होने में बड़ी सहायता मिली। यह नितान्त सत्य है कि उनके समकालीन अनेक साहित्य-सेवी विरोध-भाव के वशीभूत थे; पर द्विवेदी जी पर उनका रंग न चढ़ा। उनमें सच्चा सेवा-भाव था; जैसा वे दूसरों से चाहते थे वैसा स्वयं भी करते थे। व्याकरण की

शुद्धता और भाषा की सफ़ाई के साथ-साथ हिन्दी का प्रचार भी बढ़ा। यह देखकर आचार्य को बड़ी प्रसन्नता हुई। इस प्रसन्नता में विजयोन्माद नहीं था, अभिमान नहीं था, केवल आत्मतुष्टि का भाव था। इसका अनुभव वही कर सकता है जो दिन-रात एक करके सच्ची लगन के साथ परिश्रम करे और अन्त में अभिलषित सफलता प्राप्त कर सके।

समालोचना

"दूसरों की कृति को यदि कोई, दोष ढूँढ़ने ही की दृष्टि से देखे और उसका अध्ययन करे तो उसमें उसे अनेक दोष या दोषाभास मिलने की सम्भावना रहती है। दोषान्वेषी जब रागद्वेष के वशीभूत होकर किसी की कृति का निरीक्षण करता है तब उसकी सदसद्विवेक बुद्धि पर परदा पड़ जाता है। उस दशा में वह समालोचना का अधिकारी नहीं रह जाता। पर उसे इस काम से रोक ही कौन सकता है? फल यह होता है कि अन्य की दृष्टि से जो बात दोषों में परिगणित नहीं हो सकती, उसे भी वह अपने रागद्वेषमूलक काँटे से तौलकर दोषों ही में गिनने लगता है।"

संस्कृत की एक पुस्तक का नाम 'विश्वगुणादर्श' है। इसमें ऐसे सैकड़ों दोषों की उद्भावना की गई है जिन्हें दुनिया दोष ही नहीं समझती। इसका परिचय द्विवेदी जी ने १९२४ के जनवरी मास की 'सरस्वती' में दिया था। उस लेख की भूमिका के तौर पर उक्त वाक्य उन्होंने लिखे हैं। आगे चल कर, इसी लेख में, वे कहते हैं—

"दोष देखनेवाली आँख ही जुदा होती है। उसके अस्तित्व में गुणी के गुण नहीं दिखाई देते; प्रत्युत उसके गुण भी दोष ही बन जाते हैं। और दोष? वे तो हज़ार गुने बड़े होकर दिखाई देने लगते हैं।"

दोष दिखाने की इसी बलवती भावना ने हिंदीवालों की आँख, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में, ख़राब कर दी थी। उस

समय साहित्य-सेवियों के दल बने थे। वे एक-दूसरे के दोष दिखाने में व्यंग्य और कटाक्ष-पूर्ण भाषा का सहारा लेते थे। फलतः विभिन्न दलों में विरोध-भावना और भी प्रबल होती जाती थी। साहित्य को इससे बड़ी क्षति पहुँच रही थी। जिन पढ़े-लिखे विद्वानों के हृदयों में हिन्दी-साहित्य के रिक्त अंगों को देखकर कसक उठती थी और जो उसकी उन्नति के लिए सचेत होकर प्रयत्नशील थे, वे इस पक्षपातपूर्ण दोष-प्रदर्शन-कार्य को, जिसे वे समालोचना के नाम से ही पुकारते थे, देखकर मन मसोस कर रह जाते थे। ऐसी आलोचना करते समय लेखक इस बात का ध्यान अवश्य रखता था कि कहीं हमारे दलवाले इससे असंतुष्ट तो नहीं हो जायँगे। यों उस समय, समालोचना प्रायः पक्षपातपूर्ण ही होती थी और समालोचना का लक्ष्य कृति न होकर व्यक्ति-विशेष रहता था। इस कथन की पुष्टि बाबू श्यामसुन्दरदास के एक पत्र से होती है जो उन्होंने सन् १८९९ में द्विवेदी जी को लिखा था। द्विवेदीजी ने एक यथार्थ समालोचना सभा के द्वारा प्रकाशित कराने के लिए भेजी थी। उसी के उत्तर में मंत्री की हैसियत से बाबूजी ने पत्र लिखा था।

काशी, २६—४—१८९९

"पूज्यवर,

हमारी सभा और विशेष कर हमारे समाज की अवस्था विचित्र है। ये ही बड़े भाग्य हैं कि सभा अब तक चली जाती है। द्वेष और द्रोह सब स्थानों में नाश का मूल कारण हुआ। उसकी हमारे यहाँ न्यूनता नहीं है - लोगों को प्रसन्न रखना बड़ा कठिन है—अप्रसन्न करने में विलम्ब नहीं लगता—समालोचनाओं के यथार्थ रूप में करने से हम किसी को भी सन्तुष्ट न कर सकेंगे (यह वाक्य ग़लत

है, पर यों ही) यद्यपि इसमें संदेह नहीं है कि ऐसा करने से लाभ होगा। फिर मेरा यह विश्वास है कि हमारे समाज में गिनती के ही दो-एक लोग हैं जो निष्पक्षतापूर्वक समालोचना कर सकें—इन्हीं सब बातों को विचार कर हम लोगों ने अभी समालोचना करना आरंभ नहीं किया—परन्तु उसकी आवश्यकता को अवश्य स्वीकार करते हैं और एक स्वतंत्र पत्र निकालकर इस अभाव की पूर्ति का विचार है। लेखकों की कृपा पर ही यह निर्भर है।

आपका विचार सत्य है कि सभा समालोचना न छापेगी।*

भवदीय कृपापात्र
श्यामसुन्दर''

इस पत्र से कई बातों पर समुचित प्रकाश पड़ता है। हमारे मतलब की इसमें केवल इतनी बात है कि पढ़े-लिखे लोग समालोचना की तत्कालीन दोष-प्रदर्शन-प्रणाली का पल्ला पकड़े रहने पर भी हृदय से उसका विरोध करते थे। वे समझ गये थे कि यह रोग यदि शीघ्र दूर न किया गया तो असाध्य हो जायगा और साहित्य-शरीर की उन्नति के लिए घातक सिद्ध होगा। अस्तु।

हिन्दी-गद्य में, उस समय कोई मार्के की चीज थी ही नहीं, जिसकी ओर लोग ध्यान देते। पद्य में सूरदास, तुलसीदास सरीखे कवि एक ओर थे और बिहारी, देव प्रभृति दूसरी ओर, कतिपय कारणों से इन कवियों का उचित अध्ययन नहीं किया गया था। हाँ, दरबारी आलोचना-पद्धति—अलंकार, पिंगल,

* "हिंदी में विराम चिह्न" विषय पर लेख लिखनेवाले के लिए यह पत्र बड़े महत्त्व का है। इसमें हिंदी के पूर्ण विराम के स्थान पर अँगरेज़ी के 'फुलस्टाप' और 'डैश' से काम निकाला गया है।

गुण, रूपक आदि की छानबीन—की ओर, पहले से ही, ध्यान दिया जा रहा था। भारतेंदु हरिश्चन्द्र के समय में हम एक ओर बँगला-साहित्य से और दूसरी ओर अँगरेज़ी-साहित्य से परिचित हुए। इसके दो सुपरिणाम हुए। पहला बँगला, अँगरेज़ी, संस्कृत आदि अन्य भाषाओं के ग्रंथों का अनुवाद हिन्दी में किया जाने लगा। यह शौक़ इतना बढ़ता गया कि कालान्तर में अच्छे और बुरे सभी ग्रंथों का अनुवाद होने लगा। पर यह हमारी चीज़ नहीं थी और न हम इस पर अभिमान ही कर सकते थे। दूसरा सुपरिणाम यह हुआ कि साहित्य-सेवी मौलिक ग्रंथ लिखने की ओर प्रयत्नशील हुए।

विदेशी साहित्य के सम्पर्क में आने से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि हम अपनी भाषा तथा अपने साहित्य की वास्तविक दशा से परिचित हो सके और यह भी जान सके कि हमारे लिए किस प्रकार का साहित्य उपयोगी होगा। यों दरबारी समालोचना-पद्धति में उपयोगितावाद की पुट भी दिखाई देने लगी। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में होनेवाली साहित्य और समालोचना की पद्धति का अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

प्रवृत्ति, उद्देश्य और आदर्श

इसके कुछ वर्ष पहले ही हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में द्विवेदीजी का प्रादुर्भाव हो चुका था। आरम्भ से उनकी प्रधान साहित्यिक प्रवृत्ति आलोचनात्मक थी। सम्पादन-कार्य ग्रहण करने के पूर्व ही उन्होंने 'छत्तीसगढ़ मित्र' तथा अन्यान्य पत्र-पत्रिकाओं में कतिपय पुस्तकों की आलोचना की थी। पाठक जी के कई काव्यों की भी वे मार्मिक और विस्तृत समालोचना कर चुके थे। उनके इन कार्यों की आलोचना करने के पहले यहाँ हम उनकी प्रवृत्ति

की विवेचना करना तथा उद्देश्य और आदर्श पर प्रकाश डालना उचित समझते हैं।

द्विवेदी जी निर्भय प्रकृति के व्यक्ति थे। उनको यह चिन्ता न थी कि उनकी की हुई समालोचना पढ़कर कोई प्रसन्न होगा या नाराज़। उन्होंने जिस बात को सत्य समझा उसे निडर और निष्पक्ष होकर जनता के सामने रख दिया। शत्रु-मित्र और रू-रियायत का भाव समालोचना करते समय वे अपने हृदय में नहीं रखते थे। उन्होंने समझ लिया था कि आलोच्य-विषय लेखक नहीं, उसकी रचना है। यह अन्तिम बात कुछ साहित्य-सेवियों की समझ में नहीं आई थी। अतः द्विवेदी जी की 'अत्यन्त कठोर, परन्तु न्यायपूर्ण समालोचनात्मक दृष्टि और अप्रिय सत्य को भी स्पष्ट कह देने की आदत दूसरों को बहुत खटकती थी। हाँ, दलबन्दी में फँसे हुए ऐसे व्यक्तियों की परिधि के बाहर कुछ ऐसे भी लोग थे जो उनके विचारों का सहर्ष स्वागत करते थे। इन व्यक्तियों ने समझ लिया कि सदसत्, सत्यासत्य और सुन्दर-असुन्दर का विवेक द्विवेदी जी में प्रचुर मात्रा में है। जो उनकी प्रकृति और उनके उद्देश्य को समझ नहीं पाये वे विरोधाग्नि में जलते रहे।

ऊपर हिन्दी-साहित्य की जिस दशा का दिग्दर्शन कराया गया है उससे द्विवेदी जी पूर्णतया परिचित थे। अन्य भाषाओं के भरे-पूरे साहित्य को देखकर जब उन्होंने हिन्दी की ओर दृष्टि डाली तब यहाँ उन्हें कुछ न मिला। विरोध और द्वेष-भावना के वशीभूत और अन्ध-परम्परा से प्रभावित होकर अधिकांश हिन्दी-साहित्य-सेवी एक ओर तो व्यर्थ की 'तू-तू मैं-मैं' में फँसे थे और दूसरी ओर बँगला, अँगरेजी आदि के **कूड़ा-करकट** का अनुवाद करके दूसरों को ठग रहे थे। कुछ

लोगों की कृपा-दृष्टि संस्कृत की ओर भी गई और उन्होंने, देखा-देखी संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थों का अनुवाद करना आरम्भ कर दिया।

द्विवेदी जी इस अंतिम बात को सहन नहीं कर सके। उस समय संस्कृत का वे अध्ययन करते थे और जानते थे कि इस भाषा का साहित्य पाश्चात्य देशों के विद्वानों को लुभा चुका है; वे उसे बड़े आदर और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। अतः उन्होंने सोचा कि यदि अनुवाद और टीका करने की योग्यता न रखनेवाले व्यक्तियों ने इस ओर क़दम बढ़ाया और संस्कृत के ग्रन्थों का अनुवाद या उनकी टीका करके उनके वास्तविक महत्त्व और सौन्दर्य को नष्ट कर दिया, तो उन ग्रन्थकारों के ही नहीं, संस्कृत-भाषा और उसके साहित्य के प्रति भी हमारे हृदयों में निरादर-भाव पैदा हो जायगा और इसका प्रभाव हमारी भावी संतति पर बहुत बुरा पड़ेगा। उनका यह विचार ही संस्कृत के अनुवादों और टीकाओं की कटु-आलोचना का कारण हुआ। द्विवेदी जी का स्वयं ऐसे अनुवादकों या टीकाकारों से कोई द्वेष नहीं था जैसा कि उनके एक पत्र से स्पष्ट होता है। लाला सीताराम ने संस्कृत के कुछ ग्रन्थों की टीका की। द्विवेदी जी ने उनकी तीव्र आलोचना की। इस पर लालाजी की ओर से किसी ने द्विवेदी जी को एक पत्र लिखा, जिसके उत्तर में द्विवेदी जी ने लिखा—

"I have no enmity with Lala Sita Ram, nor is there any misunderstanding between us, as you suppose. I have certainly made no attacks on him; you are no doubt, mistaken in this respect,

भावार्थ यह है कि द्विवेदी जी ने किसी द्वेष-भावना से

लाला जी के ग्रन्थों की आलोचना नहीं की थी। अपना उद्देश्य बताते हुए वे उसी के आगे लिखते हैं—

"What I have done is this. I have, in good faith, and *for the public*, criticised his versions of Kali Dass. And do you think it is sinful to criticise Lala Sita Ram's work ?"

सारांश यह कि द्विवेदी जी जन-साधारण को भ्रम में पड़ने से बचाना चाहते थे। वे जानते थे कि जनता के सामने जो बात ज़ोर देकर रक्खी जायगी उस पर वह विश्वास कर लेगी। हिन्दी में प्रचलित तत्कालीन दोष-प्रदर्शन-पद्धति से उन्हें यही आशंका थी। उनके इस पवित्र उद्देश्य को बहुत-से लोग नहीं समझ पाये। और उनकी समालोचनाओं के लिए लिखा कि—

"Your criticism will after all become a great obstacle in the way of our dear literature.*"

इसका उन्होंने यह उत्तर दिया—

"Your† opinion, perhaps, that the criticism branch of Hindi Literature, poor as it is, be done away with entirely may be allowed to flourish unchallenged. I, respectfully differ from this opinion."

यह पत्र झाँसी से ८ जनवरी सन् १९०० को लिखा गया था। उस समय द्विवेदी जी 'सरस्वती' के सम्पादक नहीं थे। पर

* 'आपकी समालोचना हमारे प्रिय-साहित्य की वृद्धि में बाधक सिद्ध होगी।"

† "शायद आपकी सम्मति यह है कि समालोचना कार्य को छोड़ ही दिया जाय और हिन्दी-साहित्य को, चूँकि वह दीन हीन है, स्वच्छन्दतापूर्वक फूलने-फलने दिया जाय। पर मैं इससे सहमत नहीं।"

द्विवेदी जी का यह आदर्श अन्त तक बना रहा। समयानुसार वे और भी आगे बढ़ गये। जब लोगों ने बहुत धाँधली मचाई तब उन्होंने 'समालोचना का सत्कार'-शीर्षक एक लेख दिसम्बर १९१७ की 'सरस्वती' में प्रकाशित किया। यह लेख कुछ धाँधली मचानेवालों की खबर लेने के लिए लिखा गया था। बाबू कालिदास जी कपूर ने उसके प्रतिवाद में 'समालोचना'-शीर्षक एक लेख लिखा और 'सरस्वती' में ही प्रकाशित होने के लिए भेजा। इस लेख की स्वीकृति लिखते हुए द्विवेदी जी ने ३१-१-१९१८ को जो पत्र लिखा उसका कुछ अंश यों है—

'मेरा लेख कुछ ख़ास आदमियों को लक्ष्य करके लिखा गया है। उनकी धूर्तता का हाल आपको मालूम होता तो शायद आप अपना लेख लिखते ही नहीं। ख़ैर, मतभेद बुरा नहीं।''

इतना ही नहीं, जो पुस्तकें द्विवेदी जी के पास समालोचनार्थ नहीं भी आती थीं और उनमें कोई दोष होता था तो वे स्वयं ख़रीदकर उन्हें पढ़ते थे और जनता के सामने उनके दोष स्पष्ट भाषा में रख देते थे। इन पुस्तकों की सूचना द्विवेदी जी को अपने मित्रों से मिल जाया करती थी।

ख़ैर, उक्त उद्देश्य और विचार पर दृढ़ रहना बड़े साहस का कार्य था; कम से कम तत्कालीन साहित्यिक वातावरण में रहकर तीव्र और सत्य आलोचना करना आसान न था। पर द्विवेदी जी अपने विचार पर डटे रहे। यहाँ हम एक लेख ऐसा उद्धृत करते हैं जिससे उनके समालोचना-सम्बन्धी आदर्श पर प्रकाश पड़ेगा। लेख कुछ बड़ा अवश्य है, पर उससे हम उस समय के साहित्यसेवियों के विचारों से भी परिचित हो सकेंगे और द्विवेदी जी ने उनको समझाकर राह पर लाने की जो चेष्टा की उससे भी। लेख यों है—

"समालोचक की उपमा न्यायाधीश से दी जा सकती है। जैसे न्यायाधीश राग, द्वेष और पूर्व संस्कारों से दूर रहकर न्याय का काम करता है, सच्चा समालोचक भी वैसा ही करता है। उसके फ़ैसले को सुनकर कोई प्रसन्न होगा या अप्रसन्न; उसकी निन्दा होगी या प्रशंसा; इसकी वह कुछ परवा नहीं करता। वह राग और द्वेष, द्रोह और दुराग्रह, ईर्ष्या और मात्सर्य आदि की प्रेरणा से की गई टीकाओं की ओर दृक्पात नहीं करते। उन्हें घृणापूर्ण उपेक्षा की दृष्टि से देखकर केवल हँस दिया करते हैं।

कभी-कभी कम उम्र के नये न्यायाधीशों को बड़े पुराने और बड़े क़ानूनी बैरिस्टरों की बहस सुननी पड़ती है। पर उनकी बहस का कुछ भी फल नहीं होता। फ़ैसला उनके मुवक्किलों के ख़िलाफ़ हो जाता है। इस दशा में कोई यह नहीं कह सकता कि इस नये न्यायाधीश को इस पुराने ख़ुर्राट बैरिस्टर के ख़िलाफ़ फ़ैसला सुनाने का मजाज़ नहीं। न्यायाधीश का आसन बहुत ही पवित्र और उच्च समझा जाता है। जो बादशाह न्यायाधीश को नियुक्त करता है, ख़ुद उसे भी अपने ही नियुक्त किये हुए न्यायाधीश के सामने हाज़िर होना पड़ता है।

बड़े-बड़े कवि, विज्ञानवेत्ता, इतिहास-लेखक और वक्ताओं की कृतियों पर फ़ैसला सुनाने का उसे (सच्चे समालोचक को) अधिकार है। सभ्यतापूर्ण और युक्तिसंगत शब्दों में उसके फ़ैसले की आलोचना करने का सबको मजाज़ है। यदि सभ्यतापूर्ण और उपहास-जनक शब्दों में कोई किसी जज के फ़ैसले की आलोचना करता है तो उसे अदालत से दंड मिलता है। दूसरे का उपहास करने ही के उद्देश्य से असभ्यतापूर्ण शब्दों में समालोचना करनेवाले

को भी, हिन्दी को छोड़कर, अन्य भाषाओं के साहित्य-सेवियों की अदालत से सज़ा मिलती है।"

—सरस्वती अप्रैल १९११)

द्विवेदीजी ने 'कालिदास की निरंकुशता'—शीर्षक अपनी प्रसिद्ध लेखमाला में, पुराने समालोचकों के कथन के आधार पर, कालिदास की कृतियों में कुछ दोष दिखाये थे। उनके समकालीन संस्कृत के विद्वानों ने इसका बड़ा विरोध किया। उत्तर में द्विवेदीजी ने 'प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्भावना'-शीर्षक एक निबन्ध लिखा। यह अप्रेल, मई और जून (१९११) की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। इसी लेख की भूमिका के तौर पर उक्त वाक्य लिखे गये हैं। रेखांकित स्थलों की व्याख्या करने का तो यहाँ स्थान नहीं है; हाँ उन पर ग़ौर करने से परिस्थिति और उत्तर हमारी समझ में आ सकता है। अस्तु।

द्विवेदीजी ने अपने इसी विचार को एक जगह स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार लिखा है—

"मित्रता के कारण किसी पुस्तक की अनुचित प्रशंसा करना विज्ञापन देने के सिवा और कुछ नहीं। ईर्ष्या-द्वेष अथवा शत्रुभाव के वशीभूत होकर किसी की कृति में अमूलक दोषोद्भावना करना उससे भी बुरा काम है।"

—सरस्वती

यह तो हुई समालोचना-संबंधी आदर्श की बात। अब लेखक के आदर्श पर, जैसा उन्होंने समझा था या वे चाहते थे, ग़ौर कीजिए।

पुस्तक के तीन मुख्य अंग होते हैं—विषय, भाषा और शैली। द्विवेदीजी ने अपने उद्देश्य और आदर्श के अनुसार इन तीनों

की परिचयात्मक आलोचना की। साहित्य को वे मनोरंजन का मुख्य साधन समझते थे। इसके बाद, उनकी समझ में, उपयोगिता का नम्बर आता है और अन्त में अध्ययन या मनन का प्रश्न। यदि हम तत्कालीन साहित्यिक परिस्थिति पर ग़ौर करें और साहित्य के पाश्चात्य स्टैंडर्ड को थोड़ी देर के लिए भूल जायँ तो द्विवेदीजी का यह क्रम देखकर हम सन्तोष की साँस ले सकेंगे। हिन्दी का साहित्य-भाण्डार रिक्त था और भाषा का प्रचार-प्रसार बहुत कम। जनसाधारण यदि हिन्दी को अपना ले तो उसकी उन्नति हो सकती है, यही उनका विचार था और इसी के लिए उनका प्रयत्न। उनके हृदय में भारतीयता और जातीयता के भाव भरे थे। एक सहृदय भारतवासी के लिए यह स्वाभाविक भी था। उधर जनता भी ऐसे विचारों का स्वागत कर रही थी। इस दशा में, यदि किसी व्यक्ति ने, स्वतंत्रता के लिए भारत-व्यापी आन्दोलन और जागृति की ओर ध्यान न देकर अपनी पुस्तक का विषय व्यर्थ की चाटुकारी या इसी प्रकार का अन्य कोई विषय चुना तो द्विवेदीजी ने उसका विरोध किया, उसकी कटु आलोचना की। विषय-विषयक उनके विचार हमें 'प्रवासी' के सम्पादकीय नोट के आधार पर 'सरस्वती' में लिखी हुई इस टिप्पणी में मिलते हैं—

"किसी पुस्तक या प्रबन्ध में क्या लिखा गया है, यह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई बात लिखी है या नहीं, यदि नहीं तो उसने पुरानी बात को ही नये ढंग से लिखा है या नहीं—यही विचारणीय है।"

इस टिप्पणी से विषय और शैली-संबंधी उनके विचारों पर

प्रकाश पड़ता है। भाषा वे सरल चाहते थे, शुद्ध भी। आरम्भ में प्रायः दोनों ही बातें हिंदी में नहीं थीं। उन्हें इससे दुःख होता था। फलतः पण्डिताऊ भाषा लिखनेवालों पर कटाक्ष करने में वे कोई कोरकसर न करते थे और व्याकरण आदि के दोष दिखाने में भी बड़ी तत्परता से काम लेते थे। स्थूल रूप से इन्हीं तीन बातों की परिचयात्मक आलोचना वे किया करते थे।

समालोचना

ऊपर कहा जा चुका है कि आरंभ से ही द्विवेदीजी की प्रकृति आलोचनात्मक रही है। स्वभावतः अपने साहित्यिक जीवन-काल में उन्होंने सैकड़ों पुस्तकों की अपने ढंग से आलोचना की। इन आलोचनाओं को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) संस्कृत के ग्रंथों की आलोचना

संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रंथों की टीकायें शताब्दियों पहले से होती आ रही थीं। राजा लक्ष्मणसिंह के समय से विद्वानों का ध्यान प्रसिद्ध ग्रंथों का अनुवाद करने की ओर भी गया। फलतः कुछ विद्वानों ने कालिदास के कुछ ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद किया। द्विवेदी जी को इन अनुवादों में मूल-ग्रंथों के भाव और चित्र न मिले। अनुवाद करने की प्रथा कुछ समय पहले ही हिंदी में आई थी। अतः अनुवादों में दोष रह जाना, किसी सीमा तक, स्वाभाविक ही था। द्विवेदी जी ने इन्हीं दोषों को ढूँढ़ना शुरू किया। संवत् १९५४ (सन् १८९७) में उन्होंने 'श्रीवेंकटेश्वर-समाचार पत्र" तथा कालाकाँकर के 'हिंदोस्थान' में लाला सीताराम बी० ए०

के कालिदास के ग्रंथों के अनुवाद की समालोचना बड़ी उग्र भाषा में आरम्भ की। "साहित्य-संसार में भूकम्प आ गया। समालोचना-संसार में एक नये अवतार के आगमन की दुंदुभी बज उठी। खलबली मच गई।"

ये आलोचनायें यथार्थ हैं या नहीं, इसकी विवेचना करने की तो हममें योग्यता नहीं—संस्कृत के एक से एक धुरंधर विद्वानों ने इस पर प्रकाश डालने की उस समय चेष्टा की थी। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि द्विवेदीजी ने उस आलोचना को प्रकाशित करके बड़े साहस और बड़ी निर्भयता का परिचय दिया। यही बात उनके सम्बन्ध में बड़े मार्के की है कि उस आलोचना में पक्षपात की बू नहीं आती; बरन् साहित्यिक शुभेच्छा से प्रेरित होकर द्विवेदीजी ने उसे लिखा था। उस निबन्ध का नाम था 'हिन्दी-कालिदास की आलोचना'। संस्कृत-भाषा के तत्कालीन प्रायः सभी विद्वानों का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ; किसी ने उसका विरोध किया और किसी ने समर्थन।

यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि उस निबन्ध में अनुवाद की आलोचना की गई थी। अतः भाषा, छंद आदि की दृष्टि से उसमें यही दिखाने का प्रयत्न किया गया था कि अनुवादक मूल-लेखक के भावों को व्यक्त करने में कहाँ तक सफल हुआ है।

इसके पश्चात् संस्कृत के कुछ काव्यों की स्वतंत्र और मौलिक आलोचनाओं की बारी आई। उन्होंने ऐसे दो निबन्ध—'विक्रमांकदेवचरितचर्चा' व 'नैषध-चरित-चर्चा'—लिखे। उक्त 'हिंदी-कालिदास की आलोचना' में तो केवल दोष ही दोष दिखाये गये थे, पर उसके विपरीत इन निबन्धों में लेखकों की विशेषताओं का निरीक्षण किया गया है। इससे कुछ लोग तो इन्हें

'स्तुति-ग्रंथ' तक कहने में संकोच नहीं करते। तत्पश्चात् 'कालिदास की निरंकुशता' के दर्शन हुए। इस आलोचनात्मक निबन्ध में कालिदास की कृतियों में कतिपय दोष—उपमा की हीनता-उद्वेगजनक उक्ति, अनौचित्य-दर्शक उक्ति, व्याकरण-संबंधी अनौचित्य, नाम-संबंधी अनौचित्य, इतिहास-संबंधी अनौचित्य, यति-भंग, पुनरुक्ति, अधिकपदत्व, श्रुति-कटुत्व, क्रमभंगता आदि के दोष दिखाये हैं। यद्यपि पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने 'मनसाराम' के नाम से इस निबन्ध के विरोध में 'निरंकुशता-निदर्शन' शीर्षक एक लम्बा-चौड़ा लेख 'भारतमित्र' में लिखा और बाद में अनेक प्रसिद्ध विद्वानों की टिप्पणियों के साथ उसे पुस्तकाकार प्रकाशित भी कराया, तथापि समस्त हिंदी-भाषा-मर्मज्ञों पर द्विवेदीजी की धाक बैठ गई; सबने उनका लोहा मान लिया।

यद्यपि 'नैषध-चरित-चर्चा' के लिए श्री राधाकृष्णदास ने नागरी-प्रचारिणी सभा से ४ जनवरी सन् १८९९ में लिखा था कि "यह लेख अद्वितीय हुआ है ऐसे (ऐ एक लाइन में है और से दूसरी में) ही लेख भाषा का गौरव बढ़ा सकते हैं," तथापि द्विवेदीजी के इन समालोचनात्मक निबन्धों में जिस आलोचना-पद्धति का अनुसरण किया गया है, आधुनिक दृष्टि से वह विशेष महत्त्व की न भी हो तो भी हिन्दी-साहित्य-सेवियों के लिए उस समय वही बहुत थी। लेखक या कवि के हृदय में बैठ कर पात्र, परिस्थिति और वस्तु आदि की विवेचना करना तो दूर, अपने हृदय के भावों को आलोचना का रूप देकर साहस और निर्भयतापूर्वक व्यक्त कर देने की यह पद्धति भी, हिन्दी के लिए उस समय नई ही थी। समालोचक के लिए आलोच्य विषय का पूर्ण पंडित होना तो आवश्यक है ही, पर स्वभाव व प्रकृति की निर्भयता और विभिन्न प्रकार के प्रलोभनों को ठुकराकर

अनेकानेक विरोधों तथा वाग्बाणों को सहते हुए, अपने विचारों पर दृढ़ रहने की आत्मशक्ति और क्षमता, साहित्य के लिए अत्यावश्यक थी। द्विवेदीजी की आलोचनाओं में वांछनीय निर्भयता, शक्ति और क्षमता के चिह्न पाकर एक तो विद्वानों को उनके विस्तृत अध्ययन का परिचय मिला और दूसरी ओर साहित्य की उन्नति की आशा हुई।

(२) हिन्दी-पुस्तकों की आलोचना।

हिंदी में द्विवेदीजी का उद्देश्य और लक्ष्य दूसरा था। वे हिंदी का उत्थान करना चाहते थे। अतः सन् १८९९ के लगभग लाला सीताराम के स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली "हिंदी-शिक्षा-वली" की तीव्र भाषा में आलोचना करने के बाद जब वे 'सरस्वती' के संपादक हुए तब अपने संपादन के पहले ही वर्ष में साहित्य की तत्कालीन दशा का दिग्दर्शन कराने के लिए, व्यंग्य-चित्रों के रूप में उन्होंने जो आलोचनायें निकालीं वे अपने ढंग की नई और निराली थीं। साहित्य-सभा, शूर-समालोचक, नायिकाभेद का पुरस्कार, कला-सर्वज्ञ, संपादक, मातृभाषा का सत्कार, रीडर-लेखक और हिंदी, काशी-साहित्य-सभा, चाट की चरम लीला आदि पर कटाक्ष-पूर्ण पर सत्य समीक्षायें निकलीं। स्वर्गीय बाबू रामदास गौड़, एम्० ए० के शब्दों में "उन्होंने मर्मस्थल पर घाव किये। लोग उन्हें सह न सके—दुहाइयाँ देने लगे। ब्राह्मण के दयालु हृदय को पसीजते क्या देर लगती है? द्विवेदीजी ने अगले वर्ष से उनका सिलसिला बंद कर दिया।"

तत्पश्चात् पुस्तकावलोकन की बारी आई। 'सरस्वती' में समालोचना के लिए प्रत्येक मास नई-नई पुस्तकें आया करती थीं। द्विवेदीजी उनकी परिचयात्मक आलोचना किया करते थे। पहली

बात जो उस समय वे देखा करते थे, विषय-संबंधी थी। यदि लेखक ने किसी नये विषय पर प्रकाश डाला है और भारतीयता और प्राचीन संस्कृति के भावों का आदर किया है तो द्विवेदीजी, ऐसी पुस्तक की प्रायः प्रशंसा किया करते थे। यदि लेखक अपनी मातृ-भाषा, आर्य-संस्कृति-विषयक विचारों का विरोध करता था तो द्विवेदीजी उसे बुरी तरह फटकारते थे।

दूसरी ओर हिंदी-लेखक भाषा और शैली के विषय में बिलकुल असावधान रहते थे। व्याकरण की दृष्टि से शुद्धता, शैली की दृष्टि से स्थिरता और विचारों की संबद्धता उनकी पुस्तकों में नहीं दिखाई देती थी। द्विवेदीजी ने इस बात को समझा और समालोचनार्थ आई हुई पुस्तकों में तत्संबंधी त्रुटियों को ढूँढ़-ढूँढ़कर निकालना शुरू किया। जिस लेखक ने इस विषय में धाँधली की उसकी उन्होंने बुरी तरह से खबर ली। फलतः नये विषयों पर पुस्तकें लिखी जाने लगीं और लेखक भाषा की शुद्धता और विचारों की स्पष्टता पर समुचित ध्यान देने लगे।

यहाँ एक बात स्मरण रखनी चाहिए। द्विवेदीजी हिंदी के पक्षपाती थे और प्राचीन संस्कृत के भक्त भी। पर हिंदी का मस्तक जिन कवियों ने ऊँचा किया है, जिन कवियों को हम गर्व और गौरव की दृष्टि से देखते हैं, उन तुलसीदास, सूरदास आदि के काव्यों की उन्होंने आलोचना नहीं की। इसका प्रधान कारण यही जान पड़ता है कि आरंभ में वे संस्कृत-कवियों का अध्ययन करते रहे और जब 'सरस्वती' के संपादक हो गये तब उन्हें इतना अवकाश ही नहीं मिला कि हिंदी के कवियों की कृतियों का समुचित रूप से अध्ययन करके विस्तृत आलोचना करते।

आलोचना-शैली

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में हिंदी की समालोचना-शैली के तीन रूप हमें दिखाई देते हैं। पहला संस्कृत-कवियों की टीका और दरबारी-आलोचना-पद्धति। दूसरा रूप जो 'प्रेमघन' के समय से आरंभ होता है उसका उद्देश्य था पुस्तकावलोकन अथवा सिंहावलोकन करके पुस्तक की साधारण बातें बताना। तीसरा अँगरेज़ी के ढंग पर था। इसमें लेखक विवेचना-द्वारा गुण-दोष की परख करता था। हिंदी में कुछ लोग इसे समझे भर ही थे; अमल में लाने की उन्होंने चेष्टा नहीं की थी।

द्विवेदीजी ने गुण-दोष-विवेचनात्मक तीव्र आलोचना-प्रणाली को जन्म दिया। उनकी इस शैली को हम 'प्रेमघन' की शैली का परिवर्द्धित और संस्कृत रूप कह सकते हैं। इस पर अँगरेज़ी की शैली का प्रभाव भी कहीं-कहीं मिलता है, पर नाम मात्र को। द्विवेदीजी की इस शैली के भी विषयानुसार या समयानुसार तीन रूप हो गये—

१ तार्किक शैली—हास्य की पुट-युक्त

२ व्यंग्य-पूर्ण

४ ओज-पूर्ण—कटाक्ष

(१) आरंभ में द्विवेदीजी ने संस्कृत-कवियों के ग्रंथों की आलोचना की थी। कुछ सज्जनों ने तो उनके विचारों को मान लिया परन्तु कुछ विद्वानों ने उनका विरोध किया। इसका उत्तर देने, उनकी शंका का समाधान करने तथा अपने मत की पुष्टि के लिए इन्होंने जिस शैली को अपनाया वह तार्किक थी।

किंचित् व्यंग्य की पुट दे देने से उनकी इस शैली में विशेष रोचकता आगई। इस शैली का एक उदाहरण 'नैषध-चरित-चर्चा और सुदर्शन' शीर्षक लेख है। 'सरस्वती' में शायद यही उनका सबसे पहला लेख था। यह १९०१ के आक्टोबर मास की सरस्वती (भाग १, संख्या १०) में प्रकाशित हुआ था। इसमें द्विवेदी जी ने सुदर्शन-संपादक की 'नैषध-चरितचर्चा' की आलोचना का उत्तर दिया है। भाषा में प्रौढ़ता है, विचारों में दृढ़ता और तार्किक व्यंग्य—

"श्रीहर्ष ने क्या हमारा घोड़ा खोला था जो हम उस पर अप्रसन्न होते।"

इस शैली का दूसरा रूप 'कालिदास की निरंकुशता' के विरुद्ध लिखी गई लेखमाला के उत्तर में लिखा हुआ 'प्राचीन कवियों के काव्यों की दोषोद्भावना'-शीर्षक लेख है। यह १९११ के अप्रैल, मई और जून मास की 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ था। इस लेख में द्विवेदी जी ने विभिन्न भाषा-मर्मज्ञों के दिखाये हुए संस्कृत-कवियों के दोषों को उद्धृत करके तर्क-द्वारा यह प्रमाणित करने की चेष्टा की थी कि प्राचीन कवियों के दोष दिखाना कोई पाप नहीं है, जैसा उनके कुछ विरोधी समझते थे। इस शैली का तीसरा उदाहरण 'हिंदी-भाषा की उत्पत्ति'-शीर्षक निबंध है।

(२) दूसरे प्रकार की शैली व्यंग्यपूर्ण है। यों तो द्विवेदी जी व्यंग्य के बादशाह ही थे; उनके प्रायः प्रत्येक नोट में कुछ न कुछ व्यंग्य अवश्य मिलेगा। यहाँ हम नीचे उनकी इस प्रकार की शैली के कुछ नमूने देते हैं—

'भाषापद्यव्याकरण' की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं—

"इसे—'पंडित × × पांडेय, आचार्य हेड पंडित, गवर्नमेंट हाई स्कूल, × × ने रचकर प्रकाशित किया' है। इसके—'सर्वाधिकार रक्षित' हैं।

इस व्याकरण के कर्त्ता आचार्य जी व्याकरण को भी पद्य में लिखकर वे उसे लड़कों से रटाना चाहते हैं। और पद्य भी कैसा, ज़रा देखिए तो—

"पांडेय कुल जन्म भयो × × × दत्तप्रधान।
पंडित पुत्र ज्येष्ठ भयो × × × दत्त विद्वान्॥
पदवी आचार्य पाई संस्कृत पढ़ी प्रधान।
सेवा करी सरकार की पंडित भये प्रधान॥
पाठशाला प्रयाग में गवर्नमेंट विख्यात।
संस्कृत की शिक्षा करैं पंडितन मैं विख्यात॥
सज्जन विशेष जानि कर पढ़िहैं तोष अगाध।
दुर्जन विषय न जानि कर हँसिहैं अज्ञ अगाध॥

हाँ, महाराज! आप विद्वान्, आप आचार्य, आप प्रधान पंडित, आप विख्यात पंडित और हम अगाध अज्ञ और दुर्जन, क्योंकि हमें आपका यह व्याकरण तोषप्रद नहीं। 'सरकार की सेवा करते करते' और 'प्रधानतया संस्कृत पढ़ते-पढ़ाते' आपने अज्ञता और दुर्जनता की अच्छी पहचान बताई। आपकी संस्कृतज्ञ लेखनी सचमुच ही बिलक्षणताओं की कामधेनु है।"

(सरस्वती, अगस्त १९१३)

धार्मिक खंडन-मंडन-संबंधी पुस्तकों की आलोचना करते समय उन्होंने प्रायः उक्त शैली का विशेष रूप से प्रयोग किया है। कुछ नमूने देखिए—

"आर्य-समाज की कृपा से सनातनधर्मियों में भी अनेक संरक्षक उत्पन्न हो गये हैं। शास्त्रार्थ करना, लेक्चर देना और ज़रूरत पड़ने पर कीचड़ उछालना भी ये लोग ख़ूब सीख गये हैं। कानपुर-ज़िले के × × ग्राम में × × × राम शास्त्री नाम के एक महोपदेशक हैं। 'आर्य-समाजियों के महामोह-निवारणार्थ ईश्वर अर्थ और शास्त्रविचार में रत हैं। और सबसे बड़ी बात यह कि अपने प्रतिपक्षी समाजियों की तरह आप भी बड़े मधुरभाषी हैं। 'साइंस' के भी आप उत्कट ज्ञाता मालूम होते हैं, क्योंकि आपने लिखा है कि—"चन्द्रमा बिलकुल बूढ़ा हो गया है। वह ज़्यादा से ज़्यादा पाँच सौ वर्ष तक काम दे सकेगा।" आपकी राय है—"चैतन्यता (!) से ईश्वर-सिद्धि पुष्ट है, अकाट्य है, अतएव मान्य है"। ऐसे विद्वान् और ऐसे संस्कृतज्ञ के तर्कों और सिद्धान्तों पर हम जैसे अल्पज्ञ क्या कह सकते हैं! शास्त्री जी ने पहली पुस्तक के ८० पृष्ठ लिखकर, प्रस्तुत विषय का उपसंहार किये बिना ही, उसकी समाप्ति कर दी है, और टाइटिल पेज लगाकर उसकी अलग पुस्तक बना डाली है। दूसरी पुस्तक का आरम्भ बिना कुछ कहे सुने या भूमिका लिखे फिर ८१ वें पृष्ठ से किया है। इसका कारण समझ में नहीं आया। आज-कल तो इस तरह पुस्तकें लिखी नहीं जातीं। वेदों के ज़माने में लिखी जाती रही हों तो मालूम नहीं!"

× × × ×

पर व्यक्तिगत कटाक्ष करते समय वे व्यंजना से अधिक सहायता लेते हैं। स्पष्ट है कि इस शैली से प्रहार करने में वितण्डा बढ़ने की कम संभावना रहती है और चोट भी ठीक निशाने पर बैठती है। इस ढंग के नमूने देखिए—

"खोज की त्रैवार्षिक रिपोर्ट—जिस खोज की यह रिपोर्ट है, उसके सुपरिंटेंडेंट थे श्रीयुत पंडित श्यामबिहारी मिश्र, एम० ए०।

पर काम था बहुत बड़ा; अकेले आपसे न हो सकता था। इस कारण आपके छोटे भाई श्रीयुत शुकदेवबिहारी मिश्र, बी० ए०, आपके सहायक हो गये थे। अर्थात् वे खोज के असिस्टेंट थे। इन दो-दो सुपरिन्टेंडेंटों ने मिलकर जो रिपोर्ट लिखी है, उसकी पृष्ठसंख्या ७ है। हाँ, आरम्भ में एक पृष्ठ की एक प्रस्तावना भी आप लोगों की लिखी हुई है।"

(सरस्वती, नवम्बर १९१४)

"××× ऋग्वेद पर व्याख्यान—यह संस्कृताध्यापक पंडित भगवद्दत्त बी० ए० की कृति है। इसमें निष्कर्ष यह निकाला गया है कि "वेद मानवरचना से परे हैं। ऋषियों में प्रविष्ट हुई किसी और ही वाणी ने उनकी रचना की है। उस वाणी में होनेवाले वेद मनुष्यरचित कैसे हो सकते हैं।" मतलब यह कि जैसे व्याख्याता जी भगवद्दत्त हैं, वैसे ही उनके वेद भी भगवद्दत्त हैं।"

(सरस्वती, अप्रैल १९२४)

इसमें भगवद्दत्त शब्द की श्लेष-मूलक व्यञ्जना-द्वारा द्विवेदी जी ने विपक्ष का किस कौशल के साथ खंडन कर दिया। वेदों में भी उतनी ही अपौरुषेयता है जितनी किसी मनुष्य में है। केवल एक शब्द से कितना बड़ा काम ले लिया और वह भी विवाद का अवसर न देते हुए।

ये तो उनकी दंशशैली और सीधे प्रहार के नमूने हुए, अब कुछ नमूने आड़े प्रहार के भी देखिए—

पागलों के मनोरञ्जन के लिए सरकार ने पागलखानों में जो-जो प्रबन्ध किये हैं उनका विस्तृत परिचय देते हुए अंत में वे लिखते हैं—

"सरकार की हितैषणा और दान-दयालुता की एक बात लिखना हम भूल ही गये। उसने पागलों के मनोरंजन के लिए भी बहुत से प्रबंध कर रखे हैं। पागलों के लिए पचीसी, शतरंज और ताश खेलने के लिए वक्त मुक़र्रर है। वे लोग फ़ुटबाल और टेनिस भी खेलते हैं। हर रविवार को ढोलक बजती है, मँजीरे की भी किट किट होती है और साथ ही दिल लुभानेवाला गाना भी होता है। जनाबेआली, रंडियाँ भी कभी-कभी पागलख़ानों में छमाछम करती हुई पधराई जाती हैं। वे नाचते समय अपने हावभाव दिखाकर और गाना सुनाकर हर कक्षा के पागलों के दिमाग़ को ठिकाने लाने की चेष्टा करती हैं। पर एक बात की कमी है। पागलख़ानों में कुछ ग्रामोफ़ोन भी रहने चाहिए। उन पर बजाने के लिए और रेकार्डों के साथ एक एक रिकार्ड पीछे से बजाने के लिए, यह भी रहना चाहिए—

राज करें अँगरेज़ सदा ही।"

(सरस्वती, अक्टोबर १९२७)

किसी विलायती डाक्टर ने आँसुओं की कीटाणु-नाशक शक्ति का पता लगाकर अनेक रोगों पर उसके सफल प्रयोगों का अनुभव प्राप्त किया। विलायती पत्रों ने भी उस आविष्कार का ख़ूब विज्ञापन किया। सामयिक बात थी और अनोखी भी थी, अतः द्विवेदी जी भी उसकी उपयोगिता की प्रशंसा कैसे न करते। पर उनकी प्रशंसा का ढङ्ग बड़ा चुटीला था। तारीफ़ के सिलसिले में वे लिखते हैं—

"ओषधियों में काम आने के लिए अभी जैसे बहुत से आदमी अपना रक्त बेचते हैं, वैसे ही रुक्कड़ कुमारियाँ और कामिनियाँ घड़ों आँसू बेचा करेंगी। इससे उन्हें न कोई कष्ट होगा और न कोई हानि ही होगी। सुबह उठीं और रोकर आँसुओं से एक गिलास भर दिया।

महीने भर का नहीं तो हफ़्ते भर का ख़र्च ज़रा देर में निकल आया। सचमुच यह आविष्कार बड़े काम का है। इससे तो हज़ारों की रोज़ी चल सकती है।''

(सरस्वती, जून १९२४)

पागलख़ानों की रिपोर्ट लिखते हुए द्विवेदी जी लगे हाथ साहित्यिक पागलपन पर भी फ़बती कस देते थे, और वह भी इतने छिपे हुए ढंग से कि समझनेवाले उसे समझ जायँ पर ऐतराज़ करने का मौक़ा भी किसी को न मिले। शिष्ट भाषा में इतनी छिपी हुई और उच्च कोटि की फ़बती साहित्य में बहुत कम मिलती है। फिर भाषा भी इतनी लोचदार और मुलायम कि शिकायत की गुंजाइश ही नहीं।

''पागलख़ाने की रिपोर्ट देखकर हमें सहसा सतत-संग्राम-विजयी राजा रामपालसिंह की याद आ गई। आप पागलख़ाने को सदा 'बावरालय' लिखा करते थे। किसी-किसी शब्द के संबंध में आपकी वर्णस्थापना-पद्धति भी विलक्षणता से ख़ाली न थी। आप 'हिंदोस्तान' और 'हिंदुस्थान' शब्द को या तो अशुद्ध समझते थे या वह उन्हें अप्रिय था। क्योंकि आपने पत्र का नाम रक्खा था—'हिंदोस्थान'। मालूम नहीं कि अरबी, फ़ारसी, तुर्की, हिंदी या संस्कृत—किस भाषा के व्याकरण के अनुसार आप उसे शुद्ध मानते थे। आपके स्वभाव में विचित्रतायें भी थीं। एक बार अपने निवास-स्थान के सामने कुछ विलायती सुअरों को चरते देखकर आपने कवियों को समस्या दी थी—'जिन शूकर न खावा तिन व्यर्थ जन्म पावा है।'

(सरस्वती, जुलाई १९२४)

आरंभ में, आलोचना करते समय जब उन्होंने ऐसी व्यंग्य और कटाक्षपूर्ण भाषा का प्रयोग किया था तब उन पर—

The language of the criticism as that of a mimic.

कहकर कटाक्ष किया गया था। द्विवेदी जी ने इसका उत्तर देते हुए लिखा था—

If such is really the case the public have no reason to complain; on the other hand, they should thank me for belending instructions with amusenments.

द्विवेदी जी की व्यंग्य-शैली का यही प्रधान उद्देश्य था। समालोचना करते समय किसी लेखक या कवि की हँसी, उसका अपमान करने के लिए वे नहीं करते थे। उनका उद्देश्य केवल यह था कि लेखक सावधान हो जायँ और कोई ऐसा काम न करें जो आचार्यत्व या पाण्डित्य के अनुरूप न हो।

(३) उनकी शैली का तीसरा रूप ओजप्रधान है। लेखकों ने जब-जब भारतीयता की भावना का विरोध किया या अनुचित प्रशंसा अथवा दोषारोपण करने की चेष्टा की, तब-तब द्विवेदी जी ने उनको बुरी तरह फटकारा। इस प्रकार के कथन में ओज का होना स्वाभाविक भी है। यहाँ हम उनकी इस शैली का एक उदाहरण देते हैं। एक महाशय ने 'अँगरेजी राज्य के सुख'-शीर्षक एक पुस्तक लिखी। उसकी भूमिका का कुछ अंश यों है—

Behind and below the ostensible manifestations of loyalty and devotion, there runs an under-current of discontent and unrest brought

into being by the cheap notoriety-seeking news-papers and the glibtongued political agitators.

द्विवेदी जी को इस प्रकार के लेखकों से बड़ी चिढ़ थी। अतः उन्होंने इस पुस्तक की आलोचना करते समय इस पर यह टिप्पणी लिखी—

"समाचार-पत्रों और राजनीति की चर्चा करनेवालों को असंतोष फैलानेवाले अतएव छिपे हुए राजद्रोही कहकर लेखक ने अपने हृदय का कालुष्य अम सबको दिखा दिया है। जिस निमित्त उन्होंने यह पुस्तक लिखी है उसकी सिद्धि इस प्रकार विषवमन किये बिना भी हो सकती थी। लेखक के पास क्या सबूत है कि सारे भारतवासी वैसे ही हैं जैसा कि लेखक महाशय उन्हें बताते हैं? आप यदि 'कोई-कोई', 'कुछ', 'एक-आध', 'दस-पाँच' लिखकर अपने आक्षेप की व्यापकता सीमाबद्ध कर देते वहाँ तक आप क्षमायोग्य थे। पर आपने ऐसा करने की भी ज़रूरत नहीं समझी। इस दशा में यदि कोई कहे कि लेखक भी इसी कोटि के हैं, सिर्फ़ अपना मतलब गाँठने के लिए उन्होंने ये अक्षम्य निंदावाक्य लिखे हैं तो उसका कहना उतना ही सच समझा जायगा जितना आपका अख़बारों के विषय में पूर्वोक्त कथन। फिर इस अप्रासङ्गिक निंदावाद की ज़रूरत ही क्या थी? क्या नियामतों का वर्णन बिना इस प्रकार की निंदा के शोभा न देता? बात यह है कि शिक्षाप्राप्ति से भी किसी-किसी मनुष्य का स्वभाव नहीं बदलता—

सौ जुग पानी में रहे मिटै न चकमक आगि।"

यह अवतरण उनकी ओज-कटाक्षपूर्ण आलोचनाशैली का सुन्दर नमूना है। इससे हमें उनके स्वभाव और उद्देश्य का परिचय मिल जाता है। यहाँ उनका यह आशय नहीं है कि

सभी दूध के धोये हैं; किसी में विरोध-भावना है ही नहीं। वे तो लेखक को यह सुझाना चाहते थे कि इस प्रकार, बिना समझे-बूझे, बेतुकी बातें, केवल निज स्वार्थसाधन-हेतु, करना निन्दनीय है। साहित्य-सेवी होने का दावा करनेवाले महानुभावों ने भी जब इसी प्रकार की अनर्गल बातें बकी हैं तब द्विवेदी जी ने इसी शैली का प्रयोग किया है। ऐसे स्थलों में उनका उद्देश्य केवल यह रहता था कि लेखक स्वयं लज्जित हो और स्थिति तथा अपना उत्तरदायित्व समझकर काम करे।

दूसरों के विचार

द्विवेदी जी की इस आलोचना-पद्धति की स्वयं विवेचना करने के पहले उसके विषय में दूसरों के विचार जान लेना आवश्यक है। जब द्विवेदी जी ने 'कालिदास की निरंकुशता' दिखाने का प्रयत्न किया तब विद्वानों ने उन पर तरह-तरह के आक्षेप किये और कुछ तो विरोधावेश में सज्जनता की सीमा भी पार कर गये। 'सद्धर्म्म-प्रचारक'-नामक पत्र के सम्पादक ने तो यहाँ तक कह डाला—

"प्रयाग की सरस्वती, पिछले वर्ष, अपने योग्य संपादक महावीरप्रसाद द्विवेदी के रोगार्त हो जाने से फीकी पड़ गई थी। अब दो मास से फिर द्विवेदी जी ने उसका संपादन-कार्य आरंभ कर दिया है। आपका समालोचनारूपी नश्तर दिनप्रतिदिन तेज़ हो रहा है। पहले आपने उससे पाठ्य पुस्तकों और बाबू सीताराम की कविताओं के अंगों की चीर-फाड़ की थी। उसके पीछे भारतेन्दु हरिश्चंद्र जी तथा बाबू गदाधरसिंह आदि पुराने लेखकों की सड़ी हुई भाषा के कीड़े आपने निकाले थे। अब, कविकुलगुरु कालिदास की बारी आई है। ऐसा दीखता है कि कविकुलगुरु की भाषा पुरानी

हो जाने के कारण अब संशोधन चाहती है और अन्य कोई साहसी डाक्टर मिलना कठिन जान पड़ता है। अतः द्विवेदी जी कुर्त्ता चढ़ाकर और नश्तर तेज़ करके कालिदास के पीछे पड़े हैं। संस्कृत-भाषा के लिए शुभ ही दीख पड़ता है।''

द्विवेदी जी की संस्कृत-कवियों की आलोचनाओं पर की हुई टिप्पणियों में से यह एक है। उनके अन्य विरोधी तो और भी आगे बढ़ गये थे। पंडित (जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी) मनसाराम ने अपनी पुस्तक 'निरंकुशाता-निदर्शन' में इनमें से कुछ का संकलन किया है। इन सबका उत्तर देने के लिए द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के अप्रैल, मई और जून (१९११) के अंकों में 'प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्भावना'-शीर्षक एक निबन्ध लिखा था। इसी में वे कटाक्ष करते हुए लिखते हैं—

''पश्चिमी देशों के विद्वान् भारतवर्ष के पंडितों पर यह दोषारोपण करते हैं कि वे समालोचना करना नहीं चाहते। गुण-दोष-परीक्षा करने की शक्ति ही उनमें नहीं। Critical faculty से वे प्रायः ख़ाली हैं। जिस देश के पढ़े-लिखे लोगों का यह हाल है कि पुराने पंडितों के दोष दिखाना वे पाप समझते हैं उनमें गुण-दोष-निर्णायक शक्ति, बतलाइए, कैसे उत्पन्न हो या न हो, बोलो मत। वाल्मीकि या कालिदास के दोष दिखाकर नरक में जाने का उपक्रम मत करो। यदि समालोचना किये बिना न रहा जाय तो प्राचीन ग्रंथकारों के गुण ही गुण गाओ। जब उन्हें सुनते-सुनते लोग ऊब जायँ तब दोष दिखाना। भाषा-विज्ञान और गुणदोष-विवेचनात्मक आलोचना सीखने के लिए गवर्नमेंट भारतीय युवकों को विलायत और जर्मनी भेजे तो उसे भेजने दो। तुम क्यों नाहक़ पुराने पंडितों के दोष दिखाकर व्यर्थ के लिए पातक मोल लेते हो? न सुनोगे तो तुम्हें वर्षों गालियाँ सुनावेंगे और तुम्हारे लेख ही की नहीं किंतु तुम्हारी

भी समालोचना करेंगे। जो लोग प्राचीनों की पुस्तकों की समालोचना के ख़िलाफ़ हैं वे, और, कतिपय हमारे अन्य मित्र भी ऐसी ही तर्कना करते हैं!''

इस टिप्पणी में जो संकेत किया गया है वही व्यवहार द्विवेदी जी के साथ, संस्कृत-कवियों के दोष दिखाने पर, किया गया था। इस विरोध का कारण जानने के लिए मैंने द्विवेदी जी की 'कालिदास की निरंकुशता' भी ग़ौर से देखी और मनसाराम जी की 'निरंकुशता-निदर्शन' का भी अध्ययन किया। ठंडे दिल से दोनों पक्षों के विद्वानों की कुछ सम्मतियाँ भी देख गया। द्विवेदी जी ने जो दोष दिखाये हैं वे दोष हैं या नहीं, मनसाराम जी ने उनका जो खंडन किया है, वह यथार्थ है या नहीं, इस विषय पर तो कुछ कहने की हममें योग्यता नहीं। हाँ, इतना लिखना हम आवश्यक समझते हैं कि पक्ष-विपक्ष के बहुत-से विद्वान् द्विवेदी जी और उनके उद्देश्य को, कम से कम इस विषय में, समझे नहीं। द्विवेदी जी ने प्राचीन कवियों की समालोचना तो की ही नहीं है। उन्होंने तो संस्कृत-समालोचकों के कालिदास की कृतियों में दिखाये हुए दोषों का अनुवाद-सा करके पाठकों के सामने रख दिया है। यह बात उन्होंने अपने एक पत्र में बाबू कालिदास जी कपूर को लिखी थी। पत्र ३१-१-१८ को लिखा गया था। उसमें उन्होंने लिखा था—

"निरंकुशता का उद्देश्य निंदा नहीं। उसका अधिकांश क्या, प्रायः सर्वांश प्राचीन टीकाकारों का ही माल है।"

अतः विरोध की कहीं गुंजाइश ही नहीं थी और यदि विरोध किया जाना ही चाहिए था तो द्विवेदी जी का नहीं, वरन

संस्कृत के उन समालोचकों का। मनसाराम जी तथा उनके दल के विद्वानों के हृदयों में जो विरोध-भावना पैदा हुई उसका प्रधान कारण द्विवेदी जी के लेख का शीर्षक था। कालिदास ! महाकवि कालिदास !! विश्वविख्यात कवि कालिदास !!! की निरंकुशता !!!! यह बात जयपुर-निवासी स्वर्गीय पंडित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बी० ए० और बंगाल-गवर्नमेंट के प्रधान हिंदी-अनुवादक पंडित सोमनाथ झाड़खंडी, बी० ए० की द्विवेदीजी और मनसाराम जी के निबन्धों पर दी हुई सम्मति से स्पष्ट हो जाती है।

हिंदी-पुस्तकों की आलोचनाओं से तो लोग और भी अधिक क्रोधित होते थे। द्विवेदी जी ने स्वयं इस बात को लिखा है। इंडियन प्रेस के मालिक स्वर्गीय बाबू चिंतामणि घोष की पुण्यस्मृति में 'सरस्वती' का एक "श्राद्धांक" १९२८ में प्रकाशित हुआ था। उसी में द्विवेदीजी ने लिखा है—

"मेरी समालोचनाओं से कितने ही सज्जन उद्विग्न हो उठते थे। वे उनका खंडन करते थे। कटूक्तियों से काम लेते थे। मुझ पर तरह-तरह के इलज़ाम लगाते थे।"

इस विरोध के दो कारण थे। पहला तो द्विवेदी जी की स्पष्टवादिता और दूसरा ग्रंथकारों की समालोचनाओं-द्वारा पुस्तकों की बिक्री करवाने की अभिलाषा। दूसरा कारण प्रधान था। एक महाशय ने लिखा—

"कृपया यह किताब जो मैं आपके पास भेजता हूँ, इसकी कुछ बिक्री नहीं हुई। इसलिए आप ऐसी समालोचना कर दीजिएगा कि

ख़ूब बिक्री होवे। और कोई कार्य ख़िदमत मेरे योग्य होय तो लिखिए बसरोचश्म तामील की जावेगी।

इति शुभम्।
भवदीय
पुस्तकाध्यक्ष"

द्विवेदीजी ने कोई खिदमत योग्य कार्य लिखने के बजाय 'सरस्वती' (भाग १६, संख्या ४) में यह लिख दिया—

"एक महाशय ने हिंदी का एक छोटा-सा व्याकरण बनाया है। वह 'छात्रार्थ कक्षा ४' है। इस पुस्तक की एक पुरानी और महामैली कापी से हमें किसी ने कृतार्थ किया है। पुस्तक के आवरण-पृष्ठ की पीठ पर पेंसिल से लिखा हुआ उर्दू में कुछ हिसाब-किताब भी दर्ज है। इसके साथ ही एक पत्र हमें मिला है, जिस पर किसी के दस्तख़त नहीं हैं।"

यह स्पष्टवादिता लोगों को उनका विरोधी न बना देती तो क्या करती? 'विश्वकोष' की आलोचना करते हुए द्विवेदी जी ने जून, १९२७ की सरस्वती में लिखा—

"आलोचना से प्रकाशकों का मतलब इस कोष की केवल प्रशंसा या विज्ञापन से है। उनके पत्र से यही बात सूचित होती है; क्योंकि उन्होंने अपने पत्र में लिखा है—

A good deal of the prospects of the book depends on your appreciation of its merit and public announcements of the same.

परन्तु हमारा कर्तव्य हिन्दी-विश्व-कोष के प्रकाशकों की आज्ञा का पालन करने के सिवा और भी कुछ है। जो सज्जन इस लेख को

पढ़ेंगे उनसे किसी महत्त्वपूर्ण समालोच्य पुस्तक के संबंध में कोई बात छिपा रखना उन्हें धोखा देना है और यह हम करना नहीं चाहते। अतएव हम इस कोष के संबंध की दो-चार दोषावह बातें भी, अपनी समझ के अनुसार लिख देते हैं।"

—सरस्वती

स्पष्टवादिता के उक्त उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उनका विरोध होना, एक प्रकार से, स्वाभाविक ही था। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि सभी विद्वान् उनका विरोध करते थे। संस्कृत और हिंदी की पुस्तकों की तीव्र और कटु आलोचना से चिढ़कर जहाँ उनका विरोध और उन पर वाक्-बाणों का प्रहार करनेवाले अनेकानेक सज्जन थे वहाँ एक सज्जन यह भी कहनेवाले मौजूद थे—

Kosi, Dist. Muttra
18th March, 1898.

Dear Sir,

I am glad to see that you are really doing a great service to the cause of Hindi literature by publishing from time to time reviews of works recently published. Such attempts will touch the lovers of Hindi and the art of criticism will not fail to exercise a healthy influence on the minds of our authors, so that works of intrinsic value will be distinguishable from bad.

Yours
Baij Nath.

हिन्दी-पुस्तकों की आलोचना से होनेवाले लाभ को तो उनके विरोधियों ने भी स्वीकार किया था। वे जानते थे कि उनकी की हुई आलोचना का हिन्दी में ही नहीं, उसके बाहर भी बड़ा आदर है, और जिस पुस्तक की आलोचना 'सरस्वती' में निकल जायगी उसकी थोड़ी-बहुत प्रतियाँ अवश्य बिक जायँगी। 'पुस्तकाध्यक्ष' तथा 'हिंदी-विश्व-कोष" के प्रकाशकों के उक्त पत्रों से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। स्वयं द्विवेदी जी ने ही इस बात को कई बार कहा था। ८ जनवरी, सन् १९०० में ही उन्हें अपनी आलोचना-विषयक सफलता का अनुमान हो गया था। झाँसी से उन्होंने लिखा था—

The public acknowledged the good result produced by my work as a critice, and the fact of not a single newspaper contradicting the defects of the books that I have exposed, proves that the public has accepted my views. That my reviews have done ample service to the saqse of Hindi literature is evident from the action of the reviser of the 3rd Hindi Reader who has adopted nearly three-fourths of the suggestions made by me.

प्रभाव और समीक्षा

यद्यपि द्विवेदी जी का समालोचना-सम्बन्धी आदर्श बहुत ऊँचा था, तथापि उनकी समालोचनायें विवेचनात्मक न होकर केवल परिचयात्मक ही हैं, मनन की विशेष सामग्री उनमें नहीं है। इस बात को स्वीकार करते हुए उन्होंने एक पत्र बाबू कालि-

दास जी कपूर को २०-२-१८ को जुही (कानपुर) से लिखा था। वे लिखते हैं—

"आप संपादकों की कठिनाइयों से परिचित नहीं। वे समालोचक नहीं, परिचयदातामात्र हैं। रद्दी किताबों को लौटाने और भेजनेवालों से लिखा-पढ़ी करने और झगड़ने के लिए उनके पास समय कहाँ? ऐसी ही और भी बहुत-सी बातें हैं।"

समालोचक का काम गुण दोषों की परीक्षामात्र करना ही वे समझते थे। समालोचक को न्यायाधीश बनाने से उनका उद्देश्य यही था कि वह निष्पक्ष होकर अपनी सम्मति दे और दूध को दूध, और पानी को पानी कर दे। कुछ महाशय इस प्रकार की समालोचना की कोई आवश्यकता ही नहीं समझते। उनका कथन है—

ग्रंथकार हैं और पाठक हैं। दोनों आपस में निपट लेंगे। इन दोनों के बीच एक तीसरे आदमी के कूद पड़ने की आवश्यकता ही क्या है? उपभोग है और उपभोक्ता है, ज्ञान है और ज्ञाता है। किसी को यह क्या अधिकार है कि वह मनुष्य को ज्ञान के एक निर्दिष्ट पथ पर ही चलने की आज्ञा दे?

हम इस बात से सहमत नहीं और न हिंदी की तत्कालीन साहित्यिक परिस्थिति ही इस योग्य थी कि लेखकों और पाठकों को आपस में समझ लेने दिया जाता यों तो जनता स्वयं अपनी सम्मति देती ही रहती है जिसका पता हमें प्रकाशकों की अलमारियाँ देखकर लग जाता है, परंतु यदि समालोचक साधारण जनता को यह न बतावे कि अमुक पुस्तक का मूल्य है और लेखक को यह न समझावे कि उसकी अमुक कृति में क्या गुण-दोष हैं, तो साहित्य की उन्नति में बड़ी ही बाधा पड़ेगी। 'साहित्य-सृष्टि के कार्य-संचालन के लिए, साधारण सृष्टि की भाँति ही ब्रह्मा, विष्णु

और महेश तीनों की आवश्यकता रही है और रहेगी। यदि ब्रह्मा और विष्णु का काम होता रहा और शिव अपने गणों को साथ लेकर अपने संहार-कार्य में संलग्न न हुए तो साहित्य-सृष्टि के सभी कार्य अव्यवस्थित हो नष्ट हो जायँगे।

हाँ, यह दूसरी बात है कि एक साधारण सामाजिक व्यक्ति के लिए निष्पक्ष न्यायाधीश बन जाना सरल नहीं है। साहित्योन्नति की सात्त्विक प्रेरणा से प्रेरित होकर जो द्विवेदी जी समालोचना किया करते थे, स्वयं उनके विषय में भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे सदैव निष्पक्ष रहे हैं। निष्पक्ष विवेचना का दम भरनेवालों को श्रीयुत नवीनचन्द्र का यह कथन स्मरण रखना चाहिए—

"यह तो निश्चित है ही कि कोई भी मनुष्य अपने चिरकालार्जित संस्कारों और धारणाओं के विरुद्ध कोई बात लिख ही नहीं सकता। तब उसकी समालोचना निष्पक्ष कैसे हो सकती है? हमारा तो यह ख़याल है कि जो लोग निष्पक्ष होने का दावा रखते हैं, वे मानों अपनी ख़ुस्सारता सिद्ध करना चाहते हैं।"

—सरस्वती (भा० २२, सं० १, पृ० १७)

फिर भी हम यही कहेंगे कि सच्चा समालोचक साहित्य और समाज की निष्पक्ष होकर आलोचना करता है। वह चाहता है कि साहित्य और समाज में छाई हुई निस्तब्धता भंग कर दी जाय और लेखकों तथा समाज के व्यक्तियों को उनकी हीनता और त्रुटि से इस प्रकार परिचित करा दिया जाय कि वे उन दोषों और त्रुटियों को दूर करने के लिए कटिबद्ध हो जायँ। द्विवेदी जी ने भी यही किया। समाज की बात जाने दीजिए, साहित्यिक क्षेत्र में आरंभ से ही उनका उद्देश्य उच्च कोटि के साहित्य की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करता रहा है।

पर साधारण लेखकों की रचनाओं को भी बिलकुल व्यर्थ कह-कर उनका निरादर करना उनको पसंद नहीं था। यद्यपि ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ वे अप्रिय सत्य कहते दिखाई देते हैं—इसका कारण उनकी स्पष्टवादिता है—तथापि अधिकांश में उन्होंने गुणों की ही प्रशंसा की है और दोषों को भी छिपाने का प्रयत्न नहीं किया है। यदि लेखक को किसी प्रकार का अभि-मान रहा हो तब उसकी कृति की आलोचना करते समय उन्होंने व्यंग्य और कटाक्ष का आश्रय जरूर लिया है; पर जहाँ लेखक विनम्र होकर साहित्य-सेवा करता हुआ दिखाई दिया है, वहाँ द्विवेदी जी ने दोषों को भी ऐसे ढंग से दिखाया है कि लेखक का सिर कृतज्ञता से उनके आगे झुक ही गया है। इसी बात को लक्ष्य करके श्रीयुत लक्ष्मणनारायण गर्दे ने 'हंस' के द्विवेदी-अभिनंदनांक में लिखा है—

"ऐसी सम्यक् शब्द-योजना है कि सत्य भी है और प्रिय भी है।"

—हंस (अप्रैल, १९३३, पृ० ४)

समालोचना कला की दासी है और साहित्य-निर्माण के पीछे चलती है। अतः यदि द्विवेदी जी के समय में हिंदी-समा-लोचना कला का सुन्दर रूप नहीं ले पाई, तो उसका कारण यह था कि हिंदी-साहित्य के प्रायः सभी अंग—काव्य को छोड़-कर—रिक्त थे। साहित्यिक समालोचना-संबंधी आदर्श की भिन्नता के कारण उत्पन्न अनेकानेक विवादों और विरोधों के होते हुए भी हिंदी-साहित्य दिन-प्रतिदिन उन्नत होता गया। जिस पुनीत उद्देश्य को लक्ष्य करके 'सरस्वती'-द्वारा साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश करने के पहले ही उन्होंने 'हिंदी-कालिदास की आलो-चना' करते समय अनुवादों के भाषाविषयक साधारण और

बड़े, सभी प्रकार के दोषों का दिग्दर्शनमात्र कराया था तथा आगे चलकर संस्कृत के अनेक सुप्रसिद्ध कवियों की विशेषता-परिचायक समीक्षा की थी, जिसे देखकर हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में धाँधली मचानेवाले अनधिकारी लोगों ने अनधिकार की चर्चा करना ही छोड़ दिया, वह कालांतर में पूर्ण हुआ और समालोचना साहित्य का प्रधान अंग समझी जाने लगी। फलतः साहित्य-सेवियों का ध्यान साहित्य के इस नवीन अंग की पूर्ति की ओर भी गया। कुछ ही दिनों में आलोचना विषय पर अनुवादित और मौलिक ग्रंथ हिंदी में दिखाई देने लगे जिससे उच्च कोटि के साहित्य की पुस्तकें भी लिखी जाने लगीं।

निबंध और ग्रंथ

जिस भाषा में जितने उच्च कोटि के निबंध होते हैं, वह उतनी ही उन्नत समझी जाती है। कारण निबंध लिखना कहानी, उपन्यास, नाटक आदि के लिखने की अपेक्षा कठिन है। निबंधलेखक को, थोड़े स्थान में, बहुत कुछ कहना होता है। इसके लिए विशाल अनुभव चाहिए। जिसकी प्रकृति मननशील नहीं और जिसके अध्ययन में प्रौढ़ता नहीं वह सफल निबंध-लेखक नहीं हो सकता। भाषा, भाव, शैली और तत्त्व अथवा विषय, सब पर निबंधलेखक का पूर्ण अधिकार होना अनिवार्य है।

हिंदी में अच्छे निबंधों का प्रायः अभाव है। कारण यह है कि यहाँ न तो निबंध लिखने की यथोचित शिक्षा देने का प्रबंध है और न लेखकों का उचित सत्कार ही होता है। आजकल हमारी विद्वत्ता और योग्यता का मूल्य अर्थ की तुला पर तौल कर आँकने की परिपाटी चल पड़ी है। अतः लेखक भी वही माल तैयार करते हैं जिसकी बाजार में खपत होती है और जिससे उनकी रोटी चलती है। यही कारण है कि हमारी हिंदी में कथा-कहानियों की तो बाढ़ आ रही है, पर निबंध बहुत कम लिखे जाते हैं। पर भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय की परिस्थिति आजकल की-सी न थी। उस समय लोग मनोविनोद के लिए साहित्य पढ़ते थे और शौक के लिए लिखते थे; साहित्य से अर्थोपार्जन की प्रवृत्ति उन दिनों कम दिखाई देती थी, अतः उस समय के कुछ लेखकों ने निबंध भी

लिखे थे, जिनमें पंडित प्रतापनारायण मिश्र और पंडित बालकृष्ण भट्ट के नाम विशेष आदर से लिये जाते हैं। मिश्र जी प्रायः सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर लिखा करते थे; उनके साहित्यिक लेख अधिक नहीं हैं। भट्ट जी के लेख अधिकतर गंभीर और भावपूर्ण हैं; उनमें घनिष्ठता और व्यक्तित्व की छाप प्रत्यक्ष परिलक्षित होती है। इन्हें हम साहित्यिक और कल्पना सापेक्ष कह सकते हैं। इनकी समता अँगरेज़ी के सुप्रसिद्ध निबंधलेखक चार्ल्स लैम्ब से की जा सकती है।

इनके अतिरिक्त और भी दो-चार छोटे-मोटे निबन्ध-लेखक इस समय में हुए, पर वे इतनी प्रसिद्धि न पा सके। कारण यह था कि इन लेखकों का सारा ध्यान साहित्य के इसी महत्त्वपूर्ण अंग की पूर्त्ति की ओर न था। ये लोग कभी अख़बार निकालते थे, कभी उपन्यास और नाटक लिखते थे और कभी कविता की आलोचना अथवा इतिहास की खोज करते थे। मिश्र जी और भट्ट जी के बाद बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पंडित गोविंदनारायण मिश्र और पंडित माधवप्रसाद मिश्र आदि का नाम आता है। इनमें गुप्त जी तो निबंधलेखक की हैसियत से प्रसिद्ध हैं और शेष दोनों लेखक अपनी शैलियों की विशेषता के कारण। यही लेखक हमें द्विवेदी-युग में ले जाते हैं।

ऊपर के कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि द्विवेदी जी के प्रादुर्भाव के समय हिंदी में अन्य भाषाओं की अपेक्षा साहित्यिक निबंध बहुत कम थे। जिस समय उन्होंने 'सरस्वती' का संपादनकार्य ग्रहण किया, उस समय किसी को यह आशा न थी कि वे साहित्य के इस रिक्त अंश की

कुछ भी पूर्ति कर सकेंगे। द्विवेदी जी ने भारतेंदु के समकालीन निबंधलेखकों की तरह निबंध लिखे भी नहीं। पंडित प्रतापनारायण मिश्र, पंडित बालकृष्ण भट्ट आदि ने सामयिक, राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों पर निबंध लिखे थे, जो वर्णनात्मक भी थे और भावात्मक भी। किन्तु द्विवेदी जी ने, आरंभ से ही, दूसरे विषयों को अपनाया। संपादन-कार्य ग्रहण करने के पहले उनके जो लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे वे अधिकतर समालोचना-संबंधी थे। इसका प्रमाण द्विवेदी जी के एक लेख से भी मिलता है, जो उन्होंने इंडियन प्रेस के संस्थापक बाबू चिंतामणि घोष के स्वर्गारोहण के बाद 'सरस्वती' के श्राद्धांक (सन् १९२८) में लिखा था। द्विवेदी जी लिखते हैं—

"चिंतामणि बाबू ने हिंदी की कुछ ऐसी रीडरें प्रकाशित कीं जो स्कूलों में जारी हो गईं। बात कोई ३९ वर्ष पहले की है। मुझे कारणवश उन रीडरों की समालोचना प्रकाशित करनी पड़ी।"

पर संपादक होने के बाद द्विवेदी जी ने समालोचना के अतिरिक्त भाषा, ऐतिहासिक खोज, वैज्ञानिक आविष्कार, औद्योगिक विकास, भारत का प्राचीन साहित्य, प्राचीन वैभव, प्राचीन गौरव आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर भी निबंध लिखे। स्पष्ट है कि इन विषयों पर हिंदी में उस समय तक एक-दो लेख ही लिखे गये थे। हाँ, दूसरी भाषाओं में विशेष कर अँगरेजी, बँगला, मराठी के पत्रों में उक्त विषयों पर अलबत्ता निबंध रहा करते थे। द्विवेदी जी को हिंदी की यह कमी बहुत अखरी, अतः उन्होंने प्रायः इन सभी विषयों पर निबंध लिखकर प्रकाशित किये। 'सरस्वती' की कोई संख्या ऐसी न होती थी जिसमें उनके

ऐसे लेख न छपते हों। जनता के लिए ये विषय नये थे, अतः वह इन्हें विशेष आदर की दृष्टि से देखती थी।

द्विवेदी जी के निबंधों में मुख्य पाँच विभाग किये जा सकते हैं—

१—साहित्यिक।

२—जीवनियाँ।

३—आविष्कार और विज्ञान-संबंधी।

४—पुरातत्त्व और इतिहास-संबंधी।

५—आश्चर्य-जनक और कौतूहल-वर्द्धक।

१—साहित्यिक—

द्विवेदी जी के साहित्य-विषयक निबंध ५० के ऊपर हैं। ये विशेष आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं। इनमें से कुछ तो भाषा और व्याकरण पर लिखे गये हैं, कुछ साहित्य-विवेचन पर। कुछ में ग्रंथों का आलोचनात्मक परिचय है और कुछ में भाषा व साहित्य-शास्त्रीय परिचय। इस प्रकार हम इनके चार भाग कर सकते हैं—

(क) हिंदी भाषा और व्याकरण-संबंधी—उस समय लेखक भाषा और व्याकरण के नियमों की विशेष परवा नहीं करते थे, अतः उनके लेखों में भाषा और व्याकरण-संबंधी दोषों की भर-मार रहती थी। द्विवेदी जी ने ऐसे लेखकों को सावधान करने के लिए 'भाषा और व्याकरण के दोष', 'भाषा की अनस्थिरता' आदि लेख लिखे। इन लेखों के द्वारा उन्होंने लोगों के सामने भाषा की शुद्धता का प्रश्न रक्खा। हिंदी-संसार में अपूर्व जागृति दिखाई देने लगी और भाषा व व्याकरण-संबंधी वादविवाद उठ खड़े हुए। इन विवादों से भाषा और शब्दों के रूपों में बहुत

कुछ सुधार हुआ और उसमें बहुत कुछ स्थिरता व एक-रूपता आगई।

(ख) साहित्य-शास्त्र-संबंधी—द्विवेदी जी के ऐसे निबंधों का साहित्य के इतिहास में प्रमुख स्थान रहेगा।

इस प्रकार के निबंध थोड़े ही हैं। यथा—'कवि और कविता', 'साहित्य की महत्ता', 'प्रतिभा' आदि। इन लेखों का उद्देश्य, उस समय के लेखकों और कवियों को, हिंदी की वास्तविक दशा से परिचित कराना तथा उन्हें अपने कर्तव्य और आदर्श के प्रति सचेत करना था। ये लेख गंभीर हैं और इनमें अध्ययन के लिए भी पर्याप्त सामग्री है।

(ग) ग्रंथों का आलोचनात्मक परिचय—इस विषय के निबंध तीन प्रकार हैं। पहले वे जिनमें संस्कृत के प्रसिद्ध कवियों की कृतियों की आलोचना की गई। 'नैषध-चरित-चर्चा', 'विक्रमांकदेव-चरित-चर्चा' और 'कालिदास की निरंकुशता' आदि निबंध इस श्रेणी में आते हैं। ये निबंध द्विवेदी जी की सूक्ष्म-विवेचनाशक्ति, प्रकांड पाण्डित्य और विशाल-अध्ययन के सूचक हैं। इनसे हिंदी-पाठकों को संस्कृतकाव्यों का परिचय मिला और उनमें उनके रसास्वादन व विवेचन का चाव जाग्रत हुआ। हिंदी में उस समय तक इस ओर बहुत ही कम ध्यान दिया गया था। इस बात को द्विवेदी जी ने अपने 'भवभूति' शीर्षक लेख में जो सन् १९०२ में लिखा गया था, इस प्रकार दिखाया है—

"प्राचीन कवियों पंडितों और नाटककारों के विषय में दो एक को छोड़कर हिन्दी के अन्य अनुरागी सज्जन कभी कुछ लिखते ही

नहीं। हिन्दी का साहित्य इस प्रकार के निबन्धों से शून्य-सा हो रहा है। जैसे और और बातों में बँगला और मराठी भाषा का साहित्य हिन्दी-साहित्य से बढ़ा हुआ है, वैसे ही वह इस विषय में भी है।"

दूसरे प्रकार के निबंध वे हैं जिनमें हिंदी-पुस्तकों की आलोचना की गई है। ये आलोचनायें हिन्दी की उन पुस्तकों की हैं जो द्विवेदी जी के समय में प्रकाशित होती और उनके पास समालोचनार्थ आती थीं। इनमें इतिहास, विज्ञान, भूगोल, गद्य-पद्य, नाटक, उपन्यास, जीवनचरित, धर्म आदि सभी विषयों की पुस्तकें हैं। द्विवेदी जी ने इन पुस्तकों की आलोचना करते समय नीर-क्षीर-विवेक का अच्छा परिचय दिया है। इनके अतिरिक्त सरकारी वार्षिक रिपोर्टों का भी आलोचनात्मक परिचय वे अपने पाठकों को समय समय पर दिया करते थे। इन समालोचनाओं से हिंदी-साहित्य के कूरा-करकट को छाँटने और नये होनहार लेखकों को प्रोत्साहित करने का आश्चर्यजनक कार्य हुआ।

तीसरे प्रकार के निबंध अन्य भाषाओं के ग्रंथों की आलोचना-संबंधी हैं। जैसे मराठी के रामायण और महाभारत नामक ग्रंथों का आलोचनात्मक परिचय। ऐसी आलोचनाओं में न केवल उनके गुण-दोषों का विवेचन किया गया है प्रत्युत उनकी तुलना में हिन्दी-साहित्य में जो कमी थी उनका भी निदर्शन किया गया है—हिंदी-लेखकों के लिए ऐसी आलोचनायें मार्गप्रदर्शन का काम करती थीं।

(घ) **साहित्य-शास्त्र**—'नाट्यशास्त्र', 'हिन्दी भाषा की उत्पत्ति' शीर्षक निबंध साहित्यशास्त्र-संबंधी लेख हैं। ये लेख कुछ बड़े हैं और अलग-अलग पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके

हैं। इनमें से पहला सन् १९०१ में लिखा गया था और दूसरा १९०३ में। ये निबंध अपने विषय के नये हैं और इनसे द्विवेदी जी के गंभीर अध्ययन का परिचय मिलता है।

२—जीवनियाँ—

द्विवेदी जी ने जीवनियाँ लिखने की आवश्यकता महामहोपाध्याय पंडित दुर्गाप्रसाद जी के जीवन-चरित (सन् १९०३) में इस प्रकार बताई है :—

"दुर्गाप्रसाद जी के चरित से यह स्पष्ट है कि एक सामान्य मनुष्य भी —यदि वैसी ही सच्चरित्रता और लगन से काम करे—सदाचरण और सद्विद्या के बल से सर्वसाधारण की, तो कोई बात नहीं, बड़े बड़े राजों-महाराजों का भी सम्मान प्राप्त कर सकता है और अपनी कीर्ति-कौमुदी से देश-देशान्तरों को धवलित भी कर सकता है।"

उपर्युक्त आदर्श सामने रख कर द्विवेदी जी ने अनेक लेखकों, कवियों, राजों-महाराजों और महापुरुषों के संक्षिप्त जीवन-चरित लिखे हैं। इनको सामान्यतः हम ५ भागों में बाँट सकते हैं—

(क) कवियों, लेखकों और साहित्य-प्रेमियों की जीवनियाँ—ये 'सरस्वती' के संपादन-काल में ही प्रायः लिखी गई हैं। इनमें से कुछ तो हिन्दी के प्राचीन व सामयिक लेखकों, कवियों व साहित्य-सेवियों से संबंध रखती हैं और कुछ अन्य भाषाओं से। इनमें से पहले प्रकार की जीवनियाँ लिखने में द्विवेदी जी का अभिप्राय यह था कि उनके द्वारा हिंदी के होनहार लेखकों व धनीमानी व्यक्तियों में अपनी मातृभाषा की सेवा व सहायता करने का भाव

जाग्रत हो और इस दिशा में उन्हें प्रोत्साहन मिले। दूसरे प्रकार की जीवनियाँ—यथा मायकेल मधुसूदनदत्त, नवीनचन्द्र राय व रवीन्द्रनाथ ठाकुर की इस उद्देश्य से लिखी गई थीं कि इन महापुरुषों को देश-विदेश में जो ख्याति प्राप्त हुई है उससे प्रभावित होकर लोग हिंदी-सेवा की ओर झुकें और साथ ही यह भी देख सकें कि इन मनस्वियों की सेवा और आराधना से इनकी मातृभाषा कैसी श्रीसम्पन्न हो गई है और हमारी मातृभाषा हिंदी अब तक कैसी रंक और हीन बनी हुई है। इस प्रकार के लेख 'सुकवि-संकीर्तन' में संगृहीत हैं।

(ख) विद्वानों, इतिहास-वेत्ताओं और वक्ताओं की जीवनियाँ—द्विवेदी जी ने ऐसे जिन व्यक्तियों के विषय में लिखा है, वे प्रायः सभी भारतवासी थे; पर अधिकांश अपनी मातृ-भाषा को छोड़कर विदेशी भाषाओं में लिखा करते थे। उनका संक्षिप्त परिचय देकर द्विवेदी जी उनसे अपनी मातृभाषा को अपनाने और उसी में लिखने का अनुरोध किया करते थे। उनके इस उद्योग से हिंदी को कई प्रतिभाशाली लेखक प्राप्त हो गये थे। महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा का नाम भी उन्हीं लेखकों में आता है, जो पहले अँगरेज़ी में ही लिखते थे, पर द्विवेदी जी की प्रेरणा से हिंदी में भी लिखने लगे।

(ग) शाहों, सुल्तानों और अमीरों की जीवनियाँ—इनमें से जो ऐतिहासिक हैं उनके लिखने का उद्देश्य यह था कि उनसे पाठकों का मनोविनोद भी हो और साथ ही साथ उन्हें इतिहास का भी ज्ञान हो। कुछ जीवनियों में ऐसे तथ्य भी दिये गये हैं जिन्हें किसी कारणवश उस समय के इतिहास-लेखक छिपाना चाहते थे। फलतः इतिहास के विद्यार्थियों

को ऐसी जीवनियों में एक नवीन दृष्टिकोण भी प्राप्त हो जाता था। जो जीवनियाँ सम-सामयिक राजाओं की हैं उनमें केवल उनके आदर्श गुणों का चित्रण विशेष ज़ोर के साथ किया गया है। इनका उद्देश्य स्पष्ट था कि उनसे अन्यान्य देशी नरेशों को शिक्षा मिले और जनता के साधारण ज्ञान की वृद्धि हो।

(घ) राजनीतिज्ञों और राजकीय उच्च पदाधिकारियों की जीवनियाँ—जनता को सामयिक देशी-विदेशी राजनीति से परिचित कराने के लिए यही साधन सबसे प्रशस्त और निरापद था। ऐसी जीवनियाँ जनता को देश की वर्त्तमान दशा का ज्ञान कराती थीं और अपने नेताओं के प्रति उनके हृदयों में श्रद्धा व विश्वास के भाव उत्पन्न करती थीं। राजनैतिक आन्दोलनों के लिए क्षेत्र तैयार करने में ऐसे लेखों व परिचयों से बड़ी सहायता मिलती थी। यही इन जीवनियों का मुख्य उद्देश्य था। राजकीय उच्च पदाधिकारियों की जीवनियाँ जनता में राजभक्ति की भावना क़ायम रखने के लिए लिखी गई थीं। स्पष्ट है कि उन दिनों के पाठकों के लिए ऐसी बातें भी विशेष महत्त्व रखती थीं, साहित्यिक दृष्टिकोण से न सही, राजनैतिक दृष्टिकोण से हम उस समय की अवस्था का अनुमान करते हुए इनकी उपयोगिता समझ सकते हैं।

(ङ) नूतन धर्म-प्रवर्त्तकों, प्रचारकों व सुधारकों की जीवनियाँ—सामाजिक हिताहित की दृष्टि से ऐसी जीवनियाँ ख़ास महत्त्व रखती हैं। द्विवेदी जी न केवल साहित्य और व्याकरण-संबंधी दोषों के सुधारक थे, समाज की रूढ़ियाँ और दोष भी उन्हें खटकते थे। इसके लिए रूढ़िवाद के

विरुद्ध उन्होंने कई स्वतंत्र लेख व कवितायें लिखी थीं। उस समय के सुधारकों का परिचय लिखने में भी द्विवेदी जी का खास ध्येय यही था जि जनता समाजगत बुराइयों को समझ जाय और सुधारकों के बतलाये हुए मार्ग पर चलकर अधिक से अधिक उन्नति कर सके।

३—आविष्कार और विज्ञान-संबंधी—

विज्ञान हिंदी के लिए बिलकुल ही नया विषय था और पहले-पहल द्विवेदी जी ने ही इस पर लिखना शुरू किया। इस प्रकार के निबंध भी अधिकतर 'सरस्वती' के संपादनकाल में ही लिखे गये थे। इनको लिखने में दूसरी पुस्तकों—विशेष कर अँगरेज़ी पत्र-पत्रिकाओं—से विशेष सहायता ली गई थी। आविष्कार और विज्ञान-संबंधी लेखों की आवश्यकता और महत्ता पर 'शिक्षा' नाम की पुस्तक की भूमिका (पृ० ४,५) में द्विवेदी जी लिखते हैं—

"व्यापार-धंधा करके यथेष्ट धन-संपादन का जो मार्ग स्पेन्सर ने बतलाया है वह और भी अधिक महत्त्व-पूर्ण है। क्योंकि, इस समय, इस विषय में हमारे देश की दशा अत्यन्त हीन हो रही है। हम लोगों को पेट भर खाने तक को नहीं मिलता। इस अवस्था में, सामाजिक या राजनैतिक विषयों की उन्नति होना प्रायः असंभव है। जो भूखा है वह समाज का क्या सुधार करेगा? उससे राजनैतिक विषयों की उन्नति की आशा रखना केवल दुराशा है। इसलिए हम लोगों को उदरपूर्ति के लिए पहले प्रयत्न करना चाहिए। इस विषय में हमारा एक-मात्र त्राता विज्ञान है। वैज्ञानिक शिक्षा को स्पेन्सर ने इसी लिए प्रधानता दी है और सब तरह की शिक्षाओं में इसी को सबसे अधिक उपयोगी बतलाया है। इस शिक्षा की ओर ध्यान देना प्रत्येक भारतवासी का परम कर्तव्य होना चाहिए।"

द्विवेदी जी के इस कथन पर जनता ने भी ध्यान दिया। इसके दो कारण थे। एक तो उदरपूर्ति का प्रश्न और दूसरा यह कि यह विषय उसके लिए नया था; अतः कौतूहलवर्द्धक था। ऐसे निबन्धों को भी यद्यपि हम साहित्य की स्थायी संपत्ति नहीं मान सकते, तथापि उपयोगिता की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व है, क्योंकि इन लेखों की अधिकांश बातें अब भी नई बनी हुई हैं।

४—पुरातत्त्व और इतिहास-संबंधी—

ये लेख भी दो प्रकार के हैं। पहले वे जिनमें भारत की प्राचीन सभ्यता, समृद्धि, वैभव और महत्ता पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे वे जिनमें ऐतिहासिकता का समावेश है। ऐसे लेखों में भारतीय इतिहास के हिन्दू-काल की मोटी-मोटी बातों की निष्पक्ष विवेचना की गई है। ये निबंध, मानस-मुक्ता-कार्यालय, मुरादाबाद की ओर से 'अतीत स्मृति' के नाम से प्रकाशित हो चुके हैं। पुरातत्त्व के अध्ययन के आरंभ से आज तक, भिन्न-भिन्न देशीय विद्वानों ने अपनी लंबी खोज के बाद जो निष्कर्ष निकाले हैं उन्हीं का सार द्विवेदी जी ने अपने लेखों में संगृहीत कर दिया है। इनमें एक बात बड़े महत्त्व की यह है कि ये इतिहास कीं तरह नहीं, बरन आधुनिकता का ध्यान रखते हुए विवेचनात्मक और रोचक ढंग से लिखे गये हैं। इससे दो लाभ हुए। एक तो यह कि इससे लेखों में मनोरंजकता आ गई और दूसरा यह कि लेख सरल और स्पष्ट बन गये। और जनता उनसे पूरा-पूरा लाभ उठा सकी।

५— आश्चर्य-जनक और कौतूहल-वर्द्धक—

इस प्रकार के लेख 'अद्‌भुत आलाप' नाम की पुस्तक में

संगृहीत हैं। यह पुस्तक गंगा-पुस्तक-माला-कार्यालय, लखनऊ, से प्रकाशित हुई है। इसमें 'एक योगी की साप्ताहिक समाधि', 'आकाश में निराधार स्थिति', 'अंतःसाक्षित्व-विद्या', 'पर-लोक से प्राप्त हुए पत्र', 'एक ही शरीर में अनेक आत्मायें' आदि अनेक आश्चर्य-जनक एवं कौतूहल-वर्द्धक विषयों पर लिखे हुए निबंधों का समावेश है। इस पुस्तक के आरंभ में परिचय देते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है—

"इस संग्रह में २१ लेख हैं। कुछ पुराने हैं, कुछ थोड़े ही समय पूर्व के लिखे हुए हैं। जो पुराने हैं, वे पुराने होकर भी पुराने नहीं। एक तो भूली हुई पुरानी बात भी सुनने पर नई मालूम होती है। दूसरे, इस पुस्तक में जिन विषयों का उल्लेख है, उनमें से अधिकांश पुराने हो ही नहीं सकते।"

इन निबंधों की उपयोगिता पर भी हम अपनी ओर से कुछ न कह कर द्विवेदी जी का कथन ही दोहरा देना उचित समझते हैं—

"कामों से छुट्टी मिलने पर, मनोरंजन की इच्छा रखनेवाले पुस्तकप्रेमी इसके पाठ से अपने समय का सद्व्यय कर सकते हैं; और सम्भव है, इससे उन्हें कुछ नई बातें मालूम हो जायँ।'

संक्षेप में द्विवेदी जी ने प्रायः सभी विषयों पर लेख लिखे हैं। उनमें से अनेक विषय तो उस समय के लिए बिलकुल नये ही थे। यदि उनका इतना प्रचार हो गया है तो इसका श्रेय द्विवेदी जी के अतिरिक्त किसे दिया जाय? बीसवीं शताब्दी के आरंभ में निबंध-रचना की ओर साहित्य-सेवियों का ध्यान आकृष्ट करनेवाले द्विवेदी जी ही थे। उनको रास्ता दिखाने के लिए उन्होंने लार्ड बेकन के कुछ निबंधों का 'बेकन-विचार-

रत्नावली' के नाम से अनुवाद किया। पर बेकन के भाव-गाम्भीर्य के कारण द्विवेदी जी की यह पुस्तक साधारण योग्यता के पाठकों के लिए दुरूह बन गई। द्विवेदी जी ने भी इस बात का अनुभव किया, और इसके बाद उन्होंने जो लेख लिखे उनकी भाषा और शैली अत्यंत साफ़ और चलती हुई थी। क्योंकि वे जानते थे कि हम जिनके लिए लिख रहे हैं उनमें अट-पटी भाषा में गंभीर भावों के समझने की योग्यता नहीं है।

द्विवेदी जी की तुलना विषय की दृष्टि से उनके समय के लेखकों में किसी से नहीं की जा सकती। द्विवेदी जी का उद्देश्य साहित्यिकता और मौलिक चिंतन का आदर्श जनता के सामने उपस्थित करना ही नहीं था, वे यह भी चाहते थे कि उपयोगी और मनोरंजक विषय जनता तक पहुँचा दिये जायँ जिससे हिंदी के प्रति उनके हृदय में कुछ प्रेम हो और साथ ही उनका ज्ञान भी बढ़े। दूसरे शब्दों में, वे उद्देश्य विशेष से, जनता की रुचि तथा उसके स्टैंडर्ड का ध्यान रखते हुए, निबंध लिखते थे। इस प्रकार सैकड़ों पाठकों को उन्होंने घर बैठे शिक्षा दी। कैसे सुन्दर क्रम से उन्होंने अपने पाठकों की रुचि को साहित्य की तरफ़ झुका दिया, देखते ही बनता है। सन् १९०३ और १९०४ में उन्होंने अनेकानेक आख्यायिकायें लिखकर अपने पाठकों का मनोरंजन किया जैसा कि प्रारंभिक शिक्षा देते समय किया जाता है। सन् १९०५ और १९०६ में वैज्ञानिक और आश्चर्यजनक, लेख लिख कर ज्ञानार्जन करने की इच्छा लोगों में उत्पन्न की। अंत में हिंदी-साहित्य की वास्तविक दशा का दिग्दर्शन कराकर तथा अन्य भाषा-भाषियों की अपनी भाषा के प्रति जो सम्मान और प्रेम रहा है, उसे दिखाकर अपने पाठकों को हिंदी की उन्नति करने तथा

हिंदी-साहित्य के रिक्त अंगों की पूर्ति करने के लिए उत्साहित किया। अपने इस प्रयत्न में उन्हें आशातीत सफलता भी मिली। उनकी इच्छा पूर्ण हुई और हिंदी की दिन-दिन उन्नति होने लगी। एक शब्द में द्विवेदी जी के लेखों का यही महत्त्व है।

पुस्तकें

सुप्रसिद्ध अँगरेज़ी लेखक जानसन की सब पुस्तकें प्रकाशित होने के बाद फ्रांस, जर्मनी और इटली के बड़े-बड़े विद्वानों ने आश्चर्य से कहा था—इतना काम तो कई साहित्यिक संस्थाओं का होना चाहिए—शायद कई 'अकेडमी' मिल कर भी इतने थोड़े समय में इतना नहीं लिख सकतीं जितना इस एक व्यक्ति ने अपने जीवनकाल में लिखा है। यही बात द्विवेदी जी के विषय में भी कही जा सकती है। मोटे तौर पर दो-एक विद्वानों ने, जिनमें श्रीयुत शिवपूजनसहाय जी और पंडित यज्ञ-दत्त जी शुक्ल बी० ए० का नाम विशेष उल्लेखनीय है, हिसाब लगाकर अनुमान किया है कि लगभग २५ वर्ष के अंदर द्विवेदी जी ने लगभग २५ हज़ार पृष्ठ—एक वर्ष में लगभग १ हज़ार पृष्ठ—लिखे हैं। इनमें अधिकांश लेख हैं, जो प्रायः सभी पुस्तकों के रूप में संकलित हो चुके हैं। संपादकीय टिप्पणियाँ और एक-एक, दो-दो सफ़ों के छोटे-छोटे नोट अभी बाक़ी हैं। उनकी पुस्तकों की सूची इस प्रकार है—

पद्य

(१) विनय-विनोद (१८८९) (२) विहार-वाटिका (१८९०) (३) स्नेहमाला (१८९०) (४) ऋतु-तरंगिणी (१८९१) (५) गंगालहरी (१८९१ अनुवाद) (६) देवीस्तुतिशतक (१८९२) (७) महिम्न-स्तोत्र (८) कुमार-संभव-सार (कालिदास के 'कुमार

संभव' के ५ सर्गों का पद्यात्मक अनुवाद—१९०२) (९) काव्य-मंजूषा (१९०३ कविताओं का संग्रह) (१०) कविता-कलाप (संपादित-संग्रह १९०९) (११) सुमन (काव्य-मंजूषा का संशोधित संस्करण) (१२) अमृत-लहरी (यमुना-लहरी का अनुवाद) इस पिछली पुस्तक के सम्बन्ध में सन्देह है कि यह द्विवेदी जी की लिखी है या नहीं।

गद्य

(१) बेकन-विचार-रत्नावली (अनुवाद १८९९) (२) भामिनी-विलास (१९००) (३) नैषधचरितचर्चा (१९००) (४) हिंदी कालिदास की समालोचना (१९०१) (५) हिंदी-शिक्षावली के तृतीय भाग की समालोचना (६) वैज्ञानिक-कोष (१९०१) (७) नाट्यशास्त्र (१९०३) (८) जल-चिकित्सा (१९०५) (९) शिक्षा (१९०६) (१०) स्वाधीनता (१९०७) अँगरेज़ी-लेखक 'मिल' की पुस्तक का अनुवाद है इसकी दूसरी आवृत्ति में मिल का संशोधित जीवन-चरित भी दे दिया है। (११) विक्रमांक-देवचरितचर्चा (१९०७) (१२) हिंदी-भाषा की उत्पत्ति (१९०७) (१३) हिंदी महाभारत (१९०७) (१४) संपत्ति-शास्त्र (१९०७ अपने विषय की पहली पुस्तक) (१५) कालि-दास की निरंकुशता (१९११ इसमें कालिदास के कुछ दोषों की संस्कृत के प्राचीन टीकाकारों के आधार पर आलोचना की गई है।) (१६) रघुवंश (१७) कुमारसंभव (१९१५) (१८) मेघ-दूत (१९१५) (१९) किरातार्जुनीय (१९१६ यह संस्कृत के भारवि कवि के इसी नाम के ग्रंथ का अनुवाद है।) भूमिका में द्विवेदी जी ने इस कवि का 'समय' जन्मस्थान आदि पर अपने विचार दियेहैं। इस काव्य के टीकाकारों में से कुछ का आलोचनात्मक

परिचय भी है। 'किरातार्जुनीय के कतिपय दोष और गुण' शीर्षक नोट बड़े महत्त्व का है। यह भूमिका ४४ पृष्ठों में समाप्त हुई है। (२०) आलोचनांजलि (१९२७ लेखों का संग्रह) (२१) आख्यायिका सप्तक (१९२७ बँगला, अँगरेज़ी और संस्कृत-भाषाओं की भिन्न-भिन्न पुस्तकों के आधार पर १९०२, ३,४ और १३ में लिखी हुई सात कथा-प्रधान कहानियाँ) (२२) कोविद-कीर्तन (१९२७) (२३) विदेशी विद्वान् (१९२७, लेखों का संग्रह) (२४) प्राचीन चिह्न (१९२७) (२५) चरित-चर्या (लेखों का संग्रह) (२६) पुरावृत्त (१९२७) (२७) लोअर प्राइमरी रीडर (२८) अपर प्राइमरी रीडर (२९) शिक्षा-सरोज (रीडर पाँचवाँ भाग) (३०) बालबोध या वर्ण-बोध (प्राइमर) (३१) ज़िले कानपुर का भूगोल (३२) आध्यात्मिकी (१९२६) (३३) औद्योगिकी (१९२०) (३४) रसज्ञ-रंजन (१९२०) (कविता विषयक लेखों का संग्रह) (३५) कालिदास (१९२०) (३६) वैचित्र्य चित्रण (३७) विज्ञानवार्ता (१९३०, विज्ञानसंबंधी लेखों का संग्रह) (३८) चरित्र-चित्रण (जून १९२९ लेखों का संग्रह) (३९) विज्ञ-विनोद (४०) समालोचना-समुच्चय (आलोचनात्मक लेखों का संग्रह—१९२८), (४१) वाग्विलास, (४२) साहित्य-संदर्भ (१९२४—पुरातन विषयों और पुरातन पुस्तकों-संबंधी २० आलोचनात्मक लेखों का संग्रह) (४३) वनिता-विलास १९१९–१९०३,४, १३ में लिखे हुए १० स्त्रियों के परिचयात्मक जीवनचरितों का संग्रह) (४४) सुकवि-संकीर्तन (१९२२—लेखों का संग्रह) (४५) प्राचीन पंडित और कवि (१९१८ अन्य भाषाओं—विशेष कर मराठी और अँगरेज़ी—के आधार पर लिखे हुए जीवन-चरित) (४६) संकलन (१९३१) (४७) विचार-विमर्श (१९३१) (४८) पुरातत्त्वप्रसंग (जनवरी १९२९—इसी विषय के लेखों का संग्रह) (४९) साहित्यालाप (लेखों का संग्रह)

(५०) लेखांजलि (लेखों का संग्रह) (५१) साहित्य-सीकर (१६२६) (लेखों का संग्रह) (५२) दृश्य-दर्शन (५३) अवध के किसानों की बरबादी (५४) वक्तृत्व-कला (१६२३—कानपुर के साहित्य-सम्मेलन का स्वागत-भाषण) (५५) आत्म-निवेदन (काशी के अभिनंदनोत्सव में दिया भाषण), इत्यादि।

नाट—इनके अतिरिक्त (१) वेणीसंहार नाटक (संस्कृत के वीररस प्रधान नाटक का आख्यायिकारूप) और (२) स्पेन्सर की ज्ञेय और अज्ञेय मीमांसायें नाम की दो पुस्तकें और उन्हीं की बताई जाती हैं।

ऊपर की सूची के देखने से विदित होता है कि द्विवेदी जी ने संस्कृत के प्राचीन सरसतम काव्यों का अनुवाद किया है और अँगरेज़ी की उन विषयों की पुस्तकों का जो आज संसार की उन्नति का प्रधान कारण समझी जाती हैं। संस्कृत के काव्यों के अनुवादों का कारण बताते हुए 'कुमार-संभव' की भूमिका में स्वयं द्विवेदी जी ने लिखा है—

संस्कृत काव्यों के इस तरह के गद्यात्मक अनुवादों से पाठकों को हमारे प्राचीन महाकवियों की रचना उनकी विचार-परंपरा और उनके वर्णन-वैचित्र्य का भी ज्ञान हो जाता है और भारत की प्राचीन सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक व्यवस्था का भी थोड़ा बहुत हाल मालूम हो जाता है। इससे मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञान-प्राप्ति होती है।

इसी प्रकार अँगरेज़ी के भी उन्हीं सुप्रसिद्ध ग्रंथों का अनुवाद किया गया है जिनसे मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञान-प्राप्ति होती है।

इन अनुवादों की भाषा के उदाहरण—'दिक्पालों की विरह-

वेदना' (नैषध-चरित-चर्चा पर 'सरस्वती'—२५–५–५१२) में मिल सकते हैं। वास्तव में उनके प्रायः सभी अनुवादित ग्रंथों में उनकी भाषा-शैली क्रमशः विकसित हुई है। इन सबमें भाषा-संस्कार के इतिहास की प्रचुर सामग्री मिलेगी; किंतु इनमें द्विवेदी जी का वह व्यक्तित्व बहुत-कुछ ढूँढ़ने पर ही मिलेगा जो इस समय हम लोगों के सामने विशद रूप में आया है। उन्हें पढ़कर साहित्य का कोई विद्यार्थी संभवतः यह नहीं कह सकेगा कि यह द्विवेदी जी की ही लेखनी है, और किसी की नहीं। आज से सौ वर्ष के बाद का विद्यार्थी तो कदाचित् और भी द्विविधा में पड़ेगा। बात यह है कि द्विवेदी जी ने खड़ी बोली की भाषा-शैली की व्यवस्था अवश्य की है; उसमें निश्चय ही उनका निजत्व हो, किंतु यह व्यवस्था उनकी क़लम के मँजने पर ही हुई है और वह निजत्व आते-आते आया है। उन्होंने केवल दूसरों की भाषा का ही नहीं, अपनी भाषा का भी मार्जन किया है। उनकी शब्द-संपत्ति और भाषा की संघटित प्रतिमा कालांतर में प्रतिष्ठित हुई है।* परंतु यह होते हुए भी हमें मानना पड़ेगा कि उनके अनुवादित ग्रंथ भी मौलिक का-सा आनंद देते हैं और उनसे मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञान-प्राप्ति भी होती है।

द्वि० अ० ग्रंथ० पृ० १ प्रस्तावना।

कविता

मन ! रमा रमणी रमणीयता, मिल गईं यदि ये विधि-योग से ।
पर जिसे न मिली कविता-सुधा, रसिकता सिकता-सम है उसे ।
सुविधि से विधि से यदि है मिली, रसवती सरसीव सरस्वती ।
मन ! सदा तुमको अमरत्वदा, नव-सुधा वसुधा पर है मिली ।

—पंडित रामचरित उपाध्याय

द्विवेदी जी आरंभ में अपने समय के अन्य कवियों की भाँति 'मधुरिमामयी' व्रज-भाषा में ही कविता किया करते थे। व्रज-भाषा में लिखी हुई अपनी कई फुटकर कवितायें उन्होंने छपवाई थीं। सन् १८८९ में उनका 'विनय-विनोद' नाम की एक रचना भी प्रकाशित हुई थी। यह व्रजभाषा में ही लिखा गया था। इसका कुछ अंश, पाठकों के मनोरंजन के लिए, यहाँ दिया जाता है—

महानिबिड़ आरण्य जहँ मृग मृगपति गजवास ।
अपर पशूगण खग रमत नित प्रति करत विलास ॥
तहाँ जाय रहिबो भलो खैबो नव फल फूल ।
पै न दीनता दीन ह्वै करिबो मति अनुकूल ॥
भागीरथी तरंग कण शीतल सींचत जाहि ।
विद्याधर मुनिवर कुशल सेवत जाहि सराहि ॥
सो सुन्दर गिरिवर गुहा ना पद पायो काह ।
लोभ ग्रसित विचरत सबै नर नरेश अरु शाह ॥

कंदादिक शैलादिकन कीधौं भई विनाश ।
की गिरिवर निरझर भये कीन्हो अनल प्रकाश ॥
द्रुम शाखा रसयुक्त मृदु फल अरु वल्कल दानि ।
टूटि काह धरणी खसी समुझत लागत ग्लानि ॥
जानि यथास्थिति इन सबै नर युग नयन विहीन ।
उदर दिखावत मान हति कहत बैन अति दीन ॥
या दिन लौं जाँच्यो सबहि करो न कछु विचार ।
वृत्ति मूल फल फूल की अब तू जानु अधार ॥
प्रातकाल रविकिरण सम कोमल लाले पात ।
करु शय्या अरु चलु तहाँ जहाँ ब्रह्म दरसात ॥
अति व्याकुल अविवेक तें जे नर नित्य प्रमात ।
तिनकर कबहूँ नामहूँ भूलि न उतै सुनात ॥
प्रतिबन अति घन पल्लवनि छाये तरुवरवृन्द ।
इच्छित फल सब काल में देत लेत आनंद ॥
ठाम ठाम सरिता निकट मधुर सुशीतल वारि ।
बेलि मृदुल कोमल नवल कीजै सेज सँवारि ॥
तऊ नीच जन धन हितै जाय धनीन दुवार ।
भोगत बहु संताप अरु सहत कलेस अपार ॥
शैल शिला विस्तीर्ण सित शय्या सुखद बनाय ।
धरत ध्यान तब शुद्धचित कानन काम नसाय ॥
अपनो-अपनो कर गये जे दिन माँगत खात ।
हँसि आवत तब सुमिरि तिन सकल गात पुलकात ॥
योगीश्वर निज योगबल समदरशी सब काल ।
चिदानंद चिंतन चतुर परत न मायाजाल ॥
जिन तन मन अरपन कियो रहे ज्ञान महँ पूरि ।
तिन चरणन की रेणुका मेरी जीवन-मूरि ॥

यह कविता आज से लगभग ५० वर्ष पहले की है। इसके दो वर्ष पश्चात् (१ जुलाई १८९१) 'गंगालहरी' नाम की कविता-पुस्तक उन्होंने छपवाई थी। स्वर्गीय बाबू रामदास गौड़ ने गंगालहरी को उनकी पहली पद्य-रचना माना है। यह बात उन्होंने १९३३ की 'वीणा' के एक अंक में लिखी है। पर 'सरस्वती' (भा० ३१, सं० २, पृ० १३७) में 'विनय-विनोद' का रचनाकाल सन् १८८९ दिया गया है। 'गंगालहरी' उनकी मौलिक रचना नहीं है, संस्कृत की गंगालहरी का अनुवाद है। उसका एक अवतरण लीजिए—

> विभूषितानंगरिपूत्तमांगा सद्यः कृतानेकजनार्तिभङ्गा।
> मनोहरोत्तुंगचलत्तरंगा गंगा ममांगान्यमलीकरोतु।

(वसंततिलका में इसका अनुवाद)

> आभूषिता तनु विनाशक श्रेष्ठ अंगा,
> शीघ्रं कृतामृत मनुष्य कलेश भंगा।
> सौंदर्यमान अतितुंग चलत्तरंगा,
> मो अंग सो करहि पावन मातु गंगा।

इस समय तक हिंदी के क्षेत्र में स्वर्गीय पंडित श्रीधर पाठक के स्तुत्य प्रयत्न से खड़ी बोली में कविता करने का बीजारोपण किया जा चुका था। द्विवेदी जी पर भी इसका प्रभाव पड़ा। उन्होंने समझ लिया कि देश में राष्ट्रीय भावनाओं के विकास के लिए बोलचाल की हिंदी को प्रोत्साहन देना आवश्यक है। उन्होंने सोचा कि ब्रजभाषा के शब्द नायिकाओं के नखशिख और हाव-भाव का वर्णन करते-करते निर्बल पड़ गये हैं और शृंगारी कवियों ने घिस-घिस कर उन्हें आवश्यकता से इतना अधिक चिकना कर दिया है कि उनमें उत्तेजना देनेवाली नोकों का नाम तक

नहीं रह गया है। फलतः उन्होंने व्रजभाषा को छोड़ कर खड़ी बोली में कविता करना आरंभ कर दिया। खड़ी बोली की उनकी पहली कविता 'बलीवर्द' नाम की है। यह १६ आक्टोबर सन् १६०० में 'श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार' में छपी थी। तब वे झाँसी में जी० आई० पी० रेलवे के दफ़्तर में काम करते थे। उनकी रचनायें 'भारत-मित्र', 'हिंदी-बंगवासी' आदि तत्कालीन पत्रों में प्रकाशित हुआ करती थीं। 'सरस्वती' के प्रकाशित होने पर उन्होंने उसमें भी छपने को अपनी रचनायें भेजीं। 'द्रौपदी-वचन-बाण-बली' (किरातार्जुनीय के प्रथम सर्गान्तर्गत युधिष्ठिर से द्रौपदी की उक्ति)-शीर्षक उनकी कविता 'सरस्वती' (नवम्बर १६००) में छपी थी। इसके लगभग तीन वर्ष पहले (१२ दिसंबर सन् १८६६ में) उन्होंने 'श्रीधर-सप्तक' नामक कविता लिखी थी, जिसमें पाठक जी की कोमल-कांत-पदावली, भाषा की सफ़ाई, उक्तियों की सुन्दर तथा मार्मिक व्यंजना और काव्य-माधुर्य्य पर मुग्ध होकर द्विवेदी जी ने उन्हें गीतगोविंद के रचयिता 'जयदेव' का अवतार और खड़ी बोली के आधुनिक प्रगति-युग का आद्याचार्य माना था। इस 'सप्तक' से हमें द्विवेदी जी की मनोवृत्ति का भी पता लग जाता है; क्योंकि खड़ी बोली की दीन-हीन दशा का चित्र खींचते हुए उन्होंने पाठक जी से इस कलंक को धोने की प्रार्थना की थी।

'सरस्वती' के संपादक होने के बाद उन्होंने स्वयं इस कमी को दूर करने का प्रयत्न किया और अन्य कवियों को भी खड़ी बोली में ही कविता करने के लिए प्रोत्साहन दिया। उनकी फुटकर कविताओं का पहला संग्रह 'काव्य-मंजूषा' के नाम से १६०३ में प्रकाशित हुआ था। उसमें सन् १८६५ से १६०२ तक की ३३ रचनायें—१६ व्रजभाषा की, ८ संस्कृत की और ६ खड़ी

बोली की—संगृहीत हैं। उनकी फुटकर कविताओं का दूसरा संग्रह 'सुमन' है। इसमें सन् १८९५ से १९२० तक की विभिन्न अवसरों पर लिखी हुई ३१ कवितायें हैं। ये प्रायः सभी 'सरस्वती' में प्रकाशित हो चुकी थीं। इनमें ८ कवितायें संस्कृत की हैं और शेष २३ खड़ी बोली की। विषयानुसार ७ कवितायें स्वदेश-प्रेम के भावों से ओत-प्रोत हैं, ६ का संबंध हिंदी-साहित्य से है, ४ में कान्यकुब्ज-समाज का तत्कालीन चित्र है, ४ अनुवाद मात्र हैं और शेष फुटकर विषयों की हैं। इस संग्रह में कुछ रचनायें ऐसी भी हैं जो पहले 'काव्य-मंजूषा' में प्रकाशित हो चुकी थीं। 'काव्य-मंजूषा' अब एक प्रकार से अप्राप्य है। अतः उसके सभी पद्यप्रसूनों को फिर से प्रकाशित न कराकर, स्वर्गीय बाबू रामदास गौड़ के शब्दों में, हमारे साथ अन्याय किया गया है।

जो कविता-संग्रह 'कविता-कलाप' के नाम से प्रकाशित हुआ उसमें द्विवेदी जी ने अपने कुछ 'प्रिय कवियों' की कुछ रचनायें, अपनी ५-७ फुटकर कविताओं के साथ, प्रकाशित कीं। द्विवेदी जी की रुचि का अध्ययन करने में इस संग्रह से बड़ी सहायता मिलती है।

हिंदी के अधिकांश पाठक जानते होंगे कि द्विवेदी जी संस्कृत में भी कविता किया करते थे। 'काव्य-मंजूषा' और 'सुमन' में भी, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, उनकी संस्कृत की भी ८-८ कवितायें हैं। यहाँ हम उनके विशेष स्थलों पर लिखे हुए दो-तीन श्लोक देते हैं।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' का विषय द्विवेदी जी को बहुत पसन्द था। जब वह प्रकाशित हुई थी तब द्विवेदी जी ने यह श्लोक लिखकर उसका अभिनन्दन किया था—

येनेदमीदृशमकारि महामनोज्ञं
शिक्षान्वितं गुणगणैर्बहुसंभृतञ्च
काव्यं, कृती कविवरः स चिरायुरस्तु
श्रीमैथिलीशरणगुप्त उदारवृत्तः

—सरस्वती

स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा की मृत्यु से दुखी होकर २१ जुलाई, सन् १९३२ को उन्होंने दो श्लोक लिखे थे। ये अगस्त १९३२ के 'विशाल-भारत' के 'पद्मसिंह-अंक' के मुखपृष्ठ पर प्रकाशित हुए थे। श्लोक इस प्रकार हैं—

याते दिवं त्वयि सुहृद्वर पद्मसिंह
तत्रैव सा रसिकतापि गतैव मन्ये।
क्वाहं भवादृशमनन्तसुभाषितज्ञं
प्राप्स्ये हतेन विधिना बहुवञ्चितेन ॥

× × × ×

संस्कृत्य तेऽद्य सरसञ्च कथाकलापं
सत्यं वदामि हृदयं शतधा प्रयाति।
आर्तस्य निर्गतधृतेर्मम शोकशान्त्यै
त्वत्सन्निधौ गमनमेव विनिश्चिनोमि ॥

एक पत्र पर श्लोक में दी हुई उनकी सम्मति इस प्रकार है—

सुरेश्वरः श्रीभगवाननन्तः सुरेशसिंहस्य यशस्तनोतु।
यस्य प्रसादात्प्रकटीबभूव पत्रं प्रशस्तं च कुमारनाम।

द्विवेदी जी की उक्त कवितायें किस कोटि की हैं, हिंदी-साहित्य में उनको कोई स्थान दिया जा सकता है या नहीं, दूसरों के विचार उनकी कविता के संबंध में क्या रहे हैं, आदि की विवेचना करने के पहले हम विषय, भाषा और छंद-विषयक

उन्हीं के विचारों पर प्रकाश डालना उचित समझते हैं। कविता को वे मनोरंजन का प्रधान साधन समझते थे और इसी दृष्टि से कविता की समीक्षा किया करते थे। यह बात उन्होंने आक्टोबर १९०१ में ही प्रकट कर दी थी कि कविता का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन और प्रमोददान है। चाहे जिस विषय की रचना हो, यदि उससे चित्त चमत्कृत और हृदय प्रफुल्लित नहीं हुआ तो यह समझ लेना चाहिए कि रचयिता का परिश्रम असफल हो गया।

फिर भी द्विवेदी जी हिंदी को अतिशय शृंगारिकता से बचाना चाहते थे। यमुना के किनारे केलि-कौतूहल आदि के अद्भुत वर्णनों को, वे अनुचित समझते थे। देश की परिस्थिति की ओर से आँख मूँदकर जिन्होंने परकीयाओं पर प्रबंध लिखने और स्वकीयाओं की 'गतागत' पहेली बुझाने की चेष्टा की उन्हें द्विवेदी जी बुरी तरह फटकारते थे। सोते हुए भारतवासियों को प्राचीन आर्य-संस्कृति से परिचित कराकर वे जगाना चाहते थे। 'आर्य-भूमि'-शीर्षक कविता में आर्यभूमि भारतवर्ष को 'वीरप्रसू', 'वीर-भूमि', 'जगत्पूजित', 'धन्य भूमि', 'पूज्य भूमि', 'धर्म-भमि' आदि प्रमाणित करने के बाद उन्होंने लिखा—

> विचार ऐसे जब चित्त आते,
> विषाद पैदा करते सताते।
> न क्या कभी देव दया करेंगे,
> न क्या हमारे दिन भी फिरेंगे।

अंतिम पंक्ति को देखिए। हमारा तरुण-समाज अपना कर्तव्य भूला हुआ है, यह देखकर जो कसक, जो व्यथा एक स्वदेश-प्रेमी को होनी चाहिए, वही इस पंक्ति में निहित है। आह! न क्या हमारे दिन भी फिरेंगे?

ऐसा ही विषय द्विवेदी जी को पसंद था और इसी प्रकार के भावों को व्यक्त करनेवाले बाबू मैथिलीशरण गुप्त का वे आदर करते थे। उनकी 'भारत-भारती' का उन्होंने हृदय से अभिनंदन किया था। साथ ही समाज में प्रचलित अन्य कुरीतियों का चित्र खींचकर उन्हें दूर कराने का भी उन्होंने प्रयत्न किया। ऐसी कविताओं के लिए व्यंग्य की आवश्यकता होती है। इसका एक उदाहरण यहाँ हम देते हैं। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों का एक 'कनौजिया सम्मेलन' सन् १६०५ में होली के दिनों में हुआ था। इसमें द्विवेदी जी ने ठहरौनी की निंदा करते हुए एक मज़ाक़ किया था—

ज़रा देर के लिए समझिए आप षोडशी क्वाँरी हैं,
क्षमा कीजिए असभ्यता यह, हम ग्रामीण अनारी हैं।
मान लीजिए, नेत्र आपके कानों तक बढ़ आये हैं,
पीन पयोधर देख आपके कुंजर कुंभ लजाये हैं।

साहित्य-क्षेत्र में धाँधली मचानेवाले ग्रंथकारों की ख़बर लेने के लिए उन्होंने 'ग्रंथकार-लक्षण' शीर्षक एक कविता लिखी थी, जो 'सरस्वती' (भा० २, सं० ८) में छपी थी। इसका कुछ अंश यों है—

इधर-उधर से जोड़ बटोर
लिखते हैं जो तोड़-मरोड़

इस प्रदेश में वे ही पूरे ग्रंथकार कहलाते हैं।

'विधि-विडंबना'-शीर्षक कविता में एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—

शुद्धाशुद्ध शब्द तक का है जिनको नहीं विचार।
लिखवाता है उनके कर से नये-नये अख़बार॥

इसी कविता में उन्होंने धर्माचार्यों पर भी कटाक्ष किया था। देखिए—

> दुराचारियों को तू प्रायः धर्माचार्य बनाता है।
> कुत्सित कर्म-कुशल कुटिलों को अन्तरज्ञ उपजाता है!
> मूर्ख धनी विद्वज्जन निर्धन उलटा सभी प्रकार।
> तेरी चतुराई को ब्रह्मा बार-बार धिक्कार॥

इस कविता का बड़ा विरोध किया गया था और वाग्-वाणों से द्विवेदी जी पर प्रहार भी। पर उन्होंने इसकी कभी चिंता नहीं की। 'बलीवर्द', 'गर्दभ-काव्य', 'महिष-शतक' जब लिखा था तब भी उनका विरोध हुआ था। उन्होंने इन रचनाओं में दूसरों पर कटाक्ष भी किया और तत्कालीन दशा का दिग्दर्शन भी कराया। कविता के सम्बन्ध में वे 'सरस्वती' (भा० २, सं० ६) में 'नायिका-भेद'-शीर्षक लेख में अपनी स्पष्टवादिता और निर्भयता का परिचय दे चुके थे।

उक्त उदाहरणों से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि द्विवेदी जी सुधारक थे। इसी से उनकी कवितायें सोद्देश्य होती थीं। उनमें व्यंग्य की पुट रहती थी। व्यंग्य तथा हास्य से मनोरंजन होता था और जहाँ गौरव और आत्माभिमान का प्रश्न आ जाता था, वहाँ ओज की छाप लग जाती थी। इसे ही वे प्रभावोत्पादक समझते थे। कालान्तर में उनकी इस रुचि में परिवर्तन हुआ। उन्होंने प्राचीन सरसतम और माधुर्यगुण-पूर्ण काव्यों का अनुवाद किया। कालिदासकृत 'कुमार-संभव' के प्रथम पाँच सर्गों के सार का अनुवाद 'कुमार-संभव-सार' के नाम से किया। उनके ये अनुवाद देखकर हमें कविता-संबंधी उनके इस अभिनंदनीय मत का स्मरण हो आता है—

सुरम्यता ही कमनीय कांति है;
अमूल्य आत्मा रस है मनोहरे।
शरीर तेरा सब शब्दमात्र है;
नितांत निष्कर्ष यही, यही, यही।

ऊपर कहा गया है कि आरंभ में द्विवेदी जी ब्रजभाषा में कविता किया करते थे; बाद में उन्होंने खड़ी बोली को अपना लिया। पर खड़ी बोली की उनकी प्रारंभिक कविताओं में स्वर्गीय पंडित श्रीधर पाठक जी तथा स्वर्गीय पंडित नाथूराम शंकर जी की रचनाओं में कहीं कहीं ब्रजभाषा की पुट मिलती है। किसी सीमा तक यह स्वाभाविक भी था। द्विवेदी जी तब संस्कृत-कवियों का अध्ययन कर रहे थे। इसका भी उनके विचारों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। यहाँ उनकी उस समय की एक कविता उदाहरणार्थ दी जाती है। विषय पर संस्कृत-साहित्य के दार्शनिक विचारों का स्पष्ट प्रभाव है। और भाषा—

क्या वस्तु मृत्यु? जिसके भय से बिचारे।
होते प्रकंप-परिपूर्ण मनुष्य सारे।
क्या वह्नि है? विशिख है? अहि है विषारी?
किंवा विशाल-तम-तोम दृढ़ांगधारी?
पृथ्वी - समुद्र - सरिता - नर - नाग - सृष्टि;
मांगल्य - मूल - मय वारिद वारिवृष्टि।
कर्तार कौन इनका? किस हेतु नाना—
व्यापार - भार सहता - रहता महाना?
विस्तीर्ण विश्व रच लाभ न जो उठाता;
स्रष्टा समर्थ फिर क्यों उसको बनाता?
जो हानि-लाभ कुछ भी उसको न होता;
तो मूल्यवान् फिर क्यों निज काल खोता?

यह कविता उस समय की है, जब उन्होंने खड़ी बोली को अपनाया ही था। इसकी भाषा काफ़ी सुंदर है और साफ़ भी। ब्रजभाषा की पुट और खड़ी बोली की शिथिलता का मिश्रण 'कुमारसंभव-सार' के इस छंद में भी मिलता है—

अधरौं के रँगने में अपना
अतिशय कोमल कर न लगाय,
कुच-गत अंगराग से अरुणित
कंदुक से भी उसे हटाय।
कुश से अंकुर तोड़-तोड़कर
घाव उँगलियों में उपजाय,
किया अक्षमाला का साथी
उसे उमा ने वन में आय॥

यहाँ 'अधरौं' का 'औकार' अभी 'ओ' में परिणत नहीं हुआ और न 'लगाय', 'हटाय', 'उपजाय' और 'आय' के अंतिम 'य'कार का लोप कर 'लगा', 'हटा', 'उपजा' और 'आ' के स्पष्ट प्रयोग ही निकले हैं।*

यह लगभग १९०२ की रचना है। उस समय तक द्विवेदी जी ने ब्रजभाषा में कविता करना कम कर दिया था और खड़ी बोली के हिमायती बन गये थे। उक्त दोष भी शीघ्र ही उनकी कविता से दूर हो गये। यहाँ उसी 'कुमारसंभव-सार' (तृतीय सर्ग) से एक दूसरा छंद उदाहरण के लिए दिया जाता है। व्याकरण-सम्मत विशुद्ध पद्य का सुंदर उदाहरण है—

सखे! सभी तू कर सकता है, तेरी शक्ति जानता हूँ,
तुझको और कुलिश को ही मैं अपना अस्त्र मानता हूँ।

---

* द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ- प्रस्तावना (पृ० ३)

तपोबली पुरुषों के ऊपर वज्र व्यर्थ हो जाता है,
मेरा तू अमोघ साधन है, सभी कहीं तू जाता है।

भाषा की शुद्धता के बाद भाषा की सरलता का प्रश्न उपस्थित हुआ। पहले लोग खड़ी बोली में कविता करनेवालों का ही विरोध करते थे। पर जब खड़ी बोली का प्रचार बढ़ने लगा और बहुतों ने व्रजभाषा को छोड़कर इसी में कविता करना शुरू कर दिया तब लोगों ने यह झगड़ा उठाया कि कविता की भाषा सरल हो या क्लिष्ट। द्विवेदी जी के समकालीन बहुत-से विद्वान् क्लिष्ट भाषा के पक्षपाती थे। आरंभ की द्विवेदी जी की कविताओं की भाषा भी क्लिष्ट ही है; इसके दो-एक उदाहरण 'कविता-कलाप' में भी मिलते हैं। पर कालान्तर में वे सरल* भाषा के पक्षपाती हो गये। उनका कथन था कि हिंदी के अतिरिक्त सभी उन्नत भाषाओं में गद्य और पद्य, दोनों की भाषा एक ही है। अतः हमारा कर्तव्य भी यही है कि अन्य सभ्य समाजों की तरह जिस भाषा में गद्य लिखा जाता है उसी में कविता भी करें। दूसरा कारण यह भी था कि द्विवेदी जी हिंदी-भाषा को सरल बनाकर उसका प्रचार-प्रसार बढ़ाना चाहते थे। यहाँ 'कविता-कलाप' से उनकी बोलचाल की भाषा की कविता का एक नमूना दिया जाता है—

---

* सुनते हैं, उनके मन में उस समय विलियम वर्ड्सवर्थ का यह पुराना सिद्धान्त भी कुछ जम गया था कि गद्य और पद्य का विन्यास एक ही प्रकार का होना चाहिए। वर्ड्सवर्थ अपने इस सिद्धान्त पर स्थिर न रह सका, कालान्तर में उसका यह सिद्धान्त असंगत सिद्ध हुआ—उत्कृष्ट कविताओं में उसका पालन न किया जा सका। द्विवेदी जी ने भी बराबर उक्त सिद्धान्त के अनुकूल रचना नहीं की है। अपनी कविता में अनुप्रास व कोमलकांतपदावली का व्यवहार उन्होंने किया है।—

द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ की प्रस्तावना

उसे देख मन बहुत सँभाला,
तदपि हो गई मोहित बाला।
यदपि न मुँह से वचन निकाला,
दिल अपना उसने दे डाला।

'उषा-स्वप्न' से

इसके अंतिम चरण के मुहावरे पर ग़ौर कीजिए। द्विवेदी जी ऐसी ही भाषा के पक्षपाती थे। वास्तव में "उनके खड़ी बोली के प्रारंभिक पद्यों में अर्थ की रमणीयता चाहे जितनी खो गई हो और भाषा के विषय में भी थोड़ा-बहुत अनियम क्यों न हुआ हो, पर एक नई परिपाटी—भावाभिव्यक्ति की तीखी लाइन क्लियर की-सी स्वच्छ सपाट शैली अवश्य चल निकली है, जिसमें संस्कृत का-सा दूरान्वय दोष या अर्थक्लिष्टता कहीं नहीं है। मस्तिष्क लड़ाकर अर्थ निकालने का झगड़ा हमें नहीं करना पड़ता।"

व्रजभाषा को छोड़कर खड़ी बोली तथा क्लिष्ट और संस्कृतमय भाषा के स्थान पर सरल भाषा के लिए द्विवेदी जी के आन्दोलन का बड़ा विरोध हुआ। व्रजभाषा के पक्षपातियों ने तो उन पर बुरी तरह से प्रहार किये। पर द्विवेदी जी सदा यही कहते रहे—

"व्रजभाषा की कविता के महत्त्व के गीत अलापने का समय गया। अब फिर नहीं आने का। व्रज की बोली में कविता न करने या उस बोली के न जाननेवाले चाहे लंगूर बनाये जायँ चाहे गीदड़—इससे बोल-चाल की भाषा की कविता का प्रवाह बंद न होगा।"

—सरस्वती (१५-४-२२८)

वस्तुतः हुआ भी ऐसा ही। पहले तो लोग द्विवेदी जी की बातों का विरोध करते रहे; पर अंत में उन्होंने उनका कहना मान लिया। यह बात उन्होंने स्वसम्पादित 'कविता-कलाप' की भूमिका में, २ फ़रवरी, १९०९ में लिखी है—

"किसी-किसी की राय है कि बोल-चाल की भाषा में अच्छी कविता नहीं हो सकती।......पर इस पुस्तक में अधिकांश कवितायें बोल-चाल की भाषा में हैं और उनमें शब्दों का अंग-भंग बहुत कम हुआ है। इस नये ढंग की कवितायें 'सरस्वती' में प्रकाशित होते देख बहुत लोग अब इनकी नक़ल अधिकता से करने लगे हैं।"

द्विवेदी जी के इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि वे व्रजभाषा या अन्य भाषा की कविताओं का आदर नहीं करते थे। संस्कृत की कविता का तो उन्होंने अनुवाद किया ही है; व्रजभाषा और उर्दू की कविता का भी वे आदर करते थे। इस कथन की पुष्टि उनके इस वाक्य से होती है—

"कविता यदि सरस और भावमयी है तो उसका अवश्य आदर होगा—भाषा उसकी चाहे व्रज की हो चाहे उर्दू।"

—सरस्वती (१५-४-२२८)

साहित्य-सेवा में पदार्पण करने के पहले, विद्यार्थी की हैसियत से, द्विवेदी जी कुछ दिनों तक बंबई की ओर रहे थे। वहाँ उनका परिचय मराठी-भाषा से हुआ था। उन्होंने उसका थोड़ा-बहुत अध्ययन किया। इस भाषा के साहित्य से वे बड़े प्रभावित हुए। मराठी-कविता में संस्कृत के छंदों का अधिकतर व्यवहार होता है। द्विवेदी जी संस्कृत के विद्यार्थी थे और उसके कवियों की सरस और मनोहर उक्तियों का आनंद ले

रहे थे। मराठी में बँगला की-सी कोमल-कांत-पदावली नहीं है। पर द्विवेदी जी ने, इसी ढंग पर, संस्कृत वृत्तों में ही, आरम्भ में, कविता करना शुरू किया था। जब वे व्रजभाषा में लिखते थे, तब उसमें उन्होंने ऐसे छंदों का व्यवहार किया और बाद को खड़ी बोली में भी। इसके दो-तीन उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं। एक छंद और देखिए—

> कलित-मोतिन मंजु प्रकाशिका,
> ललित बेसर बेस सुनासिका।
> छवि सुहाति असीम प्रशंसिनी,
> मिलति कीर-वधू सँग हंसिनी।

—कविता-कलाप (८, ६, इंदिरा)

संस्कृत वृत्त—द्रुतविलंबित छंद—का यह प्रयास, भाषा की दृष्टि से रेखांकित पद विचारणीय होते हुए भी, हिंदी के लिए नया ही था, और किसी सीमा तक सफल भी। इस प्रयास—आन्दोलन—का एक विशेष कारण था। हिंदी में खड़ी बोली के लिए आन्दोलन हो रहा था, पर छन्द अधिकतर उर्दू के ही प्रचलित थे; यहाँ तक कि पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय भी उर्दू-छंदों में ही कविता किया करते थे। बात यह थी कि उर्दू के छंदों में खड़ी बोली बहुत कुछ मँज चुकी थी; लोग इसी से उन्हें अपनाते थे। हिंदी के हिमायतियों को यह बात बहुत खटकती थी। इस प्रचलित 'प्रवृत्ति' को बदलने के लिए पंडित श्रीधर पाठक ने 'श्रांत पथिक' नाम की रचना हिंदी के रोला छंद में की थी। द्विवेदी जी ने जो संस्कृत के वृत्तों में कविता की उसका कारण, जैसा कहा जा चुका है, मराठी का प्रभाव तो था ही, साथ ही उनके उद्देश्य और आदर्श का भी स्वाभाविक प्रभाव उस पर पड़ा। उनका उद्देश्य था कि साहित्य साधारण जनता

तक पहुँचाया जाय, जिससे हिंदी का प्रचार-प्रसार बढ़े। संस्कृत-भाषा और हिंदू-संस्कृति के पक्षपाती वे थे ही। उनके इस आदर्श को दूसरों ने भी समझा और बहुतों ने संस्कृत के वृत्तों को अपना लिया।

पर द्विवेदी जी छंद को कविता की आत्मा नहीं मानते थे। उनका कथन था कि छंद कविता के लिए उसी प्रकार है, जैसा कामिनी का सौंदर्य बढ़ाने के लिए अलंकार। कुछ लोग कहा करते हैं कि विशेष छंदों का प्रयोग करने से ही कविता में माधुर्य रहता है। द्विवेदी जी ऐसे कथन का भी विरोध करते थे। वे 'अमित्राक्षर' के भी पक्षपाती थे। संभव है, इसका कारण उनका संस्कृत का अध्ययन हो। इस बात को उन्होंने वंग-कवि माइकेल मधुसूदनदत्त के जीवनचरित में स्वीकार किया था। उन्होंने लिखा है—

"जब इस प्रकार के (अमित्राक्षर) छंद बँगला में लिखे जा सकते हैं और बड़ी योग्यता से लिखे जा सकते हैं तब हिंदी में भी उनका लिखा जाना संभव है। लिखनेवाला अच्छा और योग्य होना चाहिए।"

—सरस्वती (जुलाई-अगस्त, १६०३)

प्राचीन दरबारी-आलोचना-प्रणाली के पक्षपाती कविता में शुभाशुभ गणों का बहुत अधिक ध्यान रखते थे। सुनते हैं, अशुभ गणों के कविता के आरंभ में आजाने से लेखक या उनके संबंधियों को बुरा फल भुगतना पड़ता है। जिनके ऐसे विचार हैं वे छंद में एक मात्रा के भी बढ़ जाने पर हाय-तोबा मचा देते हैं। इसका एक उदाहरण है—

पाद पीठ को शोभित करते
हुए इन्द्र ने इतने पर

जंघा से उतार कर अपना
खिले कमल सम पद सुन्दर।
निज अभिलषित विषय में
सुनकर मन्मथ का सामर्थ्य महा
उससे अति आनंद-पूर्वक
समयोचित इस भाँति कहा।

शुभाशुभ गणों के विषय में 'वाणी-भूषण' जी की पुस्तक की आलोचना करते हुए 'सरस्वती' (१४-२-४८३) में द्विवेदी जी ने कहा है—

"सरस्वती में जो कवितायें छपती हैं उनमें शुभाशुभ गणों का विचार प्रायः कम रहता है।"

द्विवेदी जी की रचनाओं का अधिकांश हिंदी-भाषा-भाषियों ने आदर किया था। इसका प्रमुख कारण यह था कि व्रजभाषा के तत्कालीन कवियों की कविता—दो-एक की कविता को छोड़कर—साधारण होती थी। रस-कवियों के विषय में भी कोई नवीनता नहीं थी। द्विवेदी जी ने इस दोष को दूर करने का सराहनीय प्रयत्न किया। अतः उनकी कृतियों का आदर होना स्वाभाविक था। बैजनाथ नाम के एक सज्जन ने उनकी कविता की प्रशंसा करते हुए उन्हें एक पत्र लिखा था, जो इस प्रकार है—

Kosi, Dist. Muttra
21-11-1900

Dear Sir,

I always read your verses with great pleasure. If I am not mistaken I think *you are the first to introduce the new scort of couplet so common in*

Sanskrit in Hindi. Above all it is certain and admitted by all connected with Hindi Literature that *you have shown a path*, quite new and better to the persent generation of Hindi writers.

—Baij Nath Gyani Dutt

संस्कृत-कविता के प्रेमी संस्कृत-वृत्तों को हिंदी में प्रचलित होते देखकर बड़े प्रसन्न हुए। श्री राधाचरण गोस्वामी भी ऐसे ही व्यक्तियों में से थे। वे बैजनाथ ज्ञानीदत्त जी से भी आगे बढ़ गये। अपने पत्र के साथ, द्विवेदी जी की प्रशंसा में, उन्होंने कई छंद लिखकर भेजे थे। उस पत्र में उन्होंने द्विवेदी जी से निवेदन करते हुए लिखा—

"आपकी सहृदयता, मर्मज्ञता, काव्यरसिकता ने मुझे आपकी स्तुति करने को प्रोत्साहित किया और विशेषतः आप वसन्ततिलका छंदों में जो कविता-रचना करते हैं, बहुत ही मधुर है। पर इसका आस्वादन बहुत थोड़ा मिला। कुछ विशेष कविता इन्हीं छंदों में कीजिए तो बड़ा सुख हो।

१

अहो महाबीरप्रसाद भाई
जो तैं नई काव्यसुधा बहाई
पीवैं तऊ तृप्ति न नेक आई
करैं कहाँ लौं तुमरी बड़ाई

२

मर्मज्ञ हो सहृदयी रसिकाग्रगण्य
हिंदीहितैषि जन तो सम नाहिं अन्य

याते द्विवेदिपदवी, कृत पुञ्ज पुण्य
तातें कहैं सकल तोहि सुधन्य धन्य

३

जो वृत्त संस्कृत प्रसिद्ध सुसिद्ध देखे
सो तैं विशुद्ध व्रज भाषण माँहि लेखे
सद्भाव सत् पद सदर्थ लिए विशेखे
ताकी स्तुती करन में कह मीन मेखे।

सानुप्राम छटा, महारस छटा
व्यंग्यार्थ निर्धारती
भावावेष भरी-धरी हृदय में
सर्वार्त्ति निर्वारती
दण्डी भारवि कालिदास कविता
साफल्य सो भारती
जीयात् प्रौढ़ प्रसादपूर्ण जग में
तेरी महा भारती

२१-११-१६००

—श्रीराधाकृष्ण गोस्वामी
श्रीवृन्दावन

ये दोनों पत्र आज के लगभग ३८ वर्ष पहले लिखे गये थे। अतः इन पत्रों में किसी प्रकार के दिखावे की झलक नहीं हो सकती और न यही कहा जा सकता है कि ये किसी आशय विशेष से लिखे गये थे। द्विवेदी जी कविता को—संस्कृत-वृत्तों को हिंदी में चलाने की रुचि को—उन्होंने पसंद किया और इसी की प्रशंसा की। यहाँ हम एक तीसरा अवतरण देते हैं। लेख का नाम है 'पुष्पाञ्जलि' और लेखक हैं सदाशिव रघुनाथ भागवत।

द्विवेदी जी की ७० वीं वर्षगाँठ के अवसर पर आज से लगभग ६ वर्ष पहले यह लिखा गया था। लेख का कुछ अंश यों है—

"श्रीमान् द्विवेदी जी ने आजन्म सरस्वती की उपासना करके, प्रेमियों को सारस्वतपान कराकर ऐसा अपना लिया है कि "वसुधैव कुटुम्बकम्' होकर आप बैठ गये। आपने अनेक विषयों पर हृदयगम काव्य लिखे हैं। आपका वैशिष्ट्य यह है कि पहले हिंदी के लिए जो छंद अपरिचित थे अर्थात्—शार्दूल विक्रीडित, स्रग्धरा, मालिनी, शिखरिणी आदि, इनमें भाषा काव्य लिखकर आपने छंदःशास्त्र की महिमा बढ़ाई है। आपकी कृति अत्यन्त सरल, सुगम व उद्बोधक है। जरावस्था को उद्देश्य कर इस नरदेह का जो ललित वर्णन करके भगवदनुग्रह की आकांक्षा प्रदर्शित की है, वह आपका काव्य हिन्दी-गगन-मण्डल में प्रतिभासंपन्न है।"

— हंस, अभिनंदनांक (अप्रैल १९३३, पृष्ठ १३)

इन तीनों अवतरणों से एक बात बड़े महत्त्व की ज्ञात होती है। वह यह कि तीनों ही लेखकों ने द्विवेदी जी को इसी कारण इतना महत्त्व दिया है कि उन्होंने संस्कृत के छंदों का हिंदी में प्रचार किया, जैसा उनके पहले प्रायः किसी ने नहीं किया था। इन लेखकों ने न तो उनके भावों की प्रशंसा की है और न भाषा की। वास्तव में १८९० से १९०० तक की उनकी रचनायें भाषा और भाव की दृष्टि से विशेष अनुकरणीय थीं भी नहीं। उनका उद्देश्य और लक्ष्य भी निश्चित नहीं था। इसी से इस विषय के संबंध में स्वयं बैजनाथ जी ने अपने उपर्युक्त पत्र में लिखा है—

But to make your influence felt deeply it is necessary that you should lay the G...dalation

(कटा है, समझ में नहीं आता) of a work quite original in all its bearing. Excuse me for these remarks

बैजनाथ जी ही नहीं, समस्त हिंदी-भाषा-भाषी यही चाहते थे कि मौलिक विचार नये ढंग से व्यक्त किये जायँ। सन् १९०० के बाद की द्विवेदी जी की कविताओं को देखने से ज्ञात होता है कि उन्होंने भी ऐसा करना ठीक समझा। इस समय की उनकी प्रायः सभी रचनाओं में उपदेशामृत भरा हुआ है, जो इस बात का द्योतक है कि वे सुधारक और आचारी व्यक्ति थे। इस प्रकार की कवितायें, प्रायः इतिवृत्तात्मक होती हैं और इनके रचयिता में भावात्मक वृत्ति नहीं, कथात्मक वृत्ति प्रधान रहती है। दूसरे शब्दों में इसके लिए कवि में भावुकता की इतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी रोचक ढंग से, कलात्मक रूप देते हुए, चतुरता से अपने मनोभावों को इस प्रकार व्यक्त करने की कि पाठक को वह रचना 'उपदेश'-ग्रंथ का सर्ग-विशेष न जान पड़े। ये कवितायें प्रायः मुक्तक नहीं होतीं, प्रत्युत कवि कथा-वस्तु—कथानक—का सहारा लेकर बढ़ता है। इसे भी एक लाभ ही समझना चाहिए। फिर भी, यह कार्य सरल नहीं। कारण यह है कि कथानक-वृत्ति-प्रधान कवि को एक ओर तो कल्पना की स्वच्छंदता और उड़ान पर अंकुश रखना पड़ता है और दूसरी ओर अपने हृदयोद्गारों का चयन करते समय विशेष सतर्कता से काम लेना होता है। ये दोनों कार्य एक साथ ही होने चाहिए। यदि कल्पनात्मक भावों के बाहुल्य के कारण कवि बहक गया—विषयान्तर में चला गया—अथवा अपनी उपदेशात्मक प्रवृत्ति के वशीभूत होकर विचारों के संयम पर उसने सावधानी से दृष्टि न रक्खी तो कवि अपने प्रयत्न

में सफल हो सकेगा, इसमें सन्देह है। द्विवेदी जी में कल्पना की विशेष उड़ान तो नहीं थी, पर सुधार करने की सात्त्विक भावना उनमें इतनी प्रबल थी कि अवसर पाने पर वे अपने को रोक ही न पाते थे; उनका स्वभाव ही ऐसा था। वे चाहते थे कि जितने भी व्यक्तियों का उनसे संबंध है उनमें किसी प्रकार का भी अवगुण न रह जाय। 'सरस्वती' के संपादक, हिंदी-भाषा-भाषी और अंत में भारतीय होने के नाते उनका संबंध भारत के निवासियों तक ही सीमित नहीं था और वे सभी को अपना संदेश सुनाना चाहते थे। यहाँ तक कि उनके प्रायः प्रत्येक परिच्छेद में किसी न किसी प्रकार का उद्देश्य अवश्य निहित है और कविता के लिए तो प्रायः वे विषय ही ऐसा चुनते थे जिसमें उन्हें खूब उपदेश देने का अवसर प्राप्त हो सके। यही कारण है कि उनकी कवितायें काव्य-कला की कसौटी पर कसे जाने पर खरी न उतरीं। उनमें अंतरंग की शोभा की अपेक्षा भाव-विन्यास का चमत्कार ही अधिक है। 'वे उपदेशप्रधान हैं, वस्तु की व्यंजना करती हैं। अंतर के तारों को झनकारती नहीं, बाहर ही ठक-ठक करके चुप हो जाती हैं।' उनमें हृदय-स्पर्श करने की विशेष क्षमता नहीं। यों हम कह सकते हैं कि द्विवेदी जी को मुक्तक पद्यों की अपेक्षा छोटे-छोटे कथानकों में अधिक सफलता मिली है। इसके दो कारण हो सकते हैं। पहला, द्विवेदी जी की उपदेशात्मक कथानकप्रियता। उनकी कविता में भारतेंदु हरिश्चंद्र की-सी कल्पना की कमनीय शक्ति के दर्शन नहीं होते। वास्तव में घटना का सूत्र ऐसे कवियों के लिए अत्यंत आवश्यक है जो अन्य कार्यों में संलग्न रहकर कविता के लिए भी समय निकालना चाहता है। कथानक की रोचकता ही उसकी कविता का आकर्षण रहता है। फिर मुक्तक की प्रणाली

कम से कम, द्विवेदीजी के लिए तो नई थी। दूसरा कारण यह है कि कवि के लिए एकाग्रता—चित्त-वृत्ति-निरोध—वांछनीय ही नहीं, अनिवार्य भी है। परन्तु द्विवेदी जी के पास इतना समय ही न था कि वे किसी विषय में मग्न होकर संसार को भूल जाते। अपनी प्रतिभा के बल पर कथानक के सहारे उन्होंने जो कवितायें लिख लीं उनके लिए भी उनकी तत्परता और लगन की सराहना करनी चाहिए। परंतु इतना मानना ही पड़ेगा कि "कविता जिस प्रकार की सौंदर्य-सामग्री का व्यवहार कर अंतर का पवित्र रस उच्छ्वसित करती है उसका स्पर्श करने में ये (द्विवेदीजी) जैसे लोक-लाज से डरते रहे हों।" इस बात को द्विवेदी जी ने समझ भी लिया था। वे अपनी रचनाओं को स्वयं ही 'कविता' नहीं मानते थे। इस बात को उन्होंने कई बार विनम्र स्वर में कहा भी है कि कविता करना अन्य लोग चाहे जो समझें, हमें तो यह एक तरह दुःसाध्य ही जान पड़ता है। अज्ञता और अविवेक के कारण कुछ दिन हमने भी 'तुकबंदी' का अभ्यास किया था। पर कुछ समझ आते ही हमने अपने को इस काम का अनधिकारी समझा। अतएव उस मार्ग से जाना ही प्रायः बंद कर दिया।

इस 'प्रायः' शब्द के अंतर्गत द्विवेदीजी के संस्कृत के वे श्लोक आ जाते हैं जो वृद्धावस्था की स्वाभाविक भक्ति और कवि-हृदय की शुद्ध सहृदता के कारण उनके मुख से आप निकल पड़ते थे। ये स्वांतःसुखाय लिखे जाते थे। इसी को यों भी कह सकते हैं कि "द्विवेदी जी ने साहित्य की सक्रिय सेवा से अव-सर ग्रहण करने के उपरांत भक्ति के स्रोत में निमज्जित होकर कविता-मुक्ता के दर्शन किये। किंतु सामयिक साहित्य में कविता की जो उनकी विरासत है वह अधिकांश स्वच्छ वसन धारण करके खड़ी हुई सतोगुण की संन्यासिनी की प्रतिमा है—

उसमें काव्यकला का वास्तविक जीवन-स्पंदन कहीं ही कहीं है"। अस्तु।

इस विषय में द्विवेदी जी का वास्तविक महत्त्व यह है कि उनके "शुद्ध सात्त्विक आचार ने कविता के क्षेत्र को प्रभावित किया। इस क्षेत्र में उनकी सबसे बड़ी देन खड़ी बोली, भाषा की सफ़ाई और संस्कृतवृत्तों का प्रवेश है और सबके पीछे है वह सात्त्विक प्रेरणा, जो उनके जीवन के मूल से उच्छ्वसित होकर उनकी साहित्य-सेवा के कोने-कोने में फैल गई।" दूसरे शब्दों में उनके व्यक्तित्व ने अपने समय के प्रायः सभी कवियों पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य डाला। 'सरस्वती' में जितनी कवितायें प्रकाशित होती थीं, उन पर द्विवेदी जी की छाप स्पष्ट है। 'कविता-कलाप' की भूमिका में उन्होंने लिखा है—

"चित्र-कला और कविता का घनिष्ठ संबंध है। दोनों में एक प्रकार का अनोखा सादृश्य है। दोनों का काम भिन्न-भिन्न प्रकार के दृश्यों और मनोविकारों को चित्रित करना है। जिस बात को चित्रकार चित्र द्वारा व्यक्त करता है, उसी बात को कवि कविता द्वारा व्यक्त कर सकता है। कविता भी एक प्रकार का चित्र है। कविता के श्रवण से आनंद होता है; चित्र के दर्शन से। कवि और चित्रकार में किसका आसन उच्च है इसका निर्णय करना कठिन है; क्योंकि किसी चित्र के भाव को कविता द्वारा व्यक्त करने से जिस प्रकार अलौकिक आनंद की वृद्धि होती है, उसी प्रकार के कविता-गत किसी भाव को चित्र द्वारा स्पष्ट करने से भी उसकी वृद्धि होती है। चित्र देखने से नेत्र तृप्त होते हैं, कविता पढ़ने या सुनने से कान।"

पर विषय-संबंधी यह आदर्श और अंतःकरण को स्पर्श करनेवाली क्षमता द्विवेदी जी और उनके शिष्य-वर्ग की

तत्कालीन रचनाओं में नहीं है। हाँ, कविता की भाषा का जो स्वरूप द्विवेदी जी ने अपनी रचनाओं के द्वारा जनता के सामने रक्खा उसे 'सरस्वती' के कवियों ने अवश्य अपनाया। वे स्वयं भी भाषा-संबंधी अपने विचारों पर अंत तक दृढ़ रहे। प्रकाशनार्थ आई हुई कविताओं में भाषा का संस्कार—संशोधन एवं परिमार्जन—करने में वे बड़ी तत्परता से काम लेते थे। कविता करने का जिनको नया ही शौक़ हुआ था, उनकी भाषा में शिथिलता और अव्यवस्था तो होती ही थी; साथ ही वे ब्रज, अवधी और खड़ी बोली, सभी की खिचड़ी पका डालते थे। द्विवेदी जी इन्हें सुधारा करते थे; शब्द ही नहीं, पंक्तियाँ की पंक्तियाँ उन्हें बदलनी पड़ती थीं। उनके इस श्रम का आज अनुमान करना भी हमारे लिए कठिन है। इसी प्रकार संस्कृत के वृत्तों का भी वे प्रचार कर रहे थे और अधिकांश साहित्य-प्रेमी इस कार्य के पक्ष में भी थे—उन्हें उत्साहित किया करते थे। ऊपर के पत्र इस कथन के प्रमाण-स्वरूप माने जा सकते हैं।

संक्षेप में "पद्य के वर्तमान स्वरूप और उसके संविधान में द्विवेदी जी के सफल हस्तकौशल अंतर्निहित हैं।" इस काल में कविता का चोला ही बदल गया। पहले जनता ब्रजभाषा की शृंगारिकता पर मुग्ध थी, पर जब छोटी-छोटी सरल और हृदय के सच्चे और निष्कपट उद्‌गारपूर्ण सामयिक रचनायें सामने आईं, तब ब्रजभाषा की कविता से उसे एक प्रकार की, विरक्ति-सी हो गई। यद्यपि किसी सीमा तक यह ठीक माना जा सकता है कि "कथानक के सहारे इस युग की कल्पना अपने प्रसार के लिए थोड़ा-बहुत मार्ग निकाल लेती थी, मुक्तक के क्षेत्र में उसे हाथ पर हाथ धरकर बैठना पड़ता था," तथापि इस कथन में भी कोई अत्युक्ति नहीं हो सकती कि "खड़ी बोली के घट को

साहित्य के विस्तृत प्रांगण में स्थापित कर आचार्य महावीर-प्रसाद जी द्विवेदी ने मंत्र-पाठ-द्वारा देश के नवयुवकसमुदाय को एक अत्यंत शुभ मुहूर्त में आमंत्रित किया और उस घट में कविता की प्राण-प्रतिष्ठा की।" आज जिन सत्कवियों के द्वारा हिंदी-साहित्य के काव्य के अंग की पूर्ति हो रही है और जिन पर हमें अभिमान है वे किसी समय द्विवेदी जी के शिष्य रह चुके हैं। दूसरे शब्दों में पंडित श्रीधर पाठक की लगाई हुई जिस छोटी पौद को सींचने और अनुप्राणित करने में उन्होंने लगन और साधना से योग दिया था वही उनके जीवन के उत्तरार्द्ध-काल में पल्लवित हो गई।

———

भाषा-शैली

सुप्रसिद्ध अँगरेज़ी लेखक रस्किन ने एक स्थान पर लिखा है कि अच्छे गद्य-लेखक को अपना आशय ख़ूब छिपाकर रखना चाहिए। उसका आदर्श था कि पाठक ऐसे अध्यवसायी और ज्ञानार्जन के उत्सुक हों जो अँगरेज़ी भाषा में लिखी हुई पुस्तकों को भली भाँति समझने के लिए ग्रीक और लैटिन, फ्रेंच और जर्मन आदि भाषाओं का भी अध्ययन करने के लिए सहर्ष तैयार हों; जिस प्रकार सोना प्राप्त करने के लिए लोग पहाड़ तक काट डालते हैं, उसी प्रकार अलंकृत भाषा में उलझे हुए भावों को समझने के लिए शब्द-जाल काटने का साहस रखते हों।

परंतु द्विवेदी जी ने इस आदर्श को नहीं अपनाया। रस्किन का कथन तो उस अँगरेज़ी-साहित्य के लिए था, जिसके प्रायः सभी अंग पुष्ट हो चुके थे। इसके विपरीत, द्विवेदी जी को महल तैयार करना था—नींव रखनी थी। इसके लिए वे दूसरों की सहायता चाहते थे; वे उन्हें उत्साहित करते थे और साम, दाम, दंड और   से उनसे काम लेते थे।

लेखक शब्दों-द्वारा अपना संदेश दूसरों तक पहुँचाना चाहता है—उसके लिखने का यही अभिप्राय होता है। परंतु इस कार्य में वह सफल तभी हो सकता है जब उसकी भाषा सरल हो और भाव बिलकुल स्पष्ट हों। क्लिष्ट, अलंकारों से लदी, शास्त्र के नियमों से जकड़ी हुई भाषा का प्रयोग यदि कोई लेखक करता है तो परिणाम यह होता है कि पाठक उसके कथन की

ओर ध्यान नहीं देते और न उसके भावों को समझने की ही चेष्टा करते हैं। भाषा की क्लिष्टता और दुरूहता से, वास्तव में, लेखक की विद्वत्ता भी प्रकट नहीं होती। वास्तविक विद्वत्ता तो जन-साधारण को अपने विचारों से परिचित करा सकने में, अपना संदेश सभी तक पहुँचा सकने में, है। क्या कालिदास और तुलसीदास ऐसी रचना नहीं कर सकते थे जिसको बड़े-बड़े विद्वान् भी न समझ पाते? पर उन्होंने वैसा नहीं किया, अपनी सरल और सरस रचना के लिए ही वे आज विश्व में प्रसिद्ध हैं।

द्विवेदी जी भी इसी सिद्धांत के पक्षपाती थे। उनके प्रादुर्भाव के समय खड़ी बोली के तीन रूप मिलते थे। पहला भाषा का संस्कृतमय रूप जिसके जन्मदाता राजा लक्ष्मणसिंह समझे जाते थे। दूसरा हिंदी का वह रूप जिसमें अरबी-फ़ारसी के शब्दों का बाहुल्य था और राजा शिवप्रसाद जिसके पक्षपाती थे। हिंदी के इस रूप का प्रचार मुसलमानों में तो था ही, हिंदुओं को भी इसे ग्रहण करना पड़ा था। तीसरे रूप के प्रदर्शक भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र थे। उनके हृदय में देश-प्रेम का स्रोत प्रवाहित हो रहा था, वे भारत की स्वतंत्रता के लिए स्वयं अनवरत परिश्रम करते थे और चाहते थे कि सभी भारतवासी इसे अपना कर्तव्य समझें। अपना यह संदेश दूसरों तक पहुँचाने के लिए उन्हें हिंदी के उस रूप का प्रचार करना पड़ा जिसे जन-साधारण सरलता से समझ सके। इसलिए उनकी भाषा में आवश्यकतानुसार भावों को स्पष्ट करने के लिए ही शब्दों का प्रयोग होता था। ये शब्द संस्कृत के भी होते थे और अरबी-फ़ारसी के भी—कुछ अँगरेज़ी शब्दों का प्रयोग भी होने लगा था। सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा यही थी।

भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय में इन तीनों ही रूपों में लिखने-वाले मौजूद थे। पर यह बात छिपी न रही कि जनता किस रूप का प्रचार उचित और आवश्यक समझती है। संस्कृत का प्रचार, एक प्रकार से, देश में बिलकुल था ही नहीं; अतः संस्कृत-प्रधान पहले रूप को जनता कैसे अपना सकती थी? इसके विपरीत, उर्दू का प्रचार बहुत बढ़ा-चढ़ा था। मुसलमानों के फ़ारसी को अपनाने पर लोगों ने इस भाषा का अध्ययन किया था। जीविकोपार्जन का प्रश्न इसका कारण था। उन दिनों उर्दू का मान था; कचहरियों आदि में उसी का प्रयोग होता था। अतः लोग उर्दू पढ़ते थे। लिपि की क्लिष्टता और अनुपयुक्तता के कारण जीविका के प्रश्न के बाहर, अन्य किसी कार्य के लिए प्रायः उर्दू को अपनाने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। स्त्रियों की शिक्षा के लिए भी उसे अनुपयुक्त ही समझा गया था। देवनागरी लिपि फ़ारसी लिपि से कहीं सरल थी। इस सरलता के कारण ही जो लोग स्वयं उर्दू पढ़ते थे वे भी स्त्रियों की शिक्षा के लिए देवनागरी लिपि को ही ठीक समझते थे। यही कारण है कि उर्दू पढ़ना अनिवार्य समझा जाने पर भी लोग देवनागरी लिपि को अपनाते रहे और उसका प्रचार बढ़ता रहा।

परंतु भारतेंदु के समय में हिंदी का प्रचार बढ़ने का कारण लिपि की सरलता नहीं थी, उस समय की राजनीतिक परिस्तिथि इसका कारण थी। देश की पराधीनता से दुखी होकर जिन स्वदेश-प्रेमियों ने भारतीयता की भावना को प्रत्येक भारतवासी के हृदय में जाग्रत करना चाहा, उन्होंने यह समझ लिया कि जब तक देश की एक राष्ट्रभाषा नहीं हो जाती, राष्ट्रीयता की भावना का उत्पन्न होना संभव नहीं। इसी से उन्होंने जन-साधारण

में प्रचलित भाषा को अपनाकर अपना संदेश भारत के बच्चे-बच्चे तक पहुँचा देना चाहा। कुछ लोगों ने इसका विरोध किया; पर बहुतों ने इसे अपनाया भी। द्विवेदी जी भी ऐसे ही लोगों में थे। वे सरल से सरल भाषा लिखने के पक्ष में थे—न संस्कृत शब्दों का विरोध या बहिष्कार करते थे, न अरबी-फ़ारसी का ही। उनका मत था कि प्रचलित शब्दों को अपना लेना ही हिंदी-भाषा-भाषियों के लिए उपयुक्त होगा, चाहे ये शब्द संस्कृत के हों, चाहे अरबी-फ़ारसी या अँगरेज़ी के। इसी से उनकी भाषा में न तो संस्कृत के तत्कालीन पक्षपातियों का-सा सामासिक शब्द-जाल है और न उर्दू-लेखकों की भाषा की कलाबाज़ियाँ या चुलबुलाहट। इनकी भाषा में सजीवता है और स्वाभाविकता भी, जिसको पढ़ कर और समझकर पाठक मुदित हो जाता है। उनकी भाषा के इस गुण पर बहुत से लोग लट्टू थे, और हैं भी। अक्टूबर सन् १९३४ के 'विशाल-भारत' में उसके संपादक पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने उनके एक पत्र को अपने नोट के साथ प्रकाशित किया था। यह पत्र उनके स्वभाव का द्योतक तो है ही, साथ ही, उनकी भाषा का भी नमूना है। पत्र चतुर्वेदी जी को ही लिखा गया था जो इस प्रकार है—

दौलतपुर (रायबरेली)

१४-५-३४

"नमस्कार,

११ मई का कार्ड मिला। यह जानकर बड़ी ख़ुशी हुई कि आपके वर्मा जी मेरे पुराने मेहरबान बाबू कृष्णदास जी के भतीजे हैं।

अभिनंदन-ग्रंथ में मैंने झाँक-झूँक कर वर्मा जी के शेख़ जी को देख लिया। उन्होंने शायरों की तरफ़ से अच्छी वकालत की है। शेख़ जी अगर इतने बुरे हैं तो किसी न किसी की नज़र में वे भले भी हैं। ज़रा अकबर की ये सतरें मुलाहज़ा फ़रमाई जायँ—

शेख़ जी घर से न निकले और यह कहला दिया—
आप बी० ए० पास हैं तो बंदा बी बी पास है।

किस मौक़े की यह उक्ति है यह शायद आप जानते ही होंगे। वर्मा जी का वह लेख बड़ा सुंदर है।

आपका
म० प्र० द्विवेदी"

इस पत्र को हम उनकी भाषा का प्रतिनिधि तो नहीं मानते, हाँ, इतना अवश्य कह सकते हैं कि द्विवेदी जी ऐसी ही सरल भाषा लिखने के पक्ष में थे और चाहते थे कि दूसरे भी भाषा के इस रूप को ही अपनायें। इस विषय का एक नोट 'सरस्वती' के प्राय: प्रत्येक अंक में वे दिया करते थे। यदि कोई लेखक या पत्र-पत्रिका-संपादक आक्षेप करता कि आप भाषा की शुद्धता खोकर उसे बिगाड़ना चाहते हैं तो वे उसे समझाते हुए, उत्तर देते कि संस्कृत के कठिन तत्सम शब्द क्यों लिखे जायँ? 'घर' शब्द क्या बुरा है, जो 'गृह' लिखा जाय? 'क़लम' क्या बुरा है जो 'लेखनी' लिखी जाय? 'ऊँचा' क्या बुरा है जो 'उच्च' लिखा जाय? वास्तव में, संस्कृत से हिंदी का साधारण आर्थिक संबंध भी उन्हें इष्ट था। संस्कृत के 'मार्दव' के स्थान पर वे हिंदी 'मृदुता' के पक्षपाती थे, परंतु यदि उनसे 'मृदुत्व' और 'मृदुपन' आदि के व्यवहार की स्वच्छंदता माँगी जाती तो

वे उसे अस्वीकार कर देते। 'श्रेष्ठ', 'श्रेष्ठतर' 'श्रेष्ठतम' और 'सर्वश्रेष्ठ' आदि के व्यवहार का उन्होंने विरोध किया। 'नोकदार नाक' के बदले 'नोकवती नासा' उन्हें नहीं रुच सकती थी। संस्कृत से एक श्रेणी नीचे का अपभ्रंश, जो हिंदी में अपना लिया जाता है, द्विवेदी जी भी अपना लेते हैं, परंतु इसके आगे वे आप नहीं बढ़ते*। यदि द्विवेदी जी पर उर्दू शब्दों को ग्रहण करने का दोष लगाया जाता था तो भी वे शांत रह कर ही दोषारोपण करनेवालों को समझाया करते थे। यह बात लगभग २० वर्ष पहले उन्होंने बाबू कालिदास जी कपूर, एम० ए०, एल० टी०, को एक पत्र में लिखी थी। पत्र यों है—

डाकख़ाना दौलतपुर (रायबरेली)
१५-३-१८

"महाशय,

पत्र मिला; धन्यवाद। मेरी वही राय है जो आपकी है। मैं तदनुसार वर्ताव भी करता हूँ। सरल लिखने की चेष्टा करता हूँ। उर्दू भिन्न भाषा नहीं, अरबी-फ़ारसी के जो शब्द प्रचलित हैं उन्हें मैं हिंदी ही के शब्द समझता हूँ। मेरे लेख इस बात के प्रमाण हैं। पहले लोग लिखा करते थे। कहते थे कि यह हिंदी को बिगाड़ रहा है। पर अब नहीं बोलते। और लोग भी 'सरस्वती' का अनुकरण करने लगे हैं।

भवदीय
म० प्र० द्विवेदी"

---

* द्वि० अ० ग्र०—प्रस्तावना।

अभिनंदन-ग्रंथ में मैंने झाँक-झूँक कर वर्मा जी के शेख़ जी को देख लिया। उन्होंने शायरों की तरफ़ से अच्छी वकालत की है। शेख़ जी अगर इतने बुरे हैं तो किसी न किसी की नज़र में वे भले भी हैं। ज़रा अकबर की ये सतरें मुलाहज़ा फ़रमाई जायँ—

शेख़ जी घर से न निकले और यह कहला दिया—
आप बी० ए० पास हैं तो बंदा बी बी पास है।

किस मौक़े की यह उक्ति है यह शायद आप जानते ही होंगे। वर्मा जी का वह लेख बड़ा सुंदर है।

आपका
म० प्र० द्विवेदी"

इस पत्र को हम उनकी भाषा का प्रतिनिधि तो नहीं मानते, हाँ, इतना अवश्य कह सकते हैं कि द्विवेदी जी ऐसी ही सरल भाषा लिखने के पक्ष में थे और चाहते थे कि दूसरे भी भाषा के इस रूप को ही अपनायें। इस विषय का एक नोट 'सरस्वती' के प्राय: प्रत्येक अंक में वे दिया करते थे। यदि कोई लेखक या पत्र-पत्रिका-संपादक आक्षेप करता कि आप भाषा की शुद्धता खोकर उसे बिगाड़ना चाहते हैं तो वे उसे समझाते हुए, उत्तर देते कि संस्कृत के कठिन तत्सम शब्द क्यों लिखे जायँ? 'घर' शब्द क्या बुरा है, जो 'गृह' लिखा जाय? 'क़लम' क्या बुरा है जो 'लेखनी' लिखी जाय? 'ऊँचा' क्या बुरा है जो 'उच्च' लिखा जाय? वास्तव में, संस्कृत से हिंदी का साधारण आर्थिक संबंध भी उन्हें इष्ट था। संस्कृत के 'मार्दव' के स्थान पर वे हिंदी 'मृदुता' के पक्षपाती थे, परंतु यदि उनसे 'मृदुत्व' और 'मृदुपन' आदि के व्यवहार की स्वच्छंदता माँगी जाती तो

वे उसे अस्वीकार कर देते। 'श्रेष्ठ', 'श्रेष्ठतर' 'श्रेष्ठतम' और 'सर्वश्रेष्ठ' आदि के व्यवहार का उन्होंने विरोध किया। 'नोकदार नाक' के बदले 'नोकवती नासा' उन्हें नहीं रुच सकती थी। संस्कृत से एक श्रेणी नीचे का अपभ्रंश, जो हिंदी में अपना लिया जाता है, द्विवेदी जी भी अपना लेते हैं, परंतु इसके आगे वे आप नहीं बढ़ते*। यदि द्विवेदी जी पर उर्दू शब्दों को ग्रहण करने का दोष लगाया जाता था तो भी वे शांत रह कर ही दोषारोपण करनेवालों को समझाया करते थे। यह बात लगभग २० वर्ष पहले उन्होंने बाबू कालिदास जी कपूर, एम० ए०, एल० टी०, को एक पत्र में लिखी थी। पत्र यों है—

डाकखाना दौलतपुर (रायबरेली)
१५-३-१८

"महाशय,

पत्र मिला; धन्यवाद। मेरी वही राय है जो आपकी है। मैं तदनुसार बर्ताव भी करता हूँ। सरल लिखने की चेष्टा करता हूँ। उर्दू भिन्न भाषा नहीं, अरबी-फ़ारसी के जो शब्द प्रचलित हैं उन्हें मैं हिंदी ही के शब्द समझता हूँ। मेरे लेख इस बात के प्रमाण हैं। पहले लोग लिखा करते थे। कहते थे कि यह हिंदी को बिगाड़ रहा है। पर अब नहीं बोलते। और लोग भी 'सरस्वती' का अनुकरण करने लगे हैं।

भवदीय
म० प्र० द्विवेदी"

* द्वि० अ० ग्र०—प्रस्तावना।

लोग उनके भाषा-संबंधी इन विचारों को सुनते थे, परंतु करते वही थे जो उनका मन होता था। इससे उन्हें बार-बार अपने इन विचारों को दुहराना पड़ता था। एक बार उन्होंने लिखा था—

"हिंदी जिन विदेशी शब्दों को आसानी से ग्रहण कर सके उन्हें तुरंत अपने में मिला लेना चाहिए। मैं जब स्वयं 'सरस्वती' में ऐसी भाषा का प्रयोग करने लगा तब लोगों ने बड़ा हो-हल्ला मचाया। कितने ही लोगों ने यहाँ तक इलज़ाम लगाया कि मैं भाषा को नष्ट कर रहा हूँ। परंतु, सत्य सत्य ही है। अब लोग आप से आप समझ गये।"

ऊपर के उदाहरणों से द्विवेदी जी की भाषा का नमूना भी मिल जाता है, साथ ही यह भी ज्ञात हो जाता है कि आरंभ में अपने भाषा-संबंधी मत का प्रचार करने में उन्हें अनेकानेक विरोधों का सामना करना पड़ा था। पर वे प्रमाण-सहित दूसरों को समझाया करते थे, व्यर्थ की गालियाँ देना और वाद-विवाद करना उन्हें पसंद नहीं था। यही कारण था कि जो लोग उनसे एक बार भी मिलते वे फिर संतुष्ट होकर ही जाते थे और द्विवेदी जी की दलीलें उन्हें निरुत्तर कर देती थीं।

यहाँ एक बात स्मरण रखनी चाहिए। भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनके समकालीन साहित्य-सेवियों ने, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, हिंदी भाषा के प्रचलित रूप को इस कारण अपनाया था कि राष्ट्रीयता या भारतीयता की भावना प्रत्येक भारतवासी के हृदय में उत्पन्न हो सके। दूसरे शब्दों में, इन लोगों द्वारा भाषा के प्रचलित रूप के अपनाये जाने का मूल कारण राजनीतिक था। पर द्विवेदी जी ने आरंभ में, इस या

अन्य किसी राष्ट्रीय भाषण से प्रभावित होकर उसे नहीं ग्रहण किया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे राष्ट्रीयता या भारतीयता के विरुद्ध थे; उनका पुनीत उद्देश्य यह था कि यदि भाषा को सरल बना दिया जायगा तो जनता—केवल साधारण हिंदी जाननेवाली भी—यह जान सकेगी कि आज संसार में क्या हो रहा है; उसका ज्ञान बढ़ेगा। उनका विश्वास था कि भाषा का मुख्य उद्देश्य यही है कि जन साधारण उसे समझ कर कुछ ज्ञानार्जन करे। 'सरस्वती' में (भाग १६, संख्या १ पृ० ५१) उन्होंने इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

"हिंदी में यदि कुछ लिखना हो तो भाषा ऐसी लिखनी चाहिए जिसे केवल हिंदी जाननेवाले भी सहज ही में समझ जायँ। संस्कृत और अँगरेज़ी शब्दों से लदी हुई भाषा से पांडित्य चाहे भले ही प्रकट हो पर उससे ज्ञान आनंददान का उद्देश अधिक नहीं सिद्ध हो सकता।"

सन् १९२८ के अक्टूबर की 'सरस्वती' में 'भारतीय भाषाओं का अन्वेषण' शीर्षक द्विवेदी जी का एक नोट प्रकाशित हुआ था। डाक्टर ग्रियर्सन साहब ने (Sir George Abraham Grierson, K. C. I. E., Ph. D., D. Litt., L. L. D., I, C. S.—Retired—) भारत की भाषाओं और बोलियों के विषय में अन्वेषण करके १३ भागों में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की थी, उसी के विषय में द्विवेदी जी का यह नोट था। ग्रियर्सन साहब ने भारतीय भाषाओं की संख्या १७९ और बोलियों की संख्या ५४४ बताई। द्विवेदी जी ने इस विषय में कुछ नहीं कहा; पर उन्हें इसका दुःख अवश्य हुआ कि हिंदी या हिंदुस्तानी के प्रचार-प्रसार पर ग्रियर्सन साहब ने जानते हुए भी कुछ नहीं लिखा। अतः उन्होंने यह नोट दिया—

"हाँ, एक बात खटकनेवाली ज़रूर है। डाक्टर ग्रियर्सन ने जो ये बड़ी-बड़ी इतनी जिल्दें लिखकर भारतीय भाषाओं का फल प्रकाशित किया है उसके कम से कम एक अध्याय में उन्हें हिंदी या हिंदुस्तानी भाषा की व्यापकता पर जुदा विचार करना चाहिए था। उन्हें यह दिखाना चाहिए था कि यद्यपि इस देश में सैकड़ों बोलियाँ या भाषाएँ प्रचलित हैं और यद्यपि उत्पत्ति तथा विकास की दृष्टि से उसके कई भेद हैं तथापि यही भाषा ऐसी है जिसके बोलनेवाले सबसे अधिक हैं और जिसे भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी प्रांतों के निवासी भी, किसी हद तक, समझ सकते हैं। इस दशा में राजकार्य-निर्वाह और पारस्परिक व्यवहार के लिए यदि भारत की प्रधान भाषा यही मान ली जाय तो इससे देश को अनेक लाभ पहुँच सकते हैं।"

द्विवेदी जी के इस कथन से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि हिंदी भाषा को सरलतम रूप देकर हिंदुस्तानी-सा बना देने के वे पक्ष में थे क्योंकि उसे किसी सीमा तक समझनेवाले भारत के प्रायः सभी प्रांतों में रहते हैं। दूसरे, यदि एक भाषा का देश में प्रचार हो जायगा तो देश में एक राष्ट्रीयता या एक जातीयता की भावना की उत्पत्ति सरलता से हो सकेगी। उनका तीसरा उद्देश्य यह था कि हिंदी भाषा में गंभीर से गंभीर और गूढ़ से गूढ़ विषय को सरल भाषा में व्यक्त करने की क्षमता आ जायगी। वे हिंदी-संसार को यह सुझा देना चाहते थे कि हिंदी भाषा की अभिव्यंजन शक्ति किसी स्वतंत्र भाषा से कम नहीं है और उसमें जो कमी है भी, वह प्रचलित शब्द ग्रहण करने से शीघ्र ही दूर की जा सकती है। अपने इस अंतिम उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए 'हिंदी-भाषा की ग्राहिका-शक्ति' के विषय में उन्होंने लिखा था—

"जिस तरह शरीर के पोषण और उद्यम के लिए बाहर के खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होती है, वैसे ही सजीव भाषाओं की बाढ़ के लिए विदेशी शब्दों और भावों के संग्रह की आवश्यकता होती है। जो भाषा ऐसा नहीं करती या जिसमें ऐसा होना बंद हो जाता है, वह उपवास-सी करती हुई किसी दिन मुर्दा नहीं तो निर्जीव-सी ज़रूर हो जाती है। दूसरी भाषाओं के शब्दों और भावों के ग्रहण कर लेने की शक्ति रहना ही सजीवता का लक्षण है और जीवित भाषाओं का यह स्वभाव, प्रयत्न करने पर भी, परित्यक्त नहीं हो सकता।"

यहाँ तक वे परोक्ष रूप में—भूमिका के ढंग पर—अपने उद्देश्य से पाठकों को परिचित कराते रहे, पर फिर अपने को रोक न सके और मातृभाषा हिंदी के प्रेम के आवेश में कह चले—

"हमारी हिंदी सजीव भाषा है। इसी से, संपर्क के प्रभाव से, उसने अरबी-फ़ारसी और तुर्की भाषाओं तक के शब्द ग्रहण कर लिये हैं और अब अँगरेज़ी भाषा के भी शब्द ग्रहण करती जा रही है। इसे दोष नहीं गुण ही समझना चाहिए। क्योंकि अपनी इस ग्राहिका-शक्ति के प्रभाव से हिंदी अपनी वृद्धि ही कर रही है, ह्रास नहीं। ज्यों-ज्यों उसका प्रचार बढ़ेगा त्यों-त्यों उसमें नये-नये शब्दों का आगमन होता जायगा। हमें केवल यह देखते रहना चाहिए कि इस संमिश्रण के कारण कहीं हमारी भाषा अपनी विशेषता को खो तो नहीं रही है—कहीं बीच-बीच में अन्य भाषाओं के बेमेल शब्दों के योग से वह अपना रूप विकृत तो नहीं कर रही है।"

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, हिंदी की ग्राहिका-शक्ति के विषय में जनता का ध्यान आकर्षित करने और सरल भाषा

"हाँ, एक बात खटकनेवाली ज़रूर है। डाक्टर ग्रियर्सन ने जो ये बड़ी-बड़ी इतनी जिल्दें लिखकर भारतीय भाषाओं का फल प्रकाशित किया है उसके कम से कम एक अध्याय में उन्हें हिंदी या हिंदुस्तानी भाषा की व्यापकता पर जुदा विचार करना चाहिए था। उन्हें यह दिखाना चाहिए था कि यद्यपि इस देश में सैकड़ों बोलियाँ या भाषाएँ प्रचलित हैं और यद्यपि उत्पत्ति तथा विकास की दृष्टि से उसके कई भेद हैं तथापि यही भाषा ऐसी है जिसके बोलनेवाले सबसे अधिक हैं और जिसे भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी प्रांतों के निवासी भी, किसी हद तक, समझ सकते हैं। इस दशा में राजकार्य-निर्वाह और पारस्परिक व्यवहार के लिए यदि भारत की प्रधान भाषा यही मान ली जाय तो इससे देश को अनेक लाभ पहुँच सकते हैं।"

द्विवेदी जी के इस कथन से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि हिंदी भाषा को सरलतम रूप देकर हिंदुस्तानी-सा बना देने के वे पक्ष में थे क्योंकि उसे किसी सीमा तक समझनेवाले भारत के प्रायः सभी प्रांतों में रहते हैं। दूसरे, यदि एक भाषा का देश में प्रचार हो जायगा तो देश में एक राष्ट्रीयता या एक जातीयता की भावना की उत्पत्ति सरलता से हो सकेगी। उनका तीसरा उद्देश्य यह था कि हिंदी भाषा में गंभीर से गंभीर और गूढ़ से गूढ़ विषय को सरल भाषा में व्यक्त करने की क्षमता आ जायगी। वे हिंदी-संसार को यह सुझा देना चाहते थे कि हिंदी भाषा की अभिव्यंजन शक्ति किसी स्वतंत्र भाषा से कम नहीं है और उसमें जो कमी है भी, वह प्रचलित शब्द ग्रहण करने से शीघ्र ही दूर की जा सकती है। अपने इस अंतिम उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए 'हिंदी-भाषा की ग्राहिका-शक्ति' के विषय में उन्होंने लिखा था—

"जिस तरह शरीर के पोषण और उद्यम के लिए बाहर के खाद्य पदार्थों की आवश्यकता होती है, वैसे ही सजीव भाषाओं की बाढ़ के लिए विदेशी शब्दों और भावों के संग्रह की आवश्यकता होती है। जो भाषा ऐसा नहीं करती या जिसमें ऐसा होना बंद हो जाता है, वह उपवास-सी करती हुई किसी दिन मुर्दा नहीं तो निर्जीव-सी ज़रूर हो जाती है। दूसरी भाषाओं के शब्दों और भावों के ग्रहण कर लेने की शक्ति रहना ही सजीवता का लक्षण है और जीवित भाषाओं का यह स्वभाव, प्रयत्न करने पर भी, परित्यक्त नहीं हो सकता।"

यहाँ तक वे परोक्ष रूप में—भूमिका के ढंग पर—अपने उद्देश्य से पाठकों को परिचित कराते रहे, पर फिर अपने को रोक न सके और मातृभाषा हिंदी के प्रेम के आवेश में कह चले—

"हमारी हिंदी सजीव भाषा है। इसी से, संपर्क के प्रभाव से, उसने अरबी-फ़ारसी और तुर्की भाषाओं तक के शब्द ग्रहण कर लिये हैं और अब अँगरेज़ी भाषा के भी शब्द ग्रहण करती जा रही है। इसे दोष नहीं गुण ही समझना चाहिए। क्योंकि अपनी इस ग्राहिका-शक्ति के प्रभाव से हिंदी अपनी वृद्धि ही कर रही है, ह्रास नहीं। ज्यों-ज्यों उसका प्रचार बढ़ेगा, त्यों-त्यों उसमें नये-नये शब्दों का आगमन होता जायगा। हमें केवल यह देखते रहना चाहिए कि इस संमिश्रण के कारण कहीं हमारी भाषा अपनी विशेषता को खो तो नहीं रही है—कहीं बीच-बीच में अन्य भाषाओं के बेमेल शब्दों के योग से वह अपना रूप विकृत तो नहीं कर रही है।"

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, हिंदी की ग्राहिका-शक्ति के विषय में जनता का ध्यान आकर्षित करने और सरल भाषा

लिखने के दो प्रधान कारण थे। पहला, हिंदी की अभिव्यंजन शक्ति की स्वतंत्रता से सभी को परिचित करा देना, जिसका सुपरिणाम, जिसकी द्विवेदी जी को पूर्ण और सत्य आशा थी, यह होगा कि विभिन्न विषयों की पुस्तकें हिंदी-भाषा में लिखी जायँगी और हिंदी-साहित्य के रिक्त अंगों की पूर्ति हो सकेगी; जिन विषयों की पुस्तकें केवल अनुवाद रूप में ही हिंदी में दिखाई देती हैं, उन पर स्वतंत्र और मौलिक पुस्तकें लिखी जायँगी।

दूसरा कारण यह था कि हिंदी का प्रचार-प्रसार बढ़ेगा। मुसलमानों के समय में जिस भाषा को लोगों ने अपनाया था और जिसको समझनेवाले, बीसवीं शताब्दी के आरंभ में भी, भारत के प्रायः सभी प्रांतों में बसते थे वह हिंदी ही थी। द्विवेदी जी ने इस बात को स्वयं कई बार कहा है और दूसरे महानुभावों ने स्वीकार भी किया था। उनका विचार था कि यदि देश में स्वतंत्रता के लिए किसी प्रकार का उद्योग करना है तो पहली बात यह होनी चाहिए कि हिमालय से लेकर कुमारी अंतरीप तक और पूर्व से पश्चिम तक एक ही भाषा का प्रचार होना चाहिए। हिंदी को समझनेवाले सभी जगह बसते हैं पर देवनागरी लिपि का प्रचार नहीं है अतः यदि इस लिपि का और साथ ही हिंदी के सरलतम रूप का प्रचार किया जाय तो शीघ्र ही इस देश की एक भाषा हो जायगी जिसे हम राष्ट्रभाषा के नाम से पुकार सकेंगे।

कालांतर में द्विवेदी जी की उक्त सभी अभिलाषाएँ पूर्ण हुईं। सरस्वती-संपादन काल में ही उनके प्रयत्न से अनेकानेक विषयों पर—जिनका लोग नाम भी नहीं जानते थे—लेख प्रकाशित हुए और क्रमशः पुस्तकें भी लिखी गईं। आज हिंदी-

प्रचार के लिए भी सभी सुदूर प्रांतों में लोग संलग्न हैं। हिंदी को राष्ट्रभाषा समझा जाने लगा है और प्रायः सभी इस बात को स्वीकार भी करने लगे हैं। इसका श्रेय द्विवेदी जी के अतिरिक्त किसे दिया जाय? हिंदी-भाषा के विशाल और विस्तृत साम्राज्य की नींव डालनेवाला इनके अतिरिक्त हम किसे कह सकते हैं?

भाव-प्रकाशन-शैली

"जहाँ व्यक्तित्व है, वहाँ शैली भी है। शैली भीतर की आत्मा का बाह्य रूप है उस (द्विवेदी जी की) शैली में कितना संयम है, कितना प्रसाद है, कितना ओज है, कितना सुलझाव है। उसमें रसिकों का बाँकपन नहीं, पंडितों का गाम्भीर्य नहीं, ज्ञानियों की शुष्कता नहीं—एक सीधे-सादे उदार व्यक्ति की सजीवता है!"

—स्व० प्रेमचंद

शैली से हमारा तात्पर्य लेखक की शब्दयोजना, उसके वाक्यों की बनावट और ध्वनि आदि से रहता है। यद्यपि इसे हम भावों और विचारों का परिधान नहीं कह सकते; कारण, परिधान का अस्तित्व भिन्न होता है, तथापि शैली की विशिष्टता लेखक की भाव-पद्धति और विचार-पद्धति से प्रभावित अवश्य होती है। साथ ही, शैली की विशिष्टता के लिए, भाषा पर अधिकार होना आवश्यक है; जिस व्यक्ति का अपनी भाषा पर जितना ही अधिकार होगा, उसकी शैली उतनी ही स्पष्ट और संयत होगी। द्विवेदी जी भावुक भी थे और उनका हिंदी-भाषा पर ही नहीं, संस्कृत, अँगरेज़ी, गुजराती, मराठी, बँगला आदि कई भाषाओं पर अधिकार भी था। अतः उनकी शैली में विशिष्टता और स्पष्टता, सजीवता तथा रोचकता का होना: वाभाविक था।

भाव-प्रकाशन की दृष्टि से लेखक की शैली, प्रायः, विषयानुकूल हो जाती है। इस प्रकार एक ही लेखक की अनेक शैलियाँ

हो सकती हैं; लेकिन ऐसा होता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक प्रिय विषय होता है और उसी के अनुसार उसकी एक निजी शैली रहती है। द्विवेदी जी इस नियम के अपवाद माने जा सकते हैं। वे संपादक थे और उनका प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ था जब इतिहास, पुरातत्त्व, विज्ञान, अध्यात्मविद्या, संपत्तिशास्त्र, शासन-पद्धति आदि विषय न तो साहित्य के अंतर्गत ही समझे जाते थे और न इन विषयों के लेख ही प्रकाशित होते थे। जब उन्होंने ऐसे ही कुछ नवीन विषयों पर लेख लिखे और लिखवाये, तब उनकी विभिन्न शैलियों का प्रचलित हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसा प्रभाव उन पर उस समय नहीं पड़ सकता था जब पाश्चात्य देशों की तरह यहाँ उन्हें केवल संपादकीय कार्य करना पड़ता। उन देशों में उक्त सभी विषय साहित्य के अन्तर्गत समझे जाते हैं और पत्र-पत्रिकाओं में इन विषयों के लेख प्रकाशित होते रहते हैं। पर वहाँ प्रधान संपादक को ही सभी विषयों का मर्मज्ञ होने की आवश्यकता नहीं, उनकी सामान्य योग्यता ही अपेक्षित होती है और उसकी सहायता के लिए, मुख्य-मुख्य विषयों के ज्ञाता अनेक उप-संपादक रहते हैं।

पर उपर्युक्त सभी विषय द्विवेदी जी के प्रिय विषय नहीं थे। उनका उद्देश्य और लक्ष्य हिंदी-भाषा का परिष्कार, उसका प्रचार और हिंदी-साहित्य की उन्नति करना रहा था। इसके लिए उनको आलोचना के प्रचलित ढंग का आश्रय लेना पड़ा था। यों उन्होंने एक विशिष्ट लेखनशैली—आलोचनात्मक—को जन्म दिया जो उनकी निजी शैली है। उनकी आलोचनात्मक शैली के हम ३ भेद कर सकते हैं—

(१) आदेशपूर्ण, (२) ओजपूर्ण, (३) भावपूर्ण।

(१) आदेशपूर्ण

यह शैली उनकी रचनाओं में प्रधान है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि यही ढंग उस समय प्रचलित था, जैसा भारतेंदु हरिश्चंद्र या प्रतापनारायण मिश्र की रचनाओं को देखने से प्रकट होता है। लोग इसे अच्छा भी समझते थे कि भूले हुए साहित्यिक हिंदी-साहित्य के प्रति अपना कर्त्तव्य समझ जायँ। भूले हुए को उचित मार्ग पर लाने की इस सुधार-भावना ने उन्हें, एक प्रकार का उपदेशक-सा बना दिया। इस शैली का एक उदाहरण दिया जाता है—

"लेखकों को सरल और सुबोध भाषा में अपना वक्तव्य लिखना चाहिए। उन्हें वागाडंबर द्वारा पाठकों पर यह प्रकट करने की चेष्टा न करनी चाहिए कि वे कोई बड़ी ही गंभीर और बड़ी ही अलौकिक बात कह रहे हैं। इस प्रकार की जटिल भाषा को अनेक पाठक और समालोचक उच्च श्रेणी की भाषा कहते हैं। जिस रचना में संस्कृत के सैकड़ों क्लिष्ट शब्द हों, जिसमें संस्कृत के अनेकानेक वचन और श्लोक उद्धृत हों, जिसमें योरप तथा अमेरिका देशों के अनेक पंडितों और लेखकों के नाम हों, जिसमें अँगरेज़ी नाम, शब्द और वाक्य अँगरेज़ी ही अक्षरों में लिखे हों, उस रचना को लोग बहुधा पांडित्यपूर्ण समझते हैं। परंतु यह गुण नहीं, दोष है। हिंदी में यदि कुछ लिखना हो तो भाषा ऐसी लिखनी चाहिए जिसे केवल हिंदी जाननेवाले भी सहज ही में समझ जायँ। संस्कृत और अँगरेज़ी शब्दों से लदी हुई भाषा से पांडित्य चाहे भले ही प्रकट हो, पर उससे ज्ञान और आनन्ददान का उद्देश्य अधिक नहीं सिद्ध हो सकता। यदि एकमात्र पांडित्य ही दिखाने के उद्देश्य से किसी लेख या पुस्तक की रचना न की गई हो तो ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए जिसे अधिकांश पाठक समझ सकें। तभी रचना का उद्देश्य

सफल होगा—तभी उससे पढ़नेवालों के ज्ञान और आनंद की वृद्धि होगी।"

— सरस्वती

(२) ओजपूर्ण

यह शैली प्रेरणात्मक है। जब पूर्वास्त्र व्यर्थ सिद्ध होता था, तब इसका प्रयोग किया जाता था। इस शैली में, कहीं-कहीं, अँगरेज़ी के जानसन और रस्किन की शैली के दर्शन होते हैं। इसका उदाहरण, हिंदी-भाषा की शुद्धता और परिष्कार की चेष्टा करने, हिंदी-भाषा-प्रचार के लिए आन्दोलन करने, हिंदी-साहित्य की उन्नति की ओर ध्यान आकृष्ट करने, तथा भारतीयता, राष्ट्रीयता, स्वधर्म और आत्मगौरव के भावों को जाग्रत करने के उद्देश्य से लिखे हुए लेखों में ही प्रायः मिलता है। यहाँ तीन उदाहरण दिये जाते हैं—

"हमारे प्रान्त में शिक्षा की यह दशा है कि सौ में चार लड़के भी मदरसे नहीं जाते। शिक्षा में इतना पिछड़े हुए प्रदेश के शिक्षित निवासियों के लिए हिंदी से नफ़रत करना क्या लज्जा की बात नहीं? क्या उनकी अँगरेज़ी शिक्षा की बदौलत ही सारा देश शिक्षित हो जायगा? क्या उनकी अँगरेज़ी का प्रवेश गाँव-गाँव में कभी हो सकेगा? जिस देश में उनका पालन-पोषण हुआ, जिस भाषा में उन्होंने अम्मा, दद्दू और कक्कू कहना सीखा, उसका क्या उन पर कुछ ऋण नहीं?......। हाय भारत, तेरी भूमि ही कुछ ऐसी है (हो गई है?) कि उस पर क़दम रखते ही लोग तेरी भाषा का अनादर करने लगते हैं। योरप और अमेरिका के जिन प्रवासियों की कीर्त्ति का मान बरसों सरस्वती ने किया उनका अब कहीं पता है? कोई अध्यापकी में मस्त है, कोई बारिस्टरी में, कोई इंजिनियरी में। लिखने की प्रार्थना करो तो उत्तर मिलता है—फ़ुरसत नहीं। लालसा

(१) आदेशपूर्ण

यह शैली उनकी रचनाओं में प्रधान है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि यही ढंग उस समय प्रचलित था, जैसा भारतेंदु हरिश्चंद्र या प्रतापनारायण मिश्र की रचनाओं को देखने से प्रकट होता है। लोग इसे अच्छा भी समझते थे कि भूले हुए साहित्यिक हिंदी-साहित्य के प्रति अपना कर्त्तव्य समझ जायँ। भूले हुए को उचित मार्ग पर लाने की इस सुधार-भावना ने उन्हें, एक प्रकार का उपदेशक-सा बना दिया। इस शैली का एक उदाहरण दिया जाता है—

"लेखकों को सरल और सुबोध भाषा में अपना वक्तव्य लिखना चाहिए। उन्हें वागाडंबर द्वारा पाठकों पर यह प्रकट करने की चेष्टा न करनी चाहिए कि वे कोई बड़ी ही गंभीर और बड़ी ही अलौकिक बात कह रहे हैं। इस प्रकार की जटिल भाषा को अनेक पाठक और समालोचक उच्च श्रेणी की भाषा कहते हैं। जिस रचना में संस्कृत के सैकड़ों क्लिष्ट शब्द हों, जिसमें संस्कृत के अनेकानेक वचन और श्लोक उद्धृत हों, जिसमें योरप तथा अमेरिका देशों के अनेक पंडितों और लेखकों के नाम हों, जिसमें अँगरेज़ी नाम, शब्द और वाक्य अँगरेज़ी ही अक्षरों में लिखे हों, उस रचना को लोग बहुधा पांडित्यपूर्ण समझते हैं। परंतु यह गुण नहीं, दोष है। हिंदी में यदि कुछ लिखना हो तो भाषा ऐसी लिखनी चाहिए जिसे केवल हिंदी जाननेवाले भी सहज ही में समझ जायँ। संस्कृत और अँगरेज़ी शब्दों से लदी हुई भाषा से पांडित्य चाहे भले ही प्रकट हो, पर उससे ज्ञान और आनन्ददान का उद्देश्य अधिक नहीं सिद्ध हो सकता। यदि एकमात्र पांडित्य ही दिखाने के उद्देश्य से किसी लेख या पुस्तक की रचना न की गई हो तो ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए जिसे अधिकांश पाठक समझ सकें। तभी रचना का उद्देश्य

सफल होगा—तभी उससे पढ़नेवालों के ज्ञान और आनंद की वृद्धि होगी।"

— सरस्वती

(२) ओजपूर्ण

यह शैली प्रेरणात्मक है। जब पूर्वास्त्र व्यर्थ सिद्ध होता था, तब इसका प्रयोग किया जाता था। इस शैली में, कहीं-कहीं, अँगरेज़ी के जानसन और रस्किन की शैली के दर्शन होते हैं। इसका उदाहरण, हिंदी-भाषा की शुद्धता और परिष्कार की चेष्टा करने, हिंदी-भाषा-प्रचार के लिए आन्दोलन करने, हिंदी-साहित्य की उन्नति की ओर ध्यान आकृष्ट करने, तथा भारतीयता, राष्ट्रीयता, स्वधर्म और आत्मगौरव के भावों को जाग्रत करने के उद्देश्य से लिखे हुए लेखों में ही प्रायः मिलता है। यहाँ तीन उदाहरण दिये जाते हैं—

"हमारे प्रान्त में शिक्षा की यह दशा है कि सौ में चार लड़के भी मदरसे नहीं जाते। शिक्षा में इतना पिछड़े हुए प्रदेश के शिक्षित निवासियों के लिए हिंदी से नफ़रत करना क्या लज्जा की बात नहीं? क्या उनकी अँगरेज़ी शिक्षा की बदौलत ही सारा देश शिक्षित हो जायगा? क्या उनकी अँगरेज़ी का प्रवेश गाँव-गाँव में कभी हो सकेगा? जिस देश में उनका पालन-पोषण हुआ, जिस भाषा में उन्होंने अम्मा, दद्द और कक्कू कहना सीखा, उसका क्या उन पर कुछ ऋण नहीं?......। हाय भारत, तेरी भूमि ही कुछ ऐसी है (हो गई है?) कि उस पर क़दम रखते ही लोग तेरी भाषा का अनादर करने लगते हैं। योरप और अमेरिका के जिन प्रवासियों की कीर्त्ति का मान बरसों सरस्वती ने किया उनका अब कहीं पता है? कोई अध्यापकी में मस्त है, कोई बारिस्टरी में, कोई इंजिनियरी में। लिखने की प्रार्थना करो तो उत्तर मिलता है—फ़ुरसत नहीं। लालसा

नहीं, सामग्री पास नहीं !!! पर अँगरेज़ी लिखने के सारे साधन सदा ही उनके सामने हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। हो चुकी हिंदी की उन्नति ! हो चुकी देश की उन्नति !"

यह अवतरण अप्रैल, सन् १९१३ की सरस्वती (पृ० २४३, ४४) से लिया गया है। भाषा में ओज है और कहने का ढंग भी ऐसा कि पढ़ते ही प्रभाव पड़ता है। दूसरा उदाहरण देखिए—

"साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती। योरप में हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पाटन साहित्य ही ने किया है; जातीय स्वातंत्र्य के बीज उसी ने बोये हैं; व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के भावों को भी उसी ने पाला, पोसा और बढ़ाया है, पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है ? फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है ? पादाक्रांत इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है ? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने। जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी ज़िन्दा करनेवाला संजीवनी ओषधि का आकर है, जो साहित्य पतितों को उठानेवाला और उत्थितों के मस्तक को उन्नत करनेवाला है उसके उत्पादन और संवर्द्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती वह अज्ञानांधकार के गर्त्त में पड़ी रहकर किसी दिन अपना अस्तित्व ही खो बैठती है। अतएव समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्त्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता, वह समाजद्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जातिद्रोही है, किंबहुना वह आत्मद्रोही और आत्महन्ता भी है।"

—साहित्य की महत्ता

इस शैली का एक तीसरा नमूना "शिक्षा" शीर्षक पुस्तक की भूमिका में मिलता है। उन्होंने लिखा है—

"जो मनुष्य अपनी संतति के जीवन को यथाशक्ति सार्थक करने की योग्यता नहीं रखते अथवा जान बूझ कर उस तरफ ध्यान नहीं देते, उनको पिता बनने का अधिकार नहीं; उनको पुत्रोत्पादन करने का अधिकार नहीं; उनको विवाह करने का अधिकार नहीं।"

—'शिक्षा' भूमिका पृ० २

इन अवतरणों को यदि उचित ढंग से पढ़ा जाय तो सुननेवालों पर अवश्य ही प्रभाव पड़ेगा। यही इस शैली की विशेषता है और यही इसका उद्देश्य।

(३) भावपूर्ण

तीसरी शैली भावपूर्ण है। भावावेश में सच्चे हृदयोद्गार इसी में प्रकट किये जाते हैं। इस प्रकार की शैली के जन्मदाता ठाकुर जगमोहनसिंह थे और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में भी इस शैली के दर्शन होते हैं। यहाँ द्विवेदी जी की इस प्रकार की शैली के दो छोटे-छोटे उदाहरण दिये जाते हैं। एक 'पृथिवी-प्रदक्षिणा'-नामक पुस्तक की आलोचना से और दूसरा पंडित बालकृष्ण भट्ट के देहांत पर दिये हुए नोट से। दोनों सच्चे हृदयोद्गार के उदाहरण हैं—

"कूप-मण्डूक भारत, तुम कब तक अन्धकार में पड़े रहोगे? प्रकाश में आने के लिए तुम्हारे हृदय में क्या कभी सदिच्छा ही नहीं जाग्रत होती? पक्षहीन पक्षी की तरह क्यों तुम्हें अपने पींजड़े से बाहर निकलने का साहस नहीं होता? क्या तुम्हें अपने पुराने दिनों की कभी याद नहीं आती?"

—सरस्वती (अगस्त १९१४)

"भट्ट जी, तुम्हारे शरीर-त्याग का समाचार सुनकर बड़ी

व्यथा हुई। उस व्यथा की इयत्ता हम किस प्रकार बतावें। हमारा कंठ रुँधा हुआ है, हमारे नेत्र साश्रु हैं, हमारा शरीर अवसन्न है।"

—सरस्वती (अगस्त १९१४)

इस शैली का एक तीसरा उदाहरण दे देने से हमारा कथन और भी स्पष्ट हो जायगा। यह नोट राय देवीप्रसाद जी 'पूर्ण' की परलोक-यात्रा पर लिखा गया था। इसमें भी द्विवेदी जी का हृदय देखिए—

"बड़े दुःख की बात है, बड़े ही परिताप का विषय है, बड़ी ही हृदय-दाहक घटना है—राय देवीप्रसाद अब इस लोक में नहीं। गत ३० जून को सबेरे १० बजे वे उस धाम के पथ के पथिक हो गये जहाँ से फिर कोई लौटकर नहीं आता—'यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते।' ऐसे सच्चे देशभक्त, ऐसे उत्तम वक्ता, ऐसे उत्कृष्ट कवि, ऐसे हार्दिक हिंदी प्रेमी, ऐसे धुरीण धर्मिष्ठ की निधन-वार्ता अचानक सुननी पड़ेगी, इसका स्वप्न में भी ख़याल न था। सुनकर सिर पर वज्रपात-सा हुआ; कलेजा काँप उठा। दूर होने के कारण अपने इस माननीय मित्र के अंतिम दर्शनों से भी यह जन वंचित रहा। शोक! जिसकी हास्य-रस-पूर्ण, पर तर्क-संगत और युक्तियुक्त, वक्तृता सुनकर, कुछ समय पूर्व, श्रोता लोग लखनऊ में मुग्ध हो गये थे वह विद्वान्, वह नामी वकील, वह धर्म-प्राण पुरुष केवल ४५ वर्ष की उम्र में अपने प्रेमियों को, अपने नगर के निवासियों को, अपने मित्रों और कुटुम्बियों को रुलाकर चल दिया।"

—सरस्वती (जुलाई १९१५)

ये उदाहरण शोकोद्गार के हैं। प्रसन्नता के समय उनके वाक्य बहुत ही छोटे हो जाते थे। इसके भी दो छोटे-छोटे उदा-

हरण देखिए। पहला उदाहरण 'मातृभाषा के द्वारा शिक्षा'-शीर्षक नोट से है। यह नोट बंगाल, मदरास और बंबई के विश्वविद्यालयों में इतिहास, भूगोल और गणित आदि की शिक्षा शिक्षार्थियों की मातृभाषा में ही दिये जाने पर लिखा था—

"अच्छी बात है। शुभ लक्षण हैं। जागृति के चिह्न हैं। अंध-विश्वास का पटल हट रहा है। विवेकसूर्य की किरणें फैलने लगी हैं। पाश्चात्य सभ्यता के अभिमानी और अँगरेज़ी-भाषा के ज्ञानी भी अब जागे हैं। अपनी भाषा के द्वारा शिक्षा देने के लाभ उनकी समझ में आने लगे हैं।"

—सरस्वती (नवम्बर १६१६)

दूसरा उदाहरण एक पत्र का कुछ अंश है, जो द्विवेदी जी ने बाबू कालिदास जी कपूर को लिखा था। कपूर साहब उनके दर्शनार्थ कानपुर जाना चाहते थे। पत्र लिखकर अनुमति माँगी। उसी के उत्तर में द्विवेदी जी ने २० मई सन् १६१६ को लिखा—

"आइए। कृपा कीजिए। ३१ मई तक मैं यहीं रहूँगा। शहर से ३ मील दूर जंगल में, मौज़ा जुही कलाँ के सामने रहता हूँ।"

आलोचनात्मक शैली के जिन तीन प्रकारों को ऊपर समझाने की चेष्टा की गई है उनमें तत्कालीन साहित्यिक परिस्थिति आदि का चित्र है। बात यह है कि शैली के उक्त तीनों प्रकारों की आवश्यकता विशेष अवसरों पर ही पड़ती है। लगभग २० वर्ष द्विवेदी जी 'सरस्वती' के संपादक रहे और अंत तक परिस्थिति में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। यही कारण है कि प्रायः प्रत्येक मास की 'सरस्वती' में उक्त तीनों शैलियां मूके न ने

मिल जाते हैं। इनके अतिरिक्त आलोचनात्मक शैली का एक और रूप हमें मिलता है जिसकी भाषा कुछ गंभीर हो गई है। उदाहरण देने से यह रूप स्पष्ट हो जायगा—

"इसमें कोई संदेह नहीं कि बहुत से फ़ारसी-अरबी के शब्द हिंदुस्तानी-भाषा की सभी शाखाओं में आ गये हैं। अपढ़ देहातियों ही की बोलियों में नहीं, किंतु हिंदी के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध लेखकों की परिमार्जित भाषा में भी अरबी-फ़ारसी के शब्द आते हैं। पर ऐसे शब्दों को अब विदेशी भाषा के शब्द न समझना चाहिए वे अब हिंदुस्तानी हो गये हैं और उन्हें छोटे छोटे बच्चे और स्त्रियाँ तक बोलती हैं। उनसे घृणा करना या उन्हें निकालने की कोशिश करना वैसी ही उपहासास्पद बात है जैसी कि हिंदी से संस्कृत के घर, वन, हार और संसार आदि शब्दों को निकालने की कोशिश करना है। अँगरेज़ी के हज़ारों शब्द ऐसे हैं जो लेटिन से आये हैं। यदि कोई उन्हें निकाल डालने की कोशिश करे तो कैसे कामयाब हो सकता है?"

भाषा की सरलता, मुहावरेदानी और सजीवता की दृष्टि से द्विवेदी जी की यही प्रधान शैली मानी जा सकती है। इसका कारण यह है कि अधिकांश में इसी भाषा का व्यवहार और उपयोग उन्होंने किया है। इसमें उर्दू और संस्कृत, दोनों ही के तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग किया गया है। वाक्यों में ओज की केवल पुट है, पर गंभीरता की झलक भी स्पष्ट है। यह शैली संयत भी है और सजीव भी। इसी शैली को हम उनकी प्रधान शैली मान लेते हैं, जिससे दो अन्य शैली-रूप विपरीत दिशाओं में जाते हैं। वे दोनों हैं—

१—व्यंग्यात्मक

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उनकी व्यंग्यात्मक शैली आलोचनात्मक शैली से पृथक् नहीं की जा सकती। इसका कारण स्पष्ट है। जिस उद्देश्य और आदर्श को लेकर उन्होंने साहित्य में पदार्पण किया था और जिसके लिए उन्हें आलोचनात्मक शैली की आवश्यकता पड़ी थी, उसी के लिए उन्होंने प्रायः व्यंग्य का भी प्रयोग किया है। इस शैली में ओज तो वर्तमान है ही; साथ ही व्यंग्य का जो पुट है वह भी बहुत ही चुटीला है। उदाहरण देखिए—

"कितनी लज्जा, कितने दुख, कितने परिताप की बात है कि विदेशी लोग इतना कष्ट उठाकर और इतना धन ख़र्च करके संस्कृत सीखें और संस्कृत साहित्य के जन्मदाता भारतवासियों के वंशज फ़ारसी और अँगरेज़ी की शिक्षा के मद में मतवाले होकर यह भी न जानें कि संस्कृत नाम किस चिड़िया का है? संस्कृत जानना तो दूर की बात है, हम लोग अपनी मातृभाषा हिंदी भी तो बहुधा नहीं जानते हैं, और जो लोग जानते भी हैं उन्हें हिंदी लिखते शरम आती है। इन मातृभाषा-द्रोहियों का ईश्वर कल्याण करे। सात समुद्र पार कर इँग्लेंडवाले यहाँ आते हैं, और न जाने कितना परिश्रम और ख़र्च उठाकर यहाँ की भाषायें सीखते हैं। फिर अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखकर ज्ञान वृद्धि करते हैं। उन्हीं के ग्रंथ पढ़कर हम लोग अपनी भाषा और अपने साहित्य के तत्त्वज्ञानी बनते हैं। ख़ुद कुछ नहीं करते। सिर्फ़ व्यर्थ कालातिपात करते हैं। अँगरेज़ी लिखने की योग्यता का प्रदर्शन करते हैं। घर में घोर अंधकार है, उसे तो दूर नहीं करते विदेश में जहाँ गैस और बिजली की रोशनी हो रही है, चिराग़ जलाने दौड़ते हैं।"

उक्त अवतरण में हमें उनकी चुटीली ओज-पूर्ण आलोचना के साथ मार्मिक व्यंग्य भी मिलता है। इस मार्मिकता और

चुटीलेपन का कारण उनका उग्र स्वभाव* है। 'उग्र स्वभाव' से हमारा आशय केवल इतना ही है कि दूसरों को सभ्यता या कर्त्तव्य से विमुख होते देखकर वे अपने को रोक न सकते थे। इसका एक बहुत पुराना उदाहरण दे देना उचित होगा। बात सन् १६०० के पहले की है। लाला सीताराम के कालिदास की रचनाओं के अनुवाद निकल चुके थे। द्विवेदी जी ने उनकी कटु परन्तु यथार्थ आलोचना की थी। लाला साहब की ओर से किसी ने एक कड़ा पत्र लिखा। इसके उत्तर में द्विवेदी जी ने अँगरेज़ी में एक ख़ूब लंबा-चौड़ा पत्र लिखा। इसमें व्यंग्य का चुटीलापन देखने योग्य है। द्विवेदी जी लिखते हैं—

Jhansi, 8th Jan. 1900

I am glad your friend furnished you with my address and thus enabled you to unburden your heart to me. If you, however, ever forget my address, address me by name only and the post-man will find me.

ये दो वाक्य उनकी इस शैली की भूमिका-स्वरूप हैं; पर आगे चलकर उनकी शैली का यथार्थ रूप प्रकट होता है। देखिए—

Without advancing any proof in support of your assertion, you go on further and say that

* बाबू श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित 'हिंदी-कोविद रत्नमाला' के द्वितीय भाग में द्विवेदी जी का जो चरित्र छपा है उसमें पहले उनके चरित्र के सम्बन्ध में 'उग्र-स्वभाव' लिखा गया था; । जब द्विवेदी जी को यह मालूम हुआ तब उन्होंने इसके विरोध में इंडियन प्रेस को लिखा। फलतः 'उग्र स्वभाव' निकाल दिया गया।

my criticisms are "Vague, worthless and non-sense" (nonsensical ?). And, pray, what do you think of Lala Sita Ram's Version of Kali Dasa ? Perhaps, most faithful, most worthy and most sensible ? Is it not ?

इस कथन में पहले दो वाक्यों में अधिक गहराई तो अवश्य है, पर चुटीलापन और मार्मिकता विशेष मात्रा में नहीं। लेकिन इसके बाद ही वे लिखते हैं—

Well, you are welcome to entertain that. (कटा है) but this you should bear in mind, that the opinion of a person who does not even give his full name in his communication, who has never appeared in public print and whose career, as a literary man in Hindi has hither-to been unknown, can only be taken for it is worth, and no more.

चुटीले व्यंग्य का एक और नमूना देखिए। पंडित प्रभुदयाल मिश्र ने कालिदास के 'मेघदूत' का उर्दू में अनुवाद किया। उसमें बहुत से दोष थे। उन दोषों को दिखाने के बाद द्विवेदी जी ने लिखा—

'जो लेखक छः मात्राओंवाले चित्रकूट और पाँच मात्राओंवाले रामागीरी को 'संस्कृत ज़बान में व्यञ्जन' समझता है वह यदि व्यास, वाल्मीकि और कालिदास की कविता का मर्म समझने बैठे तो उसके साहस की प्रशंसा अवश्य की जा सकती है, उसकी योग्यता की नहीं।'

—सरस्वती १७-६ पृ० ४१६

इस प्रकार के चुटीले और मार्मिक व्यंग्य और कटाक्ष उनकी आलोचनात्मक शैली में ही सम्मिलित हैं। वास्तव में यह उनकी आलोचनात्मक शैली का दूसरा रूप है। दूसरे शब्दों में, उनकी आलोचनात्मक शैली के दो रूप हैं। एक में ओज की प्रधानता है, दूसरी में व्यंग्य और कटाक्ष की; साथ ही ओज की पुट भी है। इस प्रकार की शैली का व्यंग्यमय और कटाक्षपूर्ण प्रयोग उन्होंने मनोविनोद की दृष्टि से नहीं किया है; विषय और साहित्यिक परिस्थिति उनके उद्देश्य रखनेवाले व्यक्ति के लिए किसी सीमा तक, मनोविनोद के अनुकूल थी ही नहीं। हाँ, साहित्यिक क्षेत्र से बाहर उन्होंने जिस व्यंग्यशैली को ग्रहण किया है उसमें सरल विनोद और हास्य की स्पष्ट झलक है। इस प्रकार की शैली से विनोद और मनोरंजन होता है और किसी को दुःख भी नहीं पहुँचता। वहीं सरल हास्य की शिष्टता और विशेषता है। इस शैली में मसखरेपन का पुट रहता है, जिससे हमें उनके स्वभाव और विनोद-प्रियता का पता लगता है। इस सरल व्यंग्य की शैली का एक उदाहरण, पाठकों के विनोद के लिए, यहाँ दिया जाता है—

"इस म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुरसीमैन भी कहने लगे हैं।) श्रीमान् बूचा शाह हैं। बाप-दादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा है। पढ़े-लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयरमैन आप सिर्फ़ इसलिए हुए हैं कि अपनी कारगुज़ारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप राय बहादुर बन जायँ और ख़ुशामदियों से आठ पहर चौंसठ घड़ी घिरे रहें। म्युनिसिपैलिटी का काम चाहे चले चाहे न चले, आपकी बला से। इसके एक मेम्बर हैं बाबू बख़्शिशराय। आपके साले साहब ने फ़ी रुपये तीन-चार पंसेरी का भूसा म्युनिसिपैलिटी को देने का ठेका लिया है। आपका पिछला बिल १० हज़ार रुपये का था। पर कूड़ा-गाड़ी के बैलों और भैंसों के बदन पर सिवा

हड्डी के मांस नज़र नहीं आता। सफ़ाई के इन्स्पेक्टर हैं लाला सतगुरदास। आपकी इन्स्पेक्टरी के ज़माने में, हिसाब से कम तनख्वाह पाने के कारण, मेहतर लोग तीन दफ़े हड़ताल कर चुके हैं। फ़ज़ूल ज़मीन के एक टुकड़े का नीलाम था। सेठ सर्वमुख उसके तीन हज़ार देते थे। पर उन्हें वह टुकड़ा न मिला। उसके ६ महीने बाद म्यूनिसिपैलिटी के मेंबर पंडित सत्यसर्वस्व के ससुर के साले के हाथ वही ज़मीन हज़ार पर बेंच दी गई।"

उन्होंने एक बार लिखा था—'प्रहसनों और हँसी-मज़ाक़ के लेखों से मनोरंजन ही नहीं होता; लेखक यदि विज्ञ और योग्य है तो वह ऐसे लेखों से समाज और साहित्य के दोषों को दूर करने की चेष्टा करता और इनके द्वारा उन्हें लाभ पहुँचा सकता है और दंडनीय व्यक्तियों का शासन भी कर सकता है। हिंदी में साहित्य के इस अंश की बहुत कमी है।

—सरस्वती १६-१ पृ० ६१

द्विवेदी जी के इस आदर्श को ध्यान में रखते हुए यदि हम ऊपर दिया हुआ अवतरण पढ़ें तो हमारा विशेष मनोरंजन होगा और हम यह समझ सकेंगे कि किस अवसर पर वे इस प्रकार की शैली का प्रयोग करते थे।

एक बार शिवचरणदास नाम के किसी सज्जन ने १४ जान स्ट्रीट, अक्सफ़र्ड से १५ जनवरी १६०६ को 'सरस्वती' लौटाते हुए लिखा—

"'बारह मयस्य' के भेजे हुए Article में जो अंत में ४ वा ५ शब्द हैं उनकी न तो वहाँ पर ज़रूरत है और न वह शोभा देते हैं, पर यह साफ़ दिखाते हैं कि दास्यभाव अभी हम भारतवर्षीयों के मनों के भीतर पूरी तरह से बस रहा है।"

इस पत्र का उत्तर (७-२-०६ को) देते हुए अंत में द्विवेदी जी ने कितना शिष्ट और सुंदर व्यंग्य किया है कि देखते ही बनता है। उन्होंने लिखा—

"आश्चर्य तो इस बात का है कि जिस 'दास' भाव से आपको इतनी घृणा है उसे आपने सदा के लिए अपने नाम के साथ बाँध रक्खा है। अस्तु!"

द्विवेदी जी की निर्भय लेखनी सरकार के विरुद्ध भी चला करती थी। सरकारी रिपोर्टों की समालोचना भी उन्होंने सत्य और निष्कपट भाव से निर्भय होकर की है। पर उनकी स्पष्टोक्तियों और व्यंग्योक्तियों में किसी प्रकार के विरोध के चिह्न नहीं मिलते; हाँ, एक प्रकार का साहित्यिक आनन्द-सा आता है। यह शैली संपादकीय शिष्टता और गंभीरता की सीमा के अंदर रहकर 'साँप मरे और लाठी भी न टूटे' की लोकोक्ति को चरितार्थ करती रही। इस शैली के उदाहरण भी 'सरस्वती' की पुरानी फ़ाइलों में मिलते ही हैं, पर उनके आदर्श और उनकी शैली का सच्चा चित्र हमें उस समय मिलता है जब उन्होंने देशी भाषाओं-द्वारा शिक्षा न दिये जाने पर या इसी प्रकार की अन्य बातों का—जिन्हें द्विवेदी जी भारत-हित का साधन समझते थे—विरोध करने पर सरकार की आलोचना करते हुए नोट लिखे हैं। सरकार की कूटनीति पर भी उन्होंने समय-समय पर टीका-टिप्पणी की है; पर तटस्थ रहकर, बड़ी कुशलता और चतुराई के साथ। यही कारण है कि विद्वन्मंडली में और सरकार की दृष्टि में भी 'सरस्वती' का विशेष आदर और मान था।

ऊपर आलोचनात्मक और व्यंग्यात्मक शैली के जितने उदाहरण दिये गये हैं उनका संबंध प्रायः 'सरस्वती' और हिंदी-

भाषा तथा साहित्य की तत्कालीन परिस्थिति से ही रहा है। साहित्य, भाषा और आलोचनादर्श-संबंधी जो वाद-विवाद हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में छिड़ा हुआ था और एक-दूसरे पर जो आक्षेप किये जा रहे थे उनमें भाग लेकर आक्षेपों का उत्तर देते हुए—यह ठीक है कि वे प्रायः वाद-विवाद से दूर रहना चाहते थे—उन्होंने जिस शैली को अपनाया, 'सरस्वती' और उससे संबंधित व्यक्तियों पर लांछन लगानेवाले व्यक्तियों को मुँह-तोड़ जवाब देने के लिए और अयोग्य तथा अनधिकारी व्यक्तियों को साहित्यसंसार में पदार्पण करने और धाँधली मचाने से रोकने के लिए—तत्परता के साथ उनका मुँह बंद करने के लिए उन्होंने जिस शैली का अवलंब ग्रहण किया, उसमें हास्य और व्यंग्य की चुलबुलाहट में मिलकर मार्मिकता, कटाक्ष और चुटीलापन ही दिखाई देता है; जिसका कारण उनकी साहित्य-विषयक सद्भावना थी; जो उत्तरदायित्व के विचार से उत्तेजित होकर उनके उग्र स्वभाव के कारण स्वयं उग्र-रूप में दिखाई देती है। इस शैली का आरंभ प्रायः तर्क-वितर्क से होता है। पहले वे विवादग्रस्त विषयों की गुत्थियों को सुलझाकर सामने रखने की चेष्टा करते थे। इसका उदाहरण हमें 'श्रीहर्ष का समय', 'वेद' इत्यादि शीर्षक निबंधों में मिलता है। द्विवेदी जी की यह तर्कशैली बड़ी प्रौढ़ है। इसमें स्वाभाविक ओज है, हास्य है और गंभीरता है। ओज के दो कारण हैं। पहला, विशेष अध्ययन और दूसरा, उनका स्वभाव। व्यंग्य का प्रयोग वे तभी करते थे जब उन्हें ज्ञात हो जाता था कि कोई छोटे मुँह बड़ी बात कह रहा है या अपनी योग्यता का अनुचित प्रयोग कर रहा है। अपना कथन प्रमाणित करने के लिए वे अन्य विद्वानों की सम्मतियाँ तथा उनकी पुस्तकों से टिप्पणियाँ उद्धृत करते थे। इससे उनके

लेखों में गंभीरता का पुट भी मिलता है। द्विवेदी जी के ऐसे लेख विशेष आदर की दृष्टि से देखे जाते थे।

उक्त शैलियों और उनके रूपों का प्रयोग, एक प्रकार से, सामयिक विषयों के लिए, 'सरस्वती'-संपादक की हैसियत से, किया गया है। ऐसे नोट भाषा और साहित्य-लेखक के लिए मनोरंजन की वस्तु हैं। साहित्य के विषय में वे लिखते हैं—–

"साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन से बहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि को तीव्रता प्राप्त हो, हृदय में एक प्रकार की संजीवनी शक्ति की धारा बहने लगे, मनोवेग परिष्कृत हो जाय और आत्मगौरव की उद्भावना होकर वह पराकाष्ठा को पहुँच जाय। मनोरंजन-मात्र के लिए प्रस्तुत किये गये साहित्य से भी चरित्र-गठन को हानि न पहुँचनी चाहिए। आलस्य, अनुद्योग या विलासिता का उद्बोधन जिस साहित्य से नहीं होता उसी से मनुष्य में पौरुष अथवा मनुष्यत्व आता है। रसवती ओजस्विनी, परिमार्जित और तुली हुई भाषा में लिखे गये ग्रंथ ही अच्छे साहित्य के भूषण समझे जाते हैं।"

इस अवतरण से स्पष्ट हो जाता है कि वे साहित्य को बहुदर्शिता बढ़ाने की वस्तु समझते थे। विशेष अध्ययन और मनन के योग्य लेखों की कमी का यही रहस्य है। हाँ, जब उन्होंने गंभीर विषयों का विवेचन किया उसमें आलोचनात्मक या व्यंग्यात्मक शैली की चुलबुलाहट, मार्मिकता और चुटीलापन नहीं है। इस शैली को हम गवेषणात्मक या वर्णनात्मक कह सकते हैं। इसके भी दो प्रधान रूप हैं। एक वह है जिसकी भाषा अत्यन्त सरल और साधारण है। इसमें गंभीरता का पुट है और मनोरंजन तथा मार्मिकता का अभाव है। इस रूप का प्रयोग उन्होंने क्लिष्ट या विवादात्मक विषयों को जन-

साधारण के सामने इस ढंग से रखने के लिए किया है कि वे उसकी समझ में आ जायँ। देखिए—

"संसार में जो बात जैसी देख पड़े कवि को उसे वैसा ही वर्णन करना चाहिए। उसके लिए किसी तरह की रोक या पाबंदी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन में भाव आप ही आप पैदा होते हैं। जब वह निडर होकर उन्हें अपनी कविता में प्रकट करता है तभी उसका पूरा-पूरा असर लोगों पर पड़ता है। बनावट से कविता बिगड़ जाती है। किसी राजा या किसी व्यक्ति-विशेष के गुण-दोषों को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों उन्हें यदि बेरोक-टोक प्रकट कर दे तो उसकी कविता हृदय-द्रावक हुए बिना न रहे परंतु परतंत्रता या पुरस्कार-प्राप्ति या और किसी तरह की रुकावट के पैदा हो जाने से यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो कविता का रस ज़रूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस अतएव प्रभावहीन हो जाती है।"

साधारण जनता को कविता की परिभाषा—कविता क्या है—समझाने के लिए इस सरल शैली को द्विवेदी जी ने अपनाया है। भाषा सरल है, वाक्य छोटे हैं और प्रतिपादन-प्रणाली अत्यन्त सुलझी हुई है। उनकी भाषा कभी-कभी कुछ और शुद्ध हो जाती है। उसमें उर्दू के तत्सम तो क्या तद्भव शब्द भी एक ही आध मिलते हैं। यह उनकी इस गवेषणात्मक शैली का दूसरा रूप है। इसका एक उदाहरण साहित्य-विषयक द्विवेदी जी के विचार समझाने के लिए ऊपर दिया हुआ अवतरण हो सकता है। उसमें भाषा विशेष सरल नहीं है और गंभीर भावव्यंजन में कुछ दुरूहता भी है, जिसे द्विवेदी जी ने कुशलता से स्पष्ट करने की सफल चेष्टा की है।

कुछ लोगों के सम्मत्यनुसार यह गूढ़ता और गांभीर्य अनिवार्य है। यहाँ इस शैली का एक दूसरा उदाहरण भी दिया जाता है। यह 'प्रतिभा'-शीर्षक निबंध से लिया गया है। द्विवेदी जी का यह लेख इस शैली के लिए बहुत प्रसिद्ध है और साहित्य की दृष्टि से भी उच्च कोटि का समझा जाता है।

"अपस्मार और विक्षिप्तता मानसिक विकार या रोग हैं। उनका सम्बंध केवल मन और मस्तिष्क से है। प्रतिभा भी एक प्रकार का मनोविकार ही है। इसमें विकारों की परस्पर इतनी संलग्नता है कि प्रतिभा को अपस्मार और विक्षिप्तता से अलग करना और प्रत्येक का परिमाण समझ लेना बहुत ही कठिन है। इसी लिए प्रतिभावान् पुरुषों में कभी कभी विक्षिप्तता के कोई-कोई लक्षण मिलने पर भी मनुष्य उनकी गणना बावलों में नहीं करते। प्रतिभा में मनोविकार बहुत ही प्रबल हो उठते हैं। विक्षिप्तता में भी यही दशा होती है। जैसे विक्षिप्तों की समझ असाधारण होती है अर्थात् साधारण लोगों की-सी नहीं होती, एक विलक्षण प्रकार की होती है वैसे प्रतिभावानों की भी समझ असाधारण होती है। वे प्राचीन मार्ग पर न चलकर नये नये मार्ग निकाला करते हैं; पुरानी लीक पीटना उन्हें अच्छा नहीं लगता।"

द्विवेदी जी की शैली में एक दोष भी दिखाया जाता है कि उन्होंने थोड़े में ठोस भाव नहीं भर दिये हैं; एक ही बात को घुमा-फिरा कर—खूब बढ़ा कर लिखा है। हमारी समझ में यही उनकी शैली की विशेषता है; जिसके "फल-स्वरूप, शैली में भाव-द्योतन की मनोवैज्ञानिक शक्ति का संचार हो गया है।" और विषयानुसार शैली में परिवर्तन कर देने की क्षमता आ सकी है। उनके छोटे-छोटे वाक्यों में कांति और चमत्कार है और प्रगति तथा प्रौढ़ता है; प्रवाह और सजीवता है; जिनसे

विशेष रोचकता आ जाती है और भाव स्पष्टतया बोधगम्य हो जाता है। दूसरे शब्दों में—

"अधिक से अधिक ईप्सित प्रभाव उत्पन्न करना ही यदि भाषा-शैली की मुख्य सफलता मान ली जाय तो शब्दों का शुद्ध, सामयिक, सार्थक और सुंदर प्रयोग विशेष महत्त्व रखने लगे। शब्दों की शुद्धि व्याकरण का विषय है; व्याकरण की व्यवस्था साहित्य की पहली सीढ़ी है। सामयिक प्रयोग से हमारा आशय प्रसंगानुसार उस शब्द-चयन-चातुरी से है जो काव्य के उद्यान को प्रकृति की सुषमा प्रदान करती है। उसमें कहीं अस्वाभाविकता बोध नहीं होती। सार्थक पदविन्यास केवल निघंटु का विषय नहीं है; उसमें हमारी वह कल्पना-शक्ति भी काम करती है जो शब्दों की प्रतिमा बनाकर हमारे सामने उपस्थित कर देती है। पदों का सुंदर प्रयोग वह है जो संगीत (उच्चारण), व्याकरण, कोष आदि सबसे अनुमोदित हो और सबकी सहायता से संघटित हो; जिसके ध्वनिमात्र से अनुरूप चित्रात्मकता प्रकट हो और जो वाक्यविन्यास का प्रकृतिवत् अभिन्न अंग बन कर वहाँ निवास करने लगे। अभी तो हिंदी के समीक्षा-क्षेत्र में उर्दू-मिश्रित अथवा संस्कृत-मिश्रित भाषा-भेद को ही शैली समझ लेने की भ्रांत धारणा फैली हुई है; परंतु यदि साहित्यिक शैलियों का कुछ गंभीर अध्ययन आरंभ होता तो द्विवेदी जी की शैली के व्यक्तित्व और उसके स्थायित्व के प्रमाण मिलेंगे। द्विवेदी जी की शैली का व्यक्तित्व यही है कि वह ह्रस्व, अनलंकृत और रूक्ष है। उनकी भाषा में कोई संगीत नहीं, केवल उच्चारण का ओज है जो भाषण-कला से उधार लिया है। विषय का स्पष्टीकरण करने के आशय से द्विवेदी जी जो पुनरुक्तियाँ करते हैं, वे कभी-कभी ख़ाली चली जाती हैं—असर नहीं करतीं; परंतु वे फिर आती हैं और असर करती हैं। लघुता उनकी विभूति है। वाक्य पर वाक्य आते और विचारों की पुष्टि

करते हैं। जैसे इस प्रदेश की छोटी 'लखौरी ईंटें' दृढ़ता में नामी हैं, वैसे ही द्विवेदी जी के छोटे वाक्य भी।''*

संक्षेप में, बीसवीं शताब्दी के आरंभ में—द्विवेदी जी के प्रादुर्भाव के समय—भाव-प्रकाशन का जो अस्थिर और अपरिपक्व रूप दिखाई देता था उसमें सजीवता और बोधगम्यता का पुट देते हुए, प्रौढ़ता और बल का संचार करते हुए, 'ज्ञात और अज्ञात' प्रकट और परोक्ष रूप से अपने समकालीन लेखकों की रचनाशैली पर आधिपत्य स्थापित करते हुए, विलक्षणता-पूर्ण और चमत्कारयुक्त जिस नवीन, विविध भाव-प्रतिपादन-प्रणाली को द्विवेदी जी ने जन्म दिया, वही आज हिंदी-भाषा के प्रचार-प्रसार और हिंदी-साहित्य की आधुनिक उन्नति का प्रधान कारण है।

---

* द्वि० अ० ग्रं० प्रस्तावना पृ० ८।

हिंदी की हिमायत

"अपनी मा को निःसहाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की मा की सेवा-शुश्रूषा में रत होता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित्त होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तंब ही कर सकते हैं।"

—"साहित्य की महत्ता"

बंकिम बाबू ने एक बार श्रीयुत रमेशचंद्र दत्त से कहा था—आप अँगरेजी में लिखते हैं, यह ख़ुशी की बात है; लेकिन साथ ही इसका दुःख भी है कि बंगाली होते हुए आप बँगला-साहित्य के प्रति बिलकुल उदासीन हैं। बँगला में पुस्तकें आप क्यों नहीं लिखते?

दत्त ने उत्तर दिया—क्या कहूँ? बँगला मैं लिख नहीं सकता।

बंकिम बाबू इतना सुनते ही बिगड़ उठे, बोले—आप बँगला में लिख नहीं सकते? बंगाली होकर बँगला में नहीं लिख सकते, कितने अचरज की बात है!

दत्त ने पूछा—कैसे लिखूँ? किस भाषा में लिखूँ?

उसी भाषा में लिखिए जिसमें आप घर में बातचीत करते हैं।—बंकिम बाबू ने शीघ्रता से कहा।

दत्त हँस पड़े। कहने लगे—लेकिन वह भाषा तो साहित्यिक भाषा न होगी।

बंकिम बाबू गर्व से बोले—आप जिस भाषा में लिखेंगे वही साहित्यिक भाषा होगी।

× × ×

द्विवेदी जी के प्रादुर्भाव के समय हिंदी बोलने वालों की भी यही दशा थी। वे लोग अँगरेज़ी की डिगरियाँ प्राप्त करते थे और उसी में लिखा करते थे। जब द्विवेदी जी उनसे कहते—तुम पढ़े-लिखे हो, तुमने उच्च शिक्षा पाई है। क्या यह तुम्हारा धर्म नहीं है कि तुमने पश्चिम से ज्ञान की जो उपलब्धि की है उसको उन तक पहुँचाओ जिनके लिए भाषा-भेद के कारण वहाँ के साहित्य-निधि के अनेक दरवाज़े सदा के लिए बंद हैं? तब क्षीण स्वर में उत्तर मिलता—मुझे तो हिंदी नहीं आती।

द्विवेदी जी इस पर साहस दिलाते हुए कहते—तो क्या हुआ? आ जायगी। कुछ काम तो शुरू कीजिए। यदि साहित्यिक भाषा का प्रश्न उठता तो समझाते—साहित्य की भाषा मामूली बोल-चाल की भाषा से भिन्न नहीं है। इसलिए तुमको चाहिए कि तुम हिंदी में लिखो। हिंदी से अनभिज्ञ होना तुम्हारे लिए कलंक की बात है। जिस मातृ-भाषा के कारण तुम्हें घर और समाज में अनेक तरह की सुविधायें हैं उसके ऋण से आंशिक रूप में भी तब तक उऋण नहीं हो सकते, जब तक तुम हिंदी की सेवा का प्रयत्न न करोगे। मातृ-भाषा हिंदी को उन्हीं का भरोसा है जो इस समय विश्वविद्यालयों में शिक्षा पा रहे हैं। क्या तुम विश्वासघात कर कृतघ्न बनना चाहते हो? यहीं नहीं, गोरखपुर के साहित्य-संमेलन के लिए उन्होंने जो 'प्रार्थना' लिखी थी उसमें वे और भी आगे बढ़ गये हैं। उसका आरंभ इस प्रकार है—

'मैं ५ वर्ष का था जब मुझे देवनागरी-लिपि का प्रथम अभ्यास

कराया गया था। तब से अब तक उसी लिपि में हिंदी लिखने में मेरा अधिकांश समय व्यतीत हुआ। यह इस बात का प्रमाण है कि इस लिपि और इस भाषा से मेरा प्रेम ही नहीं, इन दोनों पर मेरी परम श्रद्धा है। मेरी संमति तो यह है कि भारत की प्राचीन सभ्यता का जिन्हें स्वल्पांश में भी गर्व है उन सभी को इस लिपि और इस भाषा से श्रद्धा करनी चाहिए।"

द्विवेदी जी चाहते थे कि समस्त भारतवर्ष में हिंदी-भाषा का प्रचार हो, क्योंकि सभी प्रान्तों में उसके समझनेवाले मौजूद हैं। पर जनता में उस समय उसका मान नहीं था। विद्वानों की विद्वत्ता का अनुमान अँगरेज़ीदानी, फ़ारसीदानी और कभी-कभी संस्कृतदानी देखकर कर लिया जाता था। वे हिंदी कितनी जानते हैं, जानते भी हैं या नहीं, इसके पूछने की आवश्यकता ही नहीं समझी जाती थी। कचहरियों में उसको घुसने की आज्ञा न थी, विश्वविद्यालयों और कालेजों ने उसका बहिष्कार कर दिया था। यहाँ तक कि जो लोग शुद्ध अँगरेज़ी या उर्दू नहीं बोल सकते थे वे भी उसे नहीं अपनाते थे—घर के काम-काज और चिट्ठी-पत्री तक में उसे व्यवहार में लाते शर्माते थे। पढ़े-लिखे लोग तो हिंदी के शत्रु थे। उनके खान-पान, उनके रहन-सहन, वेष-भूषा सबमें अँगरेज़ी का समावेश हो गया था। बातचीत और पत्र-व्यवहार तो क्या, ग्रंथ-रचना भी वे अँगरेज़ी में ही किया करते थे।

द्विवेदी जी इसको भारतवासियों के—कम से कम हिंदी-भाषियों के—पतन की चरम सीमा समझते थे। एक स्थान पर उन्होंने आलोचनात्मक शैली में एक व्यंग्यपूर्ण नोट लिखा है। इसमें हिंदी की तत्कालीन दशा का चित्र खींचते हुए वे लिखते हैं—

"जून सन् १९०७ के 'हिंदुस्तान रिव्यू' में छोटा-सा लेख,

श्रीयुत एस्० सी० सान्याल, एम्० ए०, का लिखा हुआ, प्रकाशित हुआ है। उसमें लेखक ने दिखलाया है कि कैसी-कैसी कठिनाइयों को झेलकर सर विलियम ने कलकत्ते में संस्कृत सीखी। क्या हम लोगों में एक भी मनुष्य ऐसा नहीं, जो सर विलियम की आधी भी कठिनाइयाँ उठाकर संस्कृत सीखने की इच्छा रखता हो? कितनी लज्जा, कितने दुःख, कितने परिताप की बात है कि विदेशी लोग इतना कष्ट उठाकर और इतना धन ख़र्च करके संस्कृत सीखें और संस्कृत-साहित्य के जन्मदाता भारतवासियों के वंशज फ़ारसी और अँगरेज़ी की शिक्षा के मद में मतवाले होकर यह भी न जानें कि संस्कृत नाम किस चिड़िया का है? संस्कृत जानना तो दूर की बात है। हम लोग अपनी मातृभाषा हिंदी भी तो बहुधा नहीं जानते, और जो लोग जानते भी हैं, उन्हें हिंदी लिखते शर्म आती है। इन मातृभाषा-द्रोहियों का ईश्वर कल्याण करे। सात समुद्र पारकर इँगलैंडवाले यहाँ आते हैं और न-जाने कितना परिश्रम और ख़र्च उठाकर यहाँ की भाषा सीखते हैं। फिर अनेक उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखकर ज्ञानवृद्धि करते हैं। उन्हीं के ग्रंथ पढ़कर हम लोग अपनी भाषा और अपने साहित्य के तत्त्वज्ञानी बनते हैं। ख़ुद कुछ नहीं करते करते हैं सिर्फ़ व्यर्थ कालातिपात; करते हैं अँगरेज़ी लिखने की योग्यता का प्रदर्शन। 'घर' में घोर अंधकार है, उसे तो दूर नहीं करते विदेश में जहाँ गैस और बिजली की रोशनी हो रही है, चिराग़ जलाने दौड़ते हैं।"

इस अवतरण से हिंदी की तत्कालीन दीन-हीन दशा और द्विवेदी जी का आदर्श, दोनों पर समुचित प्रकाश पड़ता है। उनकी हार्दिक अभिलाषा यह थी कि हिंदी-भाषी अपनी भाषा का मान और उसी का व्यवहार करना सीखें। वे यह समझते थे कि हिंदी के साहित्य के सभी अंग उसी प्रकार परिपूर्ण नहीं हैं, जिस प्रकार अँगरेज़ी आदि पाश्चात्य भाषाओं के

साहित्य के। पर इससे क्या? हिंदी हमारी मातृभाषा है, अतः हमें उस पर गर्व करना चाहिए और फिर जब विदेशी हमारे साहित्य का मंथन कर लाभ उठा रहे हैं तब भी हम बेसुध पड़े रहें तो हमसे बढ़कर मूढ़ कौन होगा। 'माधुरी' के एक विशेषांक (वर्ष ७, खंड १, संख्या १) में द्विवेदी जी ने लिखा है—

"ग्रियर्सन साहब के मातृभाषा-प्रेम से हमारे भारतीय भाई सबक़ सीखने की ज़रूरत कम समझते हैं यह अफ़सोस की बात है। मुझ छुद्र हिंदी-लेखक को भी मेरे ही देश—नहीं, प्रांत के भी कोई निवासी अपनी अँगरेज़ीदानी की धाक मुझ पर जमाने के लिए अँगरेज़ी ही में चिट्ठियाँ लिखने की कृपा कर डालते हैं। जैसे उन्हें अपनी भाषा लिखते लज्जा आती हो। जो लोग हिंदी ही में लेख लिख-लिखकर अपनी कीर्ति-लता को चारों ओर फैलाते हैं वे भी, कभी-कभी, किसी अज्ञात भावना से आविष्ट-से होकर ख़ानगी पत्रों में भी अँगरेज़ी छाँटने लगते हैं।"

इन शब्दों में द्विवेदी जी की आत्मा बोल रही है। उनके हृदय में मातृभाषा के प्रति बड़ा प्रेम था। यह ठीक है कि उन्होंने समय-समय पर स्वयं अँगरेज़ी में पत्र लिखे हैं। पर यह बात बहुत पहले की है। सन् १९०३ में जब उन्होंने संपादन-कार्य ग्रहण किया ही था तब एक चिट्ठी स्वर्गीय पंडित सत्यनारायण कविरत्न को लिखी थी। वह इस प्रकार है—

JHANSI,

30th October, 1903.

DEAR Pt. SATYA NARAYAN,

The frankness with which you have written your letter has immensely pleased me. If I have an occasion to come to Agra I shall ask you

kindly to come te see me at G. I. P. Ry., Agra city Booking Office in Rawatpara. Your description of Hemant will appear in "Saraswati" either in December or January.

Yours sincerely,
Mahabir Prasad.

संपादन-कार्य ग्रहण करने के बाद भी कई वर्ष तक अँगरेज़ी का यह प्रभाव द्विवेदी जी पर रहा। यद्यपि वे पत्र हिंदी में लिखने लगे थे, तथापि कहीं-कहीं अँगरेज़ी के शब्द लिख दिया करते थे। इस कथन की पुष्टि द्विवेदी जी के एक पत्र से होती है, जो उन्होंने पंडित सत्यनारायण जी को लिखा था। पंडित जी की कवितायें द्विवेदी जी को पसंद थीं और उन्हें वे प्रायः 'सरस्वती' में प्रकाशित किया करते थे। पंडित जी की 'वंदे मातरम्'-शीर्षक कविता की पहुँच में द्विवेदी जी ने २०-१-०५ को जो पत्र लिखा था वह इस प्रकार है—

नमस्कार

वन्दे मातरम् पहुँचा। कविता बड़ी ही मनोहर है। थैंक्स—ऐसे ही कभी-कभी लिखा कीजिए। और सब कुशल है।

भवदीय—
महावीरप्रसाद

यहाँ 'थैंक्स' शब्द सुविधा की दृष्टि से लिखा गया था, यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि 'धन्यवाद' लिखने में भी कोई विशेष अड़चन नहीं थी। अतः यह स्पष्ट है कि यह समय का ही प्रभाव था। पर इसके उपरांत जब कभी उन्होंने अँगरेज़ी के पत्र या नोट आदि लिखे हैं तब किसी विशेष कारण से ही।

उदाहरण के लिए यहाँ एक सिफ़ारिशी चिट्ठी उद्धृत की जाती है। एक महाशय 'सरस्वती' के अच्छे लेखकों में से थे—प्रायः उसमें लिखा करते थे। द्विवेदी जी उनको मानते थे। एक बार एक विश्वविद्यालय में हिंदी-अध्यापक की जगह खाली हुई। लेखक महोदय एक स्कूल के हेडमास्टर थे। उन्होंने द्विवेदी जी से एक सिफ़ारिशी चिट्ठी लिखने को कहा। द्विवेदी जी इस समय संपादन-कार्य से अलग हो चुके थे। उन्होंने यह पत्र लिखा—

This is to certify that Babu ....headmaster .... has a very good knowledge of Hindi language and literature, and has contributed to the "Saraswati", the leading Hindi Magazine, published by the Indian Press, Allahabad, some very instructive and interesting articles containing critical observations, especially those on the work of Tulsi Dasa. I admire his acumen. I am told he is desirous of making the Hindi language and Hindi literature his lifelong study. He appears to me eminently fitted for the post of the lecturer in the .... University. Given opportunity Babu ....is sure to do useful research work.

JUHI-KALAN
CAWNPORE:
24th April, 1922

MAHAVIRA PD. DWIVEDI,
RETIRED EDITOR,
Saraswati,

कभी-कभी द्विवेदी जी अपने संबंधियों को भी अँगरेज़ी ही में पत्र लिखा करते थे। एक बार उन्होंने एक पत्र में घरेलू बातें लिखने के बाद लिखा था—

That two persons being closely related to each other, and being natives of the same province, and speaking the same mother-tongue should carry on correspondence in a language of an island six thousand miles away is a spectacle for gods to see. Such an unnatural scene is possible only in a wretched country like this.

नोट—अँगरेज़ी में लिखे हुए पत्र में न जाने क्यों यह बात लिखकर उन्होंने दूसरों को आक्षेप करने—Physician heal thyself वाली कहावत की ओर संकेत करने का अवसर दिया।

ऐसे अवसरों के अतिरिक्त द्विवेदी जी प्रायः हिंदी में ही सब काम करते थे और चाहते थे कि अन्यान्य भारतीय विद्वान् भी, जो अँगरेज़ी के ज्ञान-भांडार को भर रहे थे, हिंदी में लिखें। ऐसे लोगों को हिंदी-सेवा की ओर प्रेरित करने के लिए द्विवेदी जी कैसी कर्कश-भाषा का प्रयोग करते थे, यह निम्न अवतरण से विदित हो जायगा।

"हिंदुस्तान रिव्यू में डाक्टर × × × × शास्त्री का प्लेटो और शंकराचार्य के तत्त्वज्ञान पर एक लम्बा लेख प्रकाशित हुआ है। ये शायद वे ही डाक्टर साहब हैं जो पंजाब-सरकार से वज़ीफ़ा पाकर अपना संस्कृत-ज्ञान पक्का करने के लिए योरप गये थे। × × क्या आप पर उन लोगों का कुछ भी हक़ नहीं जिनसे कर के रूप में वसूल किया हुआ रुपया वज़ीफ़े के रूप में पाकर आपने अपनी विद्वत्ता की सीमा बढ़ाई है। × × × यह कैसी कृतज्ञता है

वह कैसा प्रत्युपकार है ! जिन लोगों की गाढ़ी कमाई के पैसे से आप सुशिक्षित और सुपंडित बने बैठे हैं उनको तथा उनकी सन्तति को तो पढ़ने के लिए उनकी निजी भाषा में ढूँढ़ने से भी दस-पाँच तक अच्छी पुस्तकें न मिलें; और आप मेज़-कुर्सी लगाये, मूँछें ऐंठते प्लेटो, पिथागोरस और सेनेका, शंकर, जैमिन और श्रीहर्ष के दार्शनिक विचारों की समालोचना सात समुद्र पार की भाषा में लिखें। × × × क्या केवल अँगरेज़ीदाँ हज़रत ही इस देश में रहते हैं ! क्या ये स्कूल, कालेज और वज़ीफ़ उन्हीं के घर के रुपये से चलते हैं और मिलते हैं ?

हमारी यह शिकायत × × × शास्त्री से ही नहीं, उत्तरी भारत के अन्यान्य अँगरेज़ीदाँ शास्त्रियों से भी है। आप लोग अपनी भाषा में भी उपयोगी लेख लिखने की दया कीजिए। लिखना नहीं आता तो सीखिए। अपना कर्त्तव्य पालन कीजिए।"

(सरस्वती, सितंबर १९१४)

ऐसे नोट जनता पर प्रभाव डालते थे। लेकिन द्विवेदी जी की अभिलाषा नहीं पूर्ण हुई। शायद ही एक-आध लेखक ने इन टिप्पणियों पर ध्यान दिया हो; बाक़ी सब लकीर के फ़क़ीर ही बने रहे। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' (भाग १५, संख्या ४, पृष्ठ १९९) में 'देशी भाषाओं में शिक्षा'-शीर्षक लेख इस प्रकार लिखा है—

"भारत में विदेशी भाषा बड़ा ही ग़ज़ब ढा रही है। उसी की कृपा से हम लोग अपनी भाषा भूल-से रहे हैं। अँगरेज़ीदाँ मातृभाषा को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। कितने ही महात्मा तो ऐसे हैं, जिन्हें अपनी भाषा का एक शब्द तक लिखते लज्जा मालूम होती है। उनकी अँगरेज़ी चिट्ठियों का उत्तर बार-बार मातृभाषा में देने पर

भी वे शिष्टाचार पर लात मारते और अँगरेज़ी लिखते ही चले जाते हैं। हाय री अँगरेज़ी! तूने हमारे खाद्य और पेय पदार्थों में परिवर्तन कर दिया; तूने हमारे वस्त्र-परिच्छदों में अदल-बदल कर डाला; यहाँ तक कि तूने हमारी मातृभाषा को भी तिरस्कृत कर दिया!!! अभागे हिंदुस्तान को छोड़कर धरती की पीठ पर एक भी ऐसा सभ्य देश नहीं, जहाँ इस तरह की अस्वाभाविक बातें होती हों।"

जब इतनी ज़ोरदार टिप्पणियाँ भी एक कान से जाकर दूसरे से निकल गईं—किसी के कान में जूँ हो न रेंगी तब द्विवेदी जी के क्रोध का वारापार न रहा। अब उन्होंने अँगरेज़ी से संबंध रखनेवाले सभी पदाधिकारियों को जगाते हुए एक नोट लिखा। यह नोट 'पराक्रमी-प्रसादी'-नामक पुस्तक की भूमिका के रूप में था। इसमें आपने लिखा है—

"ऐसे भी कितने ही सज्जन हैं, जो विद्यार्थी-दशा में तो हिंदी के बड़े प्रेमी रहते हैं—हिंदी लिखते भी हैं और हिंदी-लेखकों की शिष्यता स्वीकार करने में अपना गौरव तक समझते हैं—पर वकील-बैरिस्टर इन्स्पेक्टर, टीचर, पोस्टमास्टर अथवा ऐसे ही कोई 'टर' हो जाने पर वे अपने सारे पूर्व प्रेम को उठाकर ताक पर रख देते हैं। ऐसी दशा में बेचारी हिंदी कैसे उन्नति कर सकती है।

"हज़ार अनुनय विनय करने पर भी हमारे प्रान्तवासी शिक्षित हिंदू इस ओर ध्यान नहीं देते। अन्य प्रान्तों में अनेक हेडमास्टर और प्रोफ़ेसर तक अपनी भाषा लिखते-पढ़ते हैं। पर इन प्रान्तों में एक छोटा-सा मास्टर भी हिंदी लिखने की कृपा नहीं करता। स्कूलों के कितने ही असिस्टेंट इन्सपेक्टर इन प्रान्तों में ऐसे हैं जो, यदि चाहें तो, बहुत कुछ हिंदी-प्रचार कर सकते हैं पर नहीं चाहते। वे अपनी इन्सपेक्टरी ही में मस्त हैं लिखना तो दूर रहा, वे हिंदी की

अच्छो से अच्छी पुस्तकों और पत्रों का नाम तक नहीं जानते। अफ़सोस !''

पर हिंदी-प्रचार के लिए द्विवेदी जी की सर्वत्र यही नीति नहीं रहती थी। वास्तव में वे साम, दाम, दण्ड और भेद का उचित उपयोग करना जानते थे और करते भी थे। यदि समझते कि अमुक व्यक्ति केवल समझाये से ही हिंदी के प्रति अपना कर्तव्य समझ लेगा, तो उसके साथ वैसा ही बर्ताव करते थे। इसका उदाहरण सेंट निहालसिंहजी के विषय में लिखी हुई एक टिप्पणी से मिलता है। सेंट जी एक प्रतिष्ठित और विद्वान् पुरुष थे, द्विवेदी जी ने उनके लेख पढ़े। सेंट जी में प्रतिभा थी और विद्वत्ता भी। फिर क्या था। द्विवेदी जी उन पर लट्टू हो गये और उनसे हिंदी में भी लिखने को कहा। द्विवेदी जी की नीति सफल हुई। सेंट निहालसिंह जी ने कई लेख 'सरस्वती' के लिए लिखे

२६ अक्तूबर, १६०४ के "श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार" में "हिंदी बोल नहीं सकती"—शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ था। उसके लेखक ने लिखा था—

''सुनते हैं, हिन्दी अक्षरों को भैंस बराबर समझनेवाले महात्मा लोग कहा करते हैं कि हिन्दी में पढ़ने की चीज़ ही क्या है, जो पढ़ी जाय किन्तु हे अँगरेज़ी को महत्त्व देनेवाले महापुरुषो ! हिन्दी में अँगरेज़ी का महत्त्व क्यों नहीं आता ? न आने के अपराधी क्या आपके सिवा और कोई है ? अँगरेज़ी की जो बड़ाई आपकी खोपड़ियों में समा गई है उसकी भेंट हिन्दी के पढ़नेवालों को देने की ज़िम्मेवारी क्या उन्हीं लोगों की है, जो बेचारे घर की दशा ठीक न होने के कारण अँगरेज़ी पढ़ने का मौक़ा नहीं पा सके ? अँगरेज़ी विद्या के धुरन्धर

भी वे शिष्टाचार पर लात मारते और अँगरेज़ी लिखते ही चले जाते हैं। हाय री अँगरेज़ी ! तूने हमारे खाद्य और पेय पदार्थों में परिवर्तन कर दिया; तूने हमारे वस्त्र-परिच्छदों में अदल-बदल कर डाला; यहाँ तक कि तूने हमारी मातृभाषा को भी तिरस्कृत कर दिया !!! अभागे हिंदुस्तान को छोड़कर धरती की पीठ पर एक भी ऐसा सभ्य देश नहीं, जहाँ इस तरह की अस्वाभाविक बातें होती हों।''

जब इतनी ज़ोरदार टिप्पणियाँ भी एक कान से जाकर दूसरे से निकल गईं—किसी के कान में जूँ हो न रेंगी तब द्विवेदी जी के क्रोध का वारापार न रहा। अब उन्होंने अँगरेज़ी से संबंध रखनेवाले सभी पदाधिकारियों को जगाते हुए एक नोट लिखा। यह नोट 'पराक्रमी-प्रसादी'-नामक पुस्तक की भूमिका के रूप में था। इसमें आपने लिखा है—

''ऐसे भी कितने ही सज्जन हैं, जो विद्यार्थी-दशा में तो हिंदी के बड़े प्रेमी रहते हैं—हिंदी लिखते भी हैं और हिंदी-लेखकों की शिष्यता स्वीकार करने में अपना गौरव तक समझते हैं—पर वकील-बैरिस्टर इन्स्पेक्टर, टीचर, पोस्टमास्टर अथवा ऐसे ही कोई 'टर' हो जाने पर वे अपने सारे पूर्व प्रेम को उठाकर ताक पर रख देते हैं। ऐसी दशा में बेचारी हिंदी कैसे उन्नति कर सकती है।

''हज़ार अनुनय विनय करने पर भी हमारे प्रान्तवासी शिक्षित हिंदू इस ओर ध्यान नहीं देते। अन्य प्रान्तों में अनेक हेडमास्टर और प्रोफ़ेसर तक अपनी भाषा लिखते-पढ़ते हैं। पर इन प्रान्तों में एक छोटा-सा मास्टर भी हिंदी लिखने की कृपा नहीं करता। स्कूलों के कितने ही असिस्टेंट इन्सपेक्टर इन प्रान्तों में ऐसे हैं जो, यदि चाहें तो, बहुत कुछ हिंदी-प्रचार कर सकते हैं पर नहीं चाहते। वे अपनी इन्सपेक्टरी ही में मस्त हैं लिखना तो दूर रहा, वे हिंदी की

अच्छी से अच्छी पुस्तकों और पत्रों का नाम तक नहीं जानते। अफ़सोस !''

पर हिंदी-प्रचार के लिए द्विवेदी जी की सर्वत्र यही नीति नहीं रहती थी। वास्तव में वे साम, दाम, दण्ड और भेद का उचित उपयोग करना जानते थे और करते भी थे। यदि समझते कि अमुक व्यक्ति केवल समझाये से ही हिंदी के प्रति अपना कर्तव्य समझ लेगा, तो उसके साथ वैसा ही बर्ताव करते थे। इसका उदाहरण सेंट निहालसिंहजी के विषय में लिखी हुई एक टिप्पणी से मिलता है। सेंट जी एक प्रतिष्ठित और विद्वान् पुरुष थे, द्विवेदी जी ने उनके लेख पढ़े। सेंट जी में प्रतिभा थी और विद्वत्ता भी। फिर क्या था। द्विवेदी जी उन पर लट्टू हो गये और उनसे हिंदी में भी लिखने को कहा। द्विवेदी जी की नीति सफल हुई। सेंट निहालसिंह जी ने कई लेख 'सरस्वती' के लिए लिखे

२६ अक्तूबर, १६०४ के "श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार" में "हिंदी बोल नहीं सकती"—शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ था। उसके लेखक ने लिखा था—

''सुनते हैं, हिन्दी अक्षरों को भैंस बराबर समझनेवाले महात्मा लोग कहा करते हैं कि हिन्दी में पढ़ने की चीज़ ही क्या है, जो पढ़ी जाय किन्तु हे अँगरेज़ी को महत्त्व देनेवाले महापुरुषो ! हिन्दी में अँगरेज़ी का महत्त्व क्यों नहीं आता ? न आने के अपराधी क्या आपके सिवा और कोई है ? अँगरेज़ी की जो बड़ाई आपकी खोपड़ियों में समा गई है उसकी भेंट हिन्दी के पढ़नेवालों को देने की ज़िम्मेवारी क्या उन्हीं लोगों की है, जो बेचारे घर की दशा ठीक न होने के कारण अँगरेज़ी पढ़ने का मौक़ा नहीं पा सके ? अँगरेज़ी विद्या के धुरन्धर

बनकर क्यों आप उसकी बड़ाई हिन्दी में लाने की कोशिश नहीं करते ? क्या आप लोगों ने केवल पेट-पूजा के लिए ही अँगरेज़ी सीखी है ? क्या केवल अँगरेज़ी का मज़ा लूटते-लूटते एक दिन दाँत निकालकर मर जाने के लिए ही अँगरेज़ी सीखी है ? तिल भर भी जिसको अक़्ल है, वह पराई फुलवाड़ी में जाता है, उसके दस-पाँच फूल नोच लाकर अपनी छाती या अपने घर को सजाता है। पर आप लोग अक़्ल के ऐसे बेहया ख़ब्ती हैं कि आप पराये चमन में जाकर अपने को एक बार ही भूल जाते हैं और सारा जीवन उसी चौहद्दी के भीतर घूमते रहकर अपने गृहस्थियों को भूले रहने के लिए नहीं लजाते हैं। इस निलाजपन का, इस बेहयापन का, इस ख़ब्त का क्या कोई अन्त है ? छिः छिः छिः छिः ।"

द्विवेदी जी ने अपने प्रस्तावों का, अपने विचारों का अनुमोदन देखा, फूले नहीं समाये। लोगों ने उनके उपालम्भों का नाम 'रोना' रक्खा था। द्विवेदी जी ने 'श्रीवेङ्कटेश्वर-समाचार' की यह टिप्पणी उद्धृत कर चुटकी ली और बड़े गर्व से कहा--

"आज हमें एक और भी रोनेवाला मिल गया है।"

यहाँ एक बात ध्यान रखने योग्य है। द्विवेदी जी हिंदी-प्रचार के सामने अँगरेज़ी, उर्दू, बँगला, सभी भाषाओं के विरुद्ध दिखाई देते हैं। यदि इस प्रान्त के हिंदुओं ने हिंदी को छोड़कर किसी भी अन्य भाषा को अपनाया है तो द्विवेदी जी ने उसको रोका है। क्या यह उनका पक्षपात है ? क्या इसी प्रकार का पक्षपात उस साहित्य-सेवी को उचित है, जो इन सभी भाषाओं में अच्छी गति रखता हो और प्रायः स्वयं इन भाषाओं की पुस्तकों और लेखों का अनुवाद करता हो ?

इस रहस्य को समझने के लिए हमें द्विवेदी जी के उद्देश्य और आदर्श को समझना पड़ेगा। वे चाहते थे कि भारतवासी भारतीयता और राष्ट्रीयता का अर्थ समझ जायँ और देश की उन्नति की ओर ध्यान दें। इसका एकमात्र उपाय, उनकी समझ में, एक भाषा का प्रचार था। वे हिंदी को इस पद के योग्य समझते थे; क्योंकि यही एक भाषा ऐसी थी--है भी--जिसका प्रचार अन्य देशी भाषाओं से अधिक है। अतः यदि कोई दूसरी भाषा इस ओर झुकती थी तो वे इसे आपस की फूट समझते थे। उनका मत था कि हिंदी के अतिरिक्त कोई भाषा इस पद के योग्य हो ही नहीं सकती और यदि किसी प्रान्तवाले ऐसा करने का उद्योग भी करेंगे तो इससे हानि ही होगी। यही बात उन्होंने 'सरस्वती' में (भाग १५, संख्या १, पृ० ४१०) लिखी है। उस समय बंगालियों ने यह चेष्टा की थी कि बँगला राष्ट्रभाषा बना दी जाय। बँगला तो इस पद के सर्वथा अनुपयुक्त थी—यद्यपि उसका साहित्य हिंदी से उन्नत था--पर हिंदी के उपयुक्त होने पर भी उसकी उन्नति की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जा रहा था। द्विवेदी जी आपस की इस कलह से बहुत दुखी हुए। उन्होंने बंगालियों को समझाने के लिए लिखा--

"मद्रास प्रान्त तक में जब हमारी भाषा के समझनेवाले प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं, तब बंगाल, बम्बई और पञ्जाब के विषय में कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं। सो, जिस भाषा के समझनेवाले भारत के कोने-कोने में विद्यमान हैं और जिसकी सहायता से मनुष्य अल्मोड़ा से कुमारिका अन्तरीप और पेशावर से रंगून तक की यात्रा में अपने भाव अन्य प्रान्तवालों पर प्रकट कर सकता है और उनकी बात समझ सकता है, उसी का—उसी हिन्दी का —उसी के प[illegible] में

यहाँ तक अनादर है कि अब बङ्गाली अपनी भाषा को उसी के पास ला बिठाने की चेष्टा में हैं।"

सन् १९१४ में वंगीय साहित्य-सम्मेलन द्विजेंद्रनाथ ठाकुर की अध्यक्षता में संपन्न हुआ। इस सम्मेलन में बंगाल के गवर्नर साहब भी उपस्थित थे। उस समय एक प्रस्ताव इस विषय का पास किया गया कि बंगाल की तरह ही अन्य प्रांतों में भी बँगला की शिक्षा का प्रचार किया जाय और पंजाब तथा संयुक्त-प्रांत की सरकार से इस विषय में शीघ्र पत्र-व्यवहार हो। द्विवेदी जी को इससे बड़ा दुख हुआ, पर हिंदी-भाषा-भाषी कान में तेल डाले पड़े रहे। इस पर खीझ कर उन्होंने 'सरस्वती' में लिखा—

"संयुक्त प्रान्त में दस-बीस भी प्रतिभाशाली पुरुष उसके प्रेमी और पृष्ठपोषक नहीं! हिन्दी की कुछ क़दर नहीं!! हिन्दी में लिखी गई चिट्ठियों की कुछ क़दर नहीं!!! वङ्गीय साहित्य-सम्मेलन के कर्णधार! आओ, तुम्हारे लिए मैदान ख़ाली पड़ा है। शेक्सपियर और बाइरन, मेकाले और मार्ले के पूजक संयुक्त प्रान्त के अँगरेज़ीदाँ हाथ क्या, ज़बान तक हिलानेवाले नहीं। उनके लिए जैसे हिन्दी वैसे ही बँगला। तुम्हारे आगमन से उनकी कोई हानि नहीं। जीती रहे उनकी अँगरेज़ी। उनके कुटुम्बियों के सारे काम उसी से निकल जायँगे। अब तक के हिन्दी-उर्दू के झगड़े ने ही उनका क्या बिगाड़ लिया? बँगला भी उनका क्या बिगाड़ सकेगी? आवे, उनकी बला से।"

इस अवतरण से यह स्पष्ट है कि द्विवेदी जी हिंदी-भाषा के पक्ष में केवल इसी लिए हैं कि उसका प्रचार पहले ही से बहुत अधिक है। वे बँगला के साहित्य की उन्नति तो चाहते थे पर उसे राष्ट्रभाषा के पद के उपयुक्त नहीं समझते थे; क्योंकि उसका प्रचार केवल बंगाल प्रान्त में ही सीमित था। वे स्वयं बँगला में अच्छी

गति रखते थे और उन्होंने वंग-कवि माइकेल मधुसूदन दत्त तथा कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर आदि के जीवन-चरित भी, संक्षेप में, लिखे हैं। अतः यह समझना कि द्विवेदी जी को बँगला से द्वेष था, ठीक नहीं है। वास्तव में वे यह चाहते थे कि जिस प्रकार बंगाली अपनी मातृभाषा की उन्नति के लिए दत्तचित्त हैं, उसी प्रकार––चाहे उन्हीं की देखादेखी––हिंदी-भाषा-भाषियों को भी यह चेष्टा करनी चाहिए कि हिंदी-साहित्य की पूर्ण उन्नति हो जाय। बँगला-साहित्य पर उन्होंने समय-समय पर जो टिप्पणियाँ दी हैं वे इसी उद्देश्य की द्योतक हैं कि बंगालियों का अपनी भाषा के प्रति जैसा कर्तव्य है, उसे सुझाकर हिंदीवालों को भी अपनी मातृ-भाषा के प्रति कर्तव्य का ज्ञान करा दें। 'वंग-कवि-कुल-कोकिल' बाबू नवीनचंद्र सेन, बी० ए० का संक्षिप्त परिचय उन्होंने अप्रैल, सन् १९०९ की 'सरस्वती' में प्रकाशित किया था। उसके अंत में द्विवेदी जी ने लिखा है––

'ईश्वर से प्रार्थना है कि ऐसा एक-आध महाकवि न सही तो अच्छा कवि ही इन प्रांतों में भी पैदा करे, जहाँ की मुख्य भाषा हमारी हीना और क्षीण-कलेवरा हिंदी है।"

इस कथन से हमें ज्ञात होता है कि द्विवेदी जी के हृदय में अन्य भाषाओं की उन्नति देखकर कसक उठती थी। यह कसक डाह या ईर्ष्या की द्योतक नहीं थी, वरन् इस हूक का कारण यह था कि हिंदी की इसी प्रकार उन्नति करने के लिए हिंदी-भाषा-भाषी कुछ ध्यान ही नहीं देते थे।

यही बात उर्दू के लिए भी कही जा सकती है। उर्दू की उन्नति की ओर कुछ लोग ध्यान देते थे। एक बार भोपाल की बेगम साहिबा ने मुहम्मद साहब के चरित्र-लेखक को दो सौ

रुपया महीना सहायता देने का विज्ञापन प्रकाशित करवाना चाहा। द्विवेदी जी ने इसे सहर्ष प्रकाशित किया, पर इसके नीचे नोट लिखा--

"जिस उर्दू के ऐसे सहायक हों उसकी उन्नति क्यों न हो। अकेले संयुक्त प्रांत में ही कम से कम १०१ महाराजा, राजा, तअल्लुक़ेदार और बड़े-बड़े ज़मींदार होंगे। पर उनमें से कितने ऐसे हैं, जिन्होंने हिंदी में कोई अच्छी पुस्तक लिखने के लिए एक धेला भी ख़र्च किया हो। हाँ मोटर कहो हर महीने एक मँगाया करें। अथवा, कहो, साल में ६ महीने शिमला या मंसूरी के पहाड़ पर चढ़े कई हज़ार रुपये महीना ख़र्च किया करें।"

लखनऊ में कुछ लोगों ने उर्दू का शार्टहैंड शुरू किया। द्विवेदी जी को पता लगा। आपने 'फ़ौरन' सरस्वती (भाग १३, संख्या ५, पृ० २८७) में लिखा--

"उर्दू का शार्टहैंड चल निकला। पर बेचारी नागरी के शार्टहैंड का कोई पुरसाँ नहीं।!"

मौलवी अज़ीज़ मिर्ज़ा उर्दू के प्रसिद्ध लेखक थे। उन्होंने कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक का अनुवाद उर्दू में किया था। पर हिंदीवाले संस्कृत-साहित्य से, एक प्रकार का, द्वेष-सा रखते थे। बस, द्विवेदी जी ने चुटकी ली--

"ऐसे-ऐसे उदाहरणों से भी हम लोगों की आँखें नहीं खुलतीं। अन्य भाषाओं की पुस्तकों का हिंदी में अनुवाद करना तो दूर रहा, ऊँची शिक्षा पाये हुए हमारे हिंदू भाई, दो-चार को छोड़कर, छोटे-मोटे लेख भी हिंदी में लिखने की कृपा नहीं करते। अफ़सोस!"

अँगरेज़ी सीखने को भी द्विवेदी जी बुरा नहीं कहते थे। वे उसको राजभाषा समझते थे और कहा करते थे कि बिना

इसे सीखे तो हमारा निस्तार ही नहीं। पर हमारा रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान, सब अँगरेजी ढंग का हो जाय, हम अपनी मातृभाषा में लिखना, पढ़ना, बोलना, पाप समझने लगें, यह हमारे लिए घातक है। अँगरेजी-भाषा-विषयक उनके विचार 'महामंडल-माहात्म्य' नाम की अँगरेजी पुस्तक की आलोचना से स्पष्ट हो जाते हैं। यह आलोचना 'सरस्वती' (भाग १६, संख्या ३, पृ० १८६) में प्रकाशित हुई थी। उसमें द्विवेदी जी ने लिखा है—

"भारत धर्म-महामण्डल धार्मिक परिषद् है। सनातनधर्म की रक्षा और विस्तार हो के लिए उसका जन्म हुआ है। ऐसी संस्था से प्रकाशित पुस्तकें अँगरेज़ी में क्यों निकलें? हिंदी या और किसी भाषा में क्यों नहीं?"

इसी प्रकार जब 'पृथिवी-प्रदक्षिणा' के लेखक बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने लिखा—

"मैंने क़लम उठा अपनी गँवारी देशी भाषा वा असभ्य देवनागरी अक्षरों में छोटा सा विचार लिख दिया। हमारे साहब हिंदू लोग हँसेंगे कि यह अजब उल्लू है कि हवाई द्वीप में भी हिंदी में लिखता है। भला इसे पढ़ेगा कौन? किंतु उन्हें अलमोड़ा, द्वारिकाश्रम इत्यादि या अन्य किसी जगह ही सही, योरप-अमेरिका-निवासियों को अँगरेज़ी, जर्मन, फरासीसी भाषाओं में लिखते देख हँसी नहीं आती, उलटे उनकी नक़ल कर वे स्वयं अँगरेज़ी में लिखने लग जाते हैं। इसी का नाम है पराधीनता की छाप।"

— पृ० १२६।

तब द्विवेदी जी ने बड़े मार्के का यह नोट लिखा था—

"गुप्त जी, माफ़ कीजिए; यहाँ पर आपके शब्द-चित्र में कुछ कसर रह गई है। सरकार, यह वह पुण्यभूमि है जहाँ होटलों, स्कूलों-यतीमख़ानों आदि की परिदर्शन-पुस्तकों ही में यहाँ के पावन-चरित पुण्यात्मा अपना वक्तव्य अँगरेज़ी में नहीं प्रकट करते, यहाँ तो बाप बेटे को, चचा भतीजे को, भाई भाई तक को भी पत्र-द्वारा अपने विशद विचार अँगरेज़ी में व्यक्त करता है। ऐसा अस्वाभाविक दृश्य, इस भू-मण्डल में, अभागे भारत के सिवा किसी और देश में देखने को नहीं मिल सकता। यह अद्भुत दृश्य देवों और दानवों के भी देखने योग्य है। अतएव जो विशेषण आपने अपने लिए चुना है उसके अधिकारी आप नहीं, ये लोग हैं।"

हमारा विचार है कि मानसिक विकास के लिए हमें अँगरेज़ी-साहित्य का अध्ययन करना चाहिए। द्विवेदी जी इस मत के विरुद्ध हैं। उनका मत है कि फ़्रेंच, इटैलियन, जर्मन आदि भाषाओं में अँगरेज़ी से कहीं अधिक मौलिक और उत्तमोत्तम ग्रंथ निकलते हैं। अँगरेज़ी में तो उनका अनुवाद-मात्र रहता है। यह बात उन्होंने 'भारतवर्ष का वैदिक संसर्ग'-शीर्षक निबंध में कही है, जो जुलाई सन् १९१३ में प्रकाशित हुआ था। इससे हमें द्विवेदी जी के विशाल अध्ययन और मनन का पता लगता है। अस्तु।

संभव है, कुछ लोग इस बात को सत्य न समझें। पर उन्हें यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि हिंदी के प्रति अपना कर्तव्य भूलकर हम अँगरेज़ी का मान कर रहे हैं। अँगरेज़ी से हमारा संबंध १० बजे से ४ बजे तक रहना चाहिए। इसके पश्चात् मनोरंजन या अध्ययन के लिए हम उसे अपना सकते हैं। पर बोलचाल या पत्रव्यवहार में भी उसी के सहारे रहना कहाँ की बुद्धिमानी है। द्विवेदी जी ऐसे लोगों से बहुत चिढ़ा करते

थे। 'हिंदी-विश्वकोष'-नामक ग्रंथ के पहले खंड की एक कापी द्विवेदी जी के पास भेजी गई। साथ में एक पत्र भी था। यह अँगरेजी में लिखा था। यह बात सन् १६३७ की है। द्विवेदी जी इस समय संपादक नहीं थे। उन्होंने कोष की समालोचना 'सरस्वती' में प्रकाशित कराई और उसमें साथ के अँगरेजी पत्र का जिक्र कर दिया।

उच्च कोटि की जो पुस्तकें द्विवेदी जी दूसरी भाषा में पढ़ते थे उन्हें अपनी भाषा में लिखवाना अपना कर्तव्य समझते थे। इसके लिए कई बार उन्होंने प्रयत्न भी किया।

'उज्जैन के सूबा या सर-सूबा' रायबहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य, एम० ए०, एल-एल० बी० ने एक पुस्तक 'महाभारत का उपसंहार' लिखी। द्विवेदी जी ने उसे पढ़ा। पुस्तक उन्हें बहुत ही अधिक पसंद आई और उसे उन्होंने पञ्चम वेद—महाभारत—की सभी दृष्टियों से की गई चूड़ान्त समालोचना समझा। हिंदी में इस प्रकार की कोई पुस्तक न थी, अतः उसे पढ़कर उनके मन में जो भावना पैदा हुई उसे उन्हीं के शब्दों में देखिए—

"इस पुस्तक को पढ़कर हमारे मन में यह भावना हुई कि यदि इसका हिंदी-अनुवाद हो जाता तो अपनी भाषा के साहित्य में एक अमूल्य ग्रंथ की संपन्नता हो जाती।"

—सरस्वती (भा० २६, सं० ५ पृ० ४२२)

वाल्मीकि-रामायण की भी इस प्रकार की कोई समालोचनात्मक पुस्तक न थी। यह कमी भी द्विवेदी जी को बहुत खटकती थी। हिंदी के लेखकों से उन्होंने इसको पूरा करने की

अनुनय-विनय की; पर किसी ने उनकी प्रार्थना पर ध्यान न दिया। इस बात को भी उन्होंने 'रामायण-समालोचना' शीर्षक निबंध में यों लिखा है—

"रामायण के समय के भारत का ज्ञान होना हम भारतवासियों के लिए और भी अधिक महत्त्व की बात है। इस विषय में हमने बहुत प्रयत्न किया और अनेक सुयोग्य सज्जनों से प्रार्थना भी की कि वे रामायण पर एक आलोचनात्मक पुस्तक—बड़ी न सही, छोटी ही—लिख देने की कृपा करें; परंतु किसी ने इस प्रार्थना को हँसी में उड़ा दिया; किसी ने टालमटोल किया; किसी ने समर्थ होकर भी असमर्थता प्रकट की। इस प्रकार हिंदी के हितैषियों ने हमें निराश कर दिया।"

दूसरी बार अँगरेज़ी की सुप्रसिद्ध पुस्तक Aitchison's Treaties, Engagements and Sanads के विषय में भी ऐसा ही हुआ। हिंदी में तो क्या अन्य कई प्रमुख भाषाओं में ऐसी कोई पुस्तक न थी। द्विवेदी जी को यह कमी हिंदी में बहुत खटकी। आपने एक रियासत के बड़े कर्मचारी से जिनके पास समय था और जो साहित्य की उन्नति करने का दंभ भी करते थे, प्रार्थना की कि कृपया उसका अनुवाद मात्र कर दें। पर उनकी प्रार्थना विफल कर दी गई। इस बात को उन्होंने श्रीयुत संपूर्णानंद बी० एस-सी० की 'भारत के देशी राष्ट्र' नामक पुस्तक की समालोचना करते हुए (सरस्वती १६-१—पृ० ५१) में लिखा था।

बात यह है कि जिसके दिल में मातृभाषा-प्रेम धँसा हुआ है वह यही चाहता है कि सभी हमारी तरह के हो जायँ। उसके मत के विरुद्ध जो बात होती है, वह निःसंकोच टोंक

देता है--उसे किसी का डर नहीं। बहुत दिन की बात नहीं है, जब एक महाशय ने बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन को एक पत्र अँगरेज़ी में लिखा था। टंडन जी का उत्तर हिंदी में ही आया और उसका पहला वाक्य था--

"आपका अँगरेज़ी भाषा में लिखा हुआ पत्र मिला। धन्यवाद।"

लेखक महाशय बी० ए० थे, व्यंग्य समझे और कटकर रह गये। यही द्विवेदी जी भी चाहते थे कि जो बड़े अँगरेज़ीदाँ बनते हैं वे अपनी मातृभाषा के प्रति अपना कर्तव्य समझ जायँ। वे अपने प्रयत्न में बहुत कुछ सफल हुए। हिंदी-भाषा-भाषियों ने अपना कर्तव्य समझा और हिंदी-प्रचार भी हुआ। पर द्विवेदी जी को सन्तोष न हुआ। यदि कोई ऐसा व्यक्ति जिसकी मातृभाषा हिंदी नहीं होती थी, हिंदी का अध्ययन करता था तो द्विवेदी जी फूले नहीं समाते थे। उनकी यह प्रवृत्ति आरंभ से ही रही है। सन् १९०१ में उन्होंने एक पत्र श्रीयुत सदाशिव रघुनाथ भागवत को लिखा था। यह पत्र इस प्रकार है--

१० जनवरी, १९०१
झाँसी

प्रिय महाशय,

आपका कृपापत्र आया। अत्यानंद हुआ। यह जानकर आश्चर्य होता है कि आपकी मातृभाषा मराठी होकर, आपने हिंदी में इतना अभ्यास किया है। यही नहीं, किंतु आप हिंदी में कविता भी कर सकते हैं। आपकी विद्याभिरुचि प्रशंसनीय है। यदि ग्वालियर आने का अवसर प्राप्त होगा, तो हम आपसे अवश्य मिलेंगे। एक 'नागरी'

नाम की पुस्तक आपकी भेंट करते हैं। स्वीकार कर लीजिएगा और कृपा बनाये रहिएगा।

भवदीय—
महावीरप्रसाद द्विवेदी

इस पत्र से विदित हो जाता है कि द्विवेदी जी अन्य प्रांतवाले हिंदी-प्रेमियों को अपनाने के लिए कटिबद्ध रहा करते थे और प्रायः उन्हें 'पुस्तकें' भेंट में दिया करते थे। यही नहीं, कुछ हिंदी-प्रेमियों को तो उन्होंने अपनी पुस्तकें समर्पण तक की हैं। पर यह बात उनकी आरंभिक पुस्तकों के संबंध में ही सत्य है। बाद को वे पुस्तक समर्पण करने के विरुद्ध हो गये थे। अस्तु।

संक्षेप में, द्विवेदी जी हिंदी-भाषा के कितने बड़े हिमायती थे, कितने बड़े वकील थे, हिंदीप्रचार के लिए कैसी उक्तियाँ सरकार और जनता के सामने रखते थे, इसका वास्तविक और सत्य परिचय प्राप्त करने के लिए हमें 'सरस्वती' की पुरानी फ़ाइलें देखनी चाहिए। 'सरस्वती' के प्रत्येक अंक में हिंदी-भाषा पर कम से कम एक नोट अवश्य ही रहता था—शायद ही कोई संख्या ऐसी हो जिसमें इस 'नियम' का उल्लंघन किया गया हो।

हिंदी के लिए वे किसी तरह का आक्षेप सुनने के लिए तैयार न थे। यदि कोई हिंदी पर किसी तरह का दोषारोपण करता तो उसे मुँहतोड़ जवाब देते थे। हाँ, सत्य का उन्हें ध्यान रहता था। इसका उदाहरण The Indian Literary Year Book and Authors, Who is Who. नाम की पुस्तक की आलोचना है, जो नवंबर सन् १९१९ में प्रकाशित हुई थी।

यहाँ एक शंका की जा सकती है। जिस हिंदी की उन्नति के लिए वे दिन-रात प्रयत्नशील रहते थे उसी मातृभाषा हिंदी का प्रचार करनेवाली नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, की सेवाओं और कार्यों की वे कटु आलोचना क्यों किया करते थे। वास्तव में द्विवेदी जी सभा के उद्देश्य को बड़े आदर की दृष्टि से देखा करते थे और उसके जन्मदाता बाबू श्यामसुंदरदास जी का भी बड़ा सम्मान किया करते थे। इसके लिए सभा के मंत्री बाबू राधाकृष्णदास ने २४-१-१८९९ को धन्यवाद का एक पत्र भी द्विवेदी जी को लिखा था। बाद में जब सभा के कार्यकर्ताओं में ही कुछ मनमुटाव और किसी सीमा तक स्वार्थपरता का भाव आगया तब वे उसके विरुद्ध हो गये। इस बात को वे स्वयं 'सरस्वती' में लिख चुके हैं। अस्तु !

आज देश में हिंदी-प्रचार के लिए व्यापक आन्दोलन हो रहा है और साहित्य के प्रत्येक अंग की पूर्ति की चेष्टा भी की जा रही है। इसका श्रेय द्विवेदी जी को ही है। वास्तव में वे हिंदी के निष्काम साधक थे। उसकी उन्नति के लिए उन्होंने अपना तन, मन, धन सभी कुछ अर्पण कर दिया। एक महाशय के विषय में कहा जाता है कि उन्हें चौबीसों घंटे देश का ध्यान रहता था; हम भी कह सकते हैं कि द्विवेदी जी चौबीसों घंटे हिंदी के हित की बात सोचा करते थे।

स्वभाव और चरित्र

जीते हुए जो जीता है वही सच्चा नेता है, बाक़ी सब रीता है। मनुष्य-देह धारण करके जिन्होंने परमात्मा के अधिष्ठान पर नाना प्रकार से सर्वान्तर्यामी प्रभु को मनाया है और अपना हृत्पटल खोलकर समरसता की तरफ़ दौड़ ली है उन्हीं का जीवन आनंदमय होता है और वही दूसरों के तापमय पीड़ित अन्तःकरण में सारस्वत से भगवत्श्रेय की ज्योति उत्पन्न करके अज्ञानरूपी तिमिर को दूर करते हैं व आनंदपूर्वक जीवन क्रमण करने का मार्ग बता देते हैं। आँग्ल कवि शर्ले ने कहा है—

Only actions of the just smell sweet—

अर्थात् पुण्य पुरुषों का मधुर परिमल सब दिशाओं में ओत-प्रोत भरा रहता है। उसी परिमल से संस्कृत जीव अपना जीवनक्रम सुगंधित, अर्थात् आनंदमय कर लेते हैं।

—सदाशिव रघुनाथ भागवत

× × × ×

"कमरे के अंदर जाते ही मैंने एक बूढ़े पुरुष को खड़ा देखा। विशाल और उठी हुई भौंहों के बीच से तीक्ष्ण आँखों ने मेरी ओर देखा। मैंने चरणों में प्रणाम किया। ख़ासा लंबा डील-डौल भव्य; परंतु बुढ़ापे की चुगली (Tale bearing) खानेवाला मुख-मण्डल; विशाल और प्रतिभा की रेखाओं से अंकित ललाट, लंबी-लंबी रोबदार प्रतापी मूछें—ये उस बूढ़े के असाधारण पुरुष होने का साक्ष्य दे रहे थे।"

यह बुढ़ापे के समय का पंडित हरिभाऊ उपाध्याय के देखे हुए व्यक्तित्व का वर्णन है। इसी को दूसरी आँखों से देखिए—

"लंबा क़द, विशाल और रोबदार चेहरा, उन्नत ललाट, गौर वर्ण, सिंह के समान अस्त-व्यस्त फैली हुई बड़ी-बड़ी मूछें और असाधारण घनी घनी भौंहें—द्विवेदी जी को देखकर एक महापुरुष व तत्त्ववेत्ता के साक्षात्कार का अनुभव तो होता ही है, यह भी जान पड़ता है कि हम फ़ौज के किसी रिटायर्ड कमाण्डर के सामने खड़े हैं, जो युगों से धारा के प्रवाह को अपनी गोद में लेकर उछाल देता रहा हो, और जिसका युगों का संचय काई के रूप में बुढ़ापे के केवल थोड़े से पद-चिह्न हों—उसकी कठोरता वैसी ही बनी हो, उसकी थपेड़ों से लहरें अब भी मुड़-मुड़कर बहती हों। द्विवेदी जी के व्यक्तित्व में हमें एक ऐसे कुशल सेनानायक के गुणों की झलक मिलती है, जिसके जीवन का मुख्य तत्त्व अनुशासन रहा हो। वह यदि युद्ध के क्षेत्र में होते, तो सेनाओं का संचालन करते। हिंदी के साहित्य-क्षेत्र में आये, तो उन्होंने बीस वर्ष तक उसकी डिक्टेटरशिप अपने हाथ में रक्खी।"

लगभग चालीस वर्ष पहले उनकी स्थिति साधारण ही थी। मामूली गृहस्थों की तरह रहते थे और रेल के बाबुओं की तरह कोट-पतलून पहनते थे। उस समय भी लोग अपने सामने कोट-पतलून डाटे एक 'जाएंट' को देखा करते थे। उनका वह तेजस्वी व्यक्तित्व, विशाल रोबदार चेहरा और उन्नत ललाट, बड़ी-बड़ी भौंहों के नीचे तेजपूर्ण नेत्रों की मर्मवेधिनी दृष्टि देखकर दूसरे सहम-से जाते थे। यद्यपि बुढ़ापे में उनके चेहरे पर वह कान्ति और नेत्रों में वह ज्योति नहीं रही थी, तथापि उनकी सौम्य आकृति वैसा ही प्रभाव डालनेवाली अन्तिम दिनों तक बनी रही थी।

दिनचर्या

बूढ़े हो जाने पर या तो लोग बैठे-बैठे राम-राम जपा करते हैं या अपना समय पठन-पाठन में बिताते हैं। द्विवेदी जी भी यही दोनों कार्य करते थे, परंतु संस्कृत ढंग से। पोथों का चूरन तो वे नहीं फाँकते थे, हाँ, पत्र-पत्रिकाओं का सिंहावलोकन-सा कर लिया करते थे। यदि कोई बात मतलब की निकल आई तो सुविधानुसार आद्योपांत पढ़ भी लेते थे। यही उनका अध्ययन था। अन्तिम दिनों में श्रीमद्भागवत उनकी सबसे प्रिय पुस्तक बन गई थी। क्लेश और दुःख के समय स्वभावतः ध्यान ऐसी पुस्तकों की ओर चला ही जाता है। फिर बुढ़ापे में तो इनके अतिरिक्त शान्ति और संतोष का कोई दूसरा उपाय ही नहीं है।

द्विवेदी जी प्रतिदिन प्रातःकाल उठ कर, शौचादि से निवृत्त होकर, कुछ दूर खेतों में टहलने जाते थे। वृद्धावस्था के कारण अधिक चला नहीं जाता था तो किसी मेड़ पर बैठकर सुस्ताने लगते थे। लौटकर पहला काम जो वे करते थे वह अपने जूतों की सफ़ाई। इसके उपरांत अपने बैठकख़ाने में तख्त पर बैठ जाते थे और आवश्यकतानुसार अपने उन रोगियों की सुध लेते थे जिनको वे औषध दिया करते थे। इससे छुट्टी पाकर आवश्यक चिट्ठी-पत्रियों का जवाब देते थे और सम्मत्यर्थ आई हुई कुछ पुस्तकों का सिंहावलोकन करते थे; दो-चार समाचार-पत्रों पर भी दृष्टि डाल लेते थे। दोपहर के बारह बजे के उपरांत फिर शौच को जाते और स्नान करते थे। स्नान व भोजन के बाद उसी कमरे में फिर आकर जो समाचार-पत्र व मासिक पुस्तकें सुबह नहीं देख सके, उन्हें देखते थे। प्रायः दो बजे के बाद मुक़द्मों का फ़ैसला इत्यादि करते थे; क्योंकि वे सरकारी

पंचायत के सरपंच भी थे। पहले वे आनरेरी मुंसिफ़ थे, लेकिन अब कई वर्षों से वहाँ पंचायत स्थापित हो गई थी। मुक़दमों की कुल काररवाई वे हिंदी में ही लिखते थे। जिस दिन मुक़दमे इत्यादि नहीं पेश होते, उस दिन थोड़ा-सा आराम करके अख़बार ही पढ़ा करते थे। कभी-कभी दोपहर को लेटकर कुछ विश्राम भी कर लेते थे। नींद तो उन्हें रात में भी बहुत कम आती थी। दिन में तो शायद ही कभी सोते हों। उन्निद्र रोग से वे सदैव पीड़ित रहे। शाम को, चार बजने के बाद, वे अपने बाग़ों व खेतों की ओर घूमने जाते थे। मार्ग में ग़रीब किसान मिल जाते थे। द्विवेदी जी उनसे, उनकी ही भाषा में, खेती-किसानी के विषय में बड़ी देर तक बातें किया करते थे। शाम को घूम-फिरकर थोड़ी देर तक दरवाज़े पर बैठते थे। कोई आ गया तो उससे बातें किया करते थे। इसके बाद शीघ्र ही सो जाने को ऊपर चले जाते थे।

यह थी द्विवेदी जी की बँधी हुई दिनचर्या। वृद्धावस्था में वे अपने गाँव से बहुत कम निकलते थे। परंतु जब वे 'सरस्वती' के संपादक थे तब भी उनका दैनिक जीवन और कार्यक्रम निश्चित रहता था और वे सब काम समय पर ही किया करते थे। यहाँ तक कि उनके दैनिक जीवन और कार्य-क्रम से परिचित रहनेवाला व्यक्ति निःसंदेह यह बता सकता था कि अमुक समय में द्विवेदी जी अमुक कार्य कर रहे होंगे और अमुक स्थान पर मिलेंगे। उनकी वक़्त की पाबंदी और कर्तव्य-पालन की दृढ़ता देखकर एक बार स्वर्गीय बाबू चिंतामणि घोष ने उन्हीं से कहा था—हिंदुस्तानी संपादकों में मैंने वक़्त के पाबंद और कर्तव्य-पालन के विषय में दृढ़-प्रतिज्ञ दो ही आदमी देखे हैं; एक तो रामानंद बाबू और दूसरे आप ।

स्वभाव

द्विवेदी जी का सत्य-पूत, प्रेम-प्लावित एवं शिक्षा-जनक, कभी विनोद-पूर्ण तो कभी गंभीरता-पूर्ण ओजस्वी वार्तालाप सुनने का सौभाग्य जिन व्यक्तियों को प्राप्त हुआ है—जो उनसे एक बार भी मिले हैं—वे उनकी उदात्त आत्मीयता और स्वभाव की कोमलता के कारण उनके आत्मीय ही हो गये। साथ ही जिन व्यक्तियों ने उनके साथ कपटाचरण या कृत्रिमता, तकल्लुफ़ या दिखावट और चाटुकारी का व्यवहार किया, उन्हें द्विवेदी जी का स्वभाव इस्पात की तरह कठोर और पत्थर की तरह दृढ़ मालूम हुआ। इस 'विरोधाभास' को समझने के लिए हमें उनके स्वभाव के विभिन्न अंगों पर ग़ौर करना पड़ेगा।

सरलता

द्विवेदी जी स्वभाव के कोमल और बड़े मिलनसार थे। कलकत्ता, बनारस आदि दूसरे स्थानों में जब जाते थे तब प्रायः साहित्य-सेवियों से मिलकर ही लौटते थे। पुस्तकों की समालोचना करते समय भी स्वभाव की सरलता का परिचय वे दे दिया करते थे। एक बार एक पुस्तक (होनहार बालक, प्रथम भाग) समालोचनार्थ आई। उसके सफ़े कटे हुए नहीं थे। आपने लिखा—हमारे पास इसकी जो कापी आई है, उसके पन्ने कटे हुए न थे। काटने में पाँच मिनट लग गये। काटते समय जी में यही आता था कि यह न आती तो अच्छा था। सन् १९०५ की जनवरी की सरस्वती का कवर 'नागरी-प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से संस्थित' रहित था। इस पर कुछ सज्जन द्विवेदी जी से बहुत नाराज़ हुए। द्विवेदी जी ने इस 'संबंध-विच्छेद' पर अपना 'अनुमोदन का अंत' शीर्षक जो लेख दिया था उससे ज्ञात हो जाता है कि वे कितने सहृदय,

भावुक, प्रतिभाशाली और शिष्ट लेखक थे। उन्हें सभा के उद्देश्य और आदर्श से पूर्ण सहानुभूति थी; परंतु सभा के तत्कालीन कार्यकर्त्ताओं की नीति उन्हें पसंद नहीं थी। पर उन्होंने किसी पर अपने लेख में आक्षेप नहीं किया। फिर भी पंडित केदारनाथ जी पाठक ने जाकर उनसे पहला प्रश्न यही किया कि सभा के कार्यों की जो कड़ी आलोचना की है उसका हमें किस रूप में प्रतिवाद करना होगा—क्या 'विषस्य विषमौषधम्' की नीति का अवलंबन करना पड़ेगा ?

द्विवेदी जी ने मुस्कराते हुए सज्जनोचित शब्दों में कहा—देवता ! ठहर जाओ, ठहर जाओ, मैं अभी आता हूँ। और एक तश्तरी में मिठाई, एक लोटा जल लाकर सामने रख दिया तथा एक मोटी लाठी भी साथ लेते आये। तत्पश्चात् उन्होंने कहा—सुदूर प्रवास से थके-माँदे आ रहे हो, पहले हाथ-मुँह धोकर जलपान करके सबल हो जाओ। तब यह लाठी और यह मेरा मस्तक है। यह थी सरलता की कोमलता, जिसने पाठक जी को पानी-पानी कर दिया। चित्त की क्रोधाग्नि को अश्रुधारा ने बुझा दिया। क्रोध का स्थान करुणा ने ग्रहण कर लिया। हृदय में श्रद्धा और भक्ति का भाव उमड़ पड़ा।

आम खाने का शौक़ उन्हें आरंभ से ही था। उन्होंने कई आम के पेड़ स्वयं लगाये थे। सन् १८८५ के लगभग वे हुशंगाबाद के रेलवे स्टेशन पर थे। स्टेशन के पास ही एक बँगले के आँगन में उन्होंने बंबई के 'हाउस' नाम के क़लमी आम की एक गुठली गाड़ दी। उससे पौधा निकला। १५-२० वर्ष बाद द्विवेदी जी फिर एक बार उधर से निकले, तब स्टेशन

मास्टर से उस वृक्ष के विषय में पूछने लगे और यह जान कर कि उस पेड़ में अब फल लगते हैं, उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई—खुशी के मारे उनके नेत्रों में जल भर आया। यह थी उनकी बालकों की-सी सरलता।

शिष्टाचार

द्विवेदी जी के शिष्टाचार का क्या कहना! वह प्रकृति के नियमों की भाँति अटल था। आज पत्र लिखा जाय तो तीसरे दिन किसी न किसी समय उत्तर अवश्य आ जायगा। हाँ, लेटर-बक्स में कोई तेज़ाब डाल दे तो दूसरी बात है। उनके इस प्रकार के पत्रव्यवहार से ही सैकड़ों संतुष्ट हो जाते थे। फिर उनका पत्र रूखा नहीं होता था। वे पत्र लिखते समय प्रायः इस बात का ध्यान अवश्य रखते थे कि किसी का चित्त न दुखे। इसी प्रकार यदि कोई सज्जन कभी उनसे मिलने जाते थे तो वे हृदय से उनका स्वागत करते थे। शत्रु-मित्र का विचार छोड़कर 'विज़िट-रिटर्न' के विषय में भी लोगों को शिकायत नहीं रहने देते थे। वे जैसे स्वयं शिष्ट थे, वैसी ही आशा अपने मिलनेवालों से भी रखते थे, उनकी छोटी-सी अशिष्टता पर भी वे क्षुब्ध हो जाते थे। उनके शिष्टाचार पालन की प्रशंसा करते हुए पण्डित कामताप्रसाद गुरु लिखते हैं—

"साहित्य-संमेलन के अधिवेशन से लौटकर उनसे कानपुर के पास जुही में मिला। उसी समय पंडित माखनलाल जी चतुर्वेदी भी श्रीमान् द्विवेदी जी से मिलने आये। मेरे नाम से समाचार भेजे जाने पर आप स्वागत करने द्वार पर आये और मुझे देखकर (तथा पहचानकर) विनोद-भाव से बोले—"तस्मै श्रीगुरवे नमः।" हम लोगों ने उन्हें प्रणाम किया और उनके साथ उनकी बैठक में जहाँ

उनका पुस्तकालय भी था, प्रवेश किया। मेरे द्वारा वहाँ अन्य दोनों सज्जनों का परिचय पाकर वे विशेष प्रसन्न हुए और हम लोगों से साहित्य-संबंधी वार्तालाप करने लगे। इसके पश्चात् उन्होंने हम लोगों को जलपान कराया और पान दिये। इस प्रकार लगभग दो घंटे तक हम लोग द्विवेदी जी के सत्संग में आनंद मनाते रहे। अंत में हम लोगों के विदा लेने पर आप सड़क तक हम सबको भेजने आये और आदर-सत्कार की त्रुटियों के लिए क्षमा माँगी।

स्वर्गवासी द्विवेदी जी शिष्टाचार के पूरे पालक थे, अतएव उन्हें किसी की थोड़ी भी अशिष्टता सह्य नहीं होती थी। पूर्वोक्त अवसर पर जब द्विवेदी जी कुछ कह रहे थे तब मैं भूल से बीच में कुछ कह गया। इस पर उन्होंने कुछ रूखे होकर कहा कि आपके साथ बातचीत करना कठिन है! मैं नत-मस्तक होकर रह गया। द्विवेदी जी का स्वभाव जितना दयालु था उतना ही उग्र भी था, मानो वे 'साँसति करि पुनि करहिं पसाऊ'। अनधिकारी लोगों के वार्तालाप तथा व्यवहार से उनके मन में ग्लानि होती थी। वे पत्रों का उत्तर बहुधा लौटती डाक से देते थे और जो उनके पत्र का उत्तर नहीं देता था उसे वे असभ्य समझते थे तथा उसकी अवहेलना को अपना अपमान मानते थे।"

द्विवेदी जी का यह दस्तूर था कि जो कोई भी उनसे मिलने जाता उसे अपनी डिबिया से दो पान भेंट करते और बातचीत समाप्त कर लेने पर दो पान और भेंट करते, जो इस बात का इशारा था कि बस अब आप तशरीफ़ ले जाइए जैसा कि महात्मा गांधी भी बातचीत समाप्त करने पर कह देते हैं कि 'बस ख़लास।' इससे यह प्रकट होता है कि द्विवेदी जी व्यर्थ की बकवास और समय का नष्ट करना पसंद नहीं करते थे। उन्होंने कभी शत्रुता को उभारने की कोशिश नहीं की और न

पुराना वैर निकालकर प्रतिहिंसा-वृत्ति का ही परिचय दिया। एक बार, बनारस-कांग्रेस के अवसर पर, सन् १९०५ के दिसंबर में, द्विवेदी जी काशी पधारे। बाबू श्यामसुंदरदास जी, बाबू जगन्नाथदास, बाबू अमरसिंह और पंडित केदारनाथ पाठक, आठ बजे रात को, सब लोग एक साथ ही, द्विवेदी जी के बहनोई के घर उनसे मिलने गये। बाबू श्यामसुंदरदास जी नागरीप्रचारिणी सभा के मंत्री थे और सभा तथा सरस्वती में झगड़ा-सा चल रहा था। सब पत्रव्यवहार बाबू जी ही करते थे। दूसरा व्यक्ति होता तो उसकी और बाबू जी की शत्रुता जीवन भर न समाप्त होती। पर उस समय, जब साहित्यिक चर्चा चली, तब द्विवेदी जी ने अपने शिष्टतापूर्ण व्यवहार से सबको चकित कर दिया और एक शब्द भी ऐसा न कहा जिससे बाबू साहब या किसी अन्य सज्जन के प्रति मनोमालिन्य प्रकट होता। वास्तव में उनमें यह बड़ा भारी गुण था कि वे अपने प्रतिद्वंद्वी के प्रति आत्मीयतापूर्ण सद्व्यवहार दिखलाने में कभी पीछे नहीं रहते थे। ऐसी स्थिति में वे सदा उदार नीति को ही आश्रय देते रहे थे।

दृढ़ता

आरंभ से लेकर अंत तक द्विवेदी जी अपने विचारों पर दृढ़ रहे। सच पूछा जाय तो साहित्य और समालोचना के क्षेत्र में अगणित विरोध होते हुए भी उन्हें जो अपूर्व सफलता मिली उसका प्रधान कारण उनकी दृढ़ता ही थी। यदि उन्होंने कभी किसी प्रकार का निश्चय किया तो उसे अवश्य ही पूरा किया। समय की पाबंदी भी दृढ़व्रती की भाँति ही वे करते थे। काम करने का उनका ढंग यह था कि जो प्रोग्राम बना लिया उसे निभाया जरूर। एक बार उन्होंने प्रण किया था कि एक घंटा

प्रतिदिन लिखेंगे अवश्य। उस समय वे रेलवे के कर्मचारी थे और १० बजे से शाम के ६ बजे तक जुटकर काम करना पड़ता था। प्रतिदिन का काम समाप्त करके ही वे घर आते थे। इसलिए कभी-कभी बहुत रात तक काम करना पड़ता था। ऐसे दिन लिखने का काम—प्रण निभाना कठिन हो जाता था। पर इसमें शायद ही कभी व्यतिक्रम हुआ हो। जिस दिन देर हो जाती थी, वे बिंदकी-रोड स्टेशन पर बैठकर ही एक घंटा लिख लिया करते थे और तब घर आते थे। 'सरस्वती' का काम करते हुए भी लिखने के लिए उन्हें इसी प्रकार दृढ़ रहना पड़ता था। यदि वे ऐसा न करते तो क्या यह संभव था कि संपादन का कार्य करके भी लगभग ५० पृष्ठ प्रतिमास लिख डालते। इसी प्रकार यदि वे किसी के घर आने का वादा कर लेते थे तो उसे अवश्य ही निभाते थे; लू-लपट और वर्षा की बौछार में उन्हें रोक लेने की क्षमता नहीं थी। वे चाहते भी ऐसे ही लोगों को थे जो वादा करके उसे पूरा करना जानते थे। यदि कोई वादाखिलाफ़ी करता था तो उसे बुरी तरह फटकार दिया करते थे। लोग इससे कभी-कभी अप्रसन्न भी हो जाते थे; पर द्विवेदी जी ने कभी इसकी चिंता ही नहीं की—इस ओर भी वे सदैव दृढ़ ही रहे।

पंचायत

द्विवेदी जी अपने गाँव की पंचायत के सरपंच थे। उनकी पंचायत में किसी का भी मुक़दमा आ जाय परंतु वे अपनी न्यायप्रियता और स्पष्टवादिता कभी नहीं छोड़ते थे; चाहे उन्हें अपने हाथ से अपने किसी संबंधी को ही दंड देना पड़े, परंतु वे अंतःकरण से ठीक ही काम करेंगे। पहले वे आनरेरी मुंसिफ़ थे। उस समय भी उनका कार्य-क्रम ऐसा ही रहता

था। यों वे दीनों की सहायता करने से कभी पीछे नहीं हटते थे, परंतु यदि कोई निर्धन अपराधी होता था तो भी वे उसे यथोचित दंड देते थे। एक बार किसी अपराधी पर उन्होंने कुछ जुर्माना किया। उस व्यक्ति के पास एक कौड़ी भी न थी। द्विवेदी जी ने उसे माफ़ नहीं किया, पर उसको अलग बुलाकर समझा दिया और स्वयं अपने पास से जुर्माने के रुपये दे दिये। उनकी इस न्यायप्रियता का ही यह परिणाम था कि उनसे सभी संतुष्ट रहते थे।

विनम्रता

द्विवेदी जी में सज्जनोचित विनम्रता भी यथेष्ट मात्रा में थी। उन्होंने हिंदी-साहित्य की बड़ी सेवा की, पर इस पर गर्व नहीं किया और न कभी इस बात की ही चेष्टा की कि उनकी सेवाओं का महत्त्व दूसरों पर प्रकट हो जाय। कानपुर के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर उन्होंने कहा था—

"मुझ अपुण्यकर्मा ने अपनी आयु के कोई ६० वर्ष अधिकतर तिल, तंदुल, लवण और ईंधन ही की चिंता में बिता दिये। अपनी मातृभाषा हिंदी की उन्नति के लिए जो जो काम करने का संकल्प मैंने किया था, वे सब मैं नहीं कर सका। यह जन्म तो मेरा गया। आप उदारता और दयालुतापूर्वक मेरे लिए परमात्मा से यह प्रार्थना कर दीजिए कि जन्मान्तर में ही वह किसी तरह काम कर सकने का सामर्थ्य मुझे दे"।

—श्री शारदा (वैशाख १९८०)

यही नहीं, सरस्वती-संपादन आदि के विषय में भी वे सदैव यही कहते रहे कि जो कुछ मैंने किया, सिर्फ़ इतना ही कि 'सरस्वती' की कापी सदा समय पर भेजी; कभी एक दफ़े

भी इसमें त्रुटि नहीं होने दी। ६८वीं वर्षगाँठ के अवसर पर जो उनका कृतज्ञताज्ञापन प्रकाशित हुआ था उससे भी उनकी विनम्रता का परिचय मिलता है। उसमें एक स्थान पर उन्होंने लिखा था—

"किसी किसी ने मेरी सरसठवीं वर्षगाँठ मनाई है। जान पड़ता है, इन सज्जनों के हृदय में मेरे विषय के वात्सल्यभाव की मात्रा कुछ अधिक है। इसी से उन्होंने मेरी उम्र एक वर्ष कम बता दी है।"

उनके इस ज्ञापन पर श्रीयुत शिवपूजनसहाय (जागरण-संपादक) ने ४ जून, १९३२ (ज्येष्ठ सं० १९८९) में यह लिखा था—

"लेकिन उन सज्जनों का इसमें कोई दोष नहीं। आराध्यदेव की सेवा में तत्पर श्रद्धालु भक्त कभी-कभी इतना तन्मय हो जाता है कि गले की माला चरणों पर ही हाथ से छुट पड़ती है। अस्तु।"

'सरस्वती'-संपादन-कार्य से छुट्टी लेते समय 'संपादक की विदाई'-शीर्षक जो लेख द्विवेदी जी ने लिखा है, वह भी विनम्रता का अच्छा नमूना है।

सादगी

रेलवे में बाबू की हैसियत से द्विवेदी जी कोट और पतलून पहना करते थे। 'सरस्वती' का काम करने पर भी कुछ दिन तक वे यही पोशाक पहनते रहे। पर उनकी यह पोशाक देशी कपड़े की होती थी और उनकी रहन-सहन बिलकुल सादी थी। बाद को उन्होंने पतलून को भी त्याग दिया। उनके सिर पर चार-छः आने की मामूली टोपी रहती थी और बदन पर एक साधारण

कुरता। धोती उनकी छोटी और साफ़ होती थी और जूता चमड़ौधा देहाती। यह पोशाक 'सरस्वती' के उस संपादक की थी जिसकी धूम समस्त भारत में मची हुई थी। उनके घर पर भी मेज़-कुर्सी के दर्शन नहीं होते थे। वे स्वयं लकड़ी के तख़्त पर बैठते, पीठ को एक बड़े तकिये पर टेके हुए, घुटनों पर एक मोटी दफ़्ती के ऊपर काग़ज़ रखकर प्रायः लिखा करते थे। चिट्ठी लिखने के लिए छपे हुए 'पैड' की तो शायद उन्हें कभी आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई। दूसरों के पत्रों के सादे भाग पर या बहुत मामूली काग़ज़ या अख़बारों के रैपर पर वे पत्र लिखा करते थे। यह बात उनके बुढ़ापे के समय पर ही नहीं लागू होती है। इंडियन प्रेस में काम करते समय वे संपादकीय नोट भी ऐसे टुकड़ों पर ही लिखा करते थे। कभी-कभी तो लिफ़ाफ़ों को फाड़कर लिखा करते थे। भोजन भी उनका सादा होता था। पहले चाय पीते थे; पर बाद में उसे भी छोड़ दिया। दूध, साग और मोटा दलिया ही उनका भोजन रह गया।

धैर्य

नवंबर, १९०५ की सरस्वती में द्विवेदी जी ने 'पंडित बलदेव-प्रसाद का जीवनचरित'-शीर्षक एक निबंध लिखा था। उसमें एक स्थान पर द्विवेदी जी ने लिखा था—'मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्'—मरना शरीरधारियों का स्वभाव ही है। पर कुसमय की मृत्यु से मृत व्यक्ति के आश्रित, संबंधी और स्नेही जनों को बहुत दुःख होता है। तथापि ऐसे मामलों में मनुष्य का कुछ वश नहीं। उसे धैर्य रखना चाहिए।

जीवन में द्विवेदी जी ने अपने इसी कथन को ध्यान में

रक्खा। उन पर तरह-तरह के कष्ट पड़े; पर वे कभी विचलित न हुए और न दूसरों के आगे अपना रोना ही रोया। वे अपनी माता जी पर अधिक भक्ति रखते थे। कालांतर में उनका स्वर्ग-वास हुआ। अपनी स्त्री से उन्हें बहुत प्रेम था। थोड़ी ही अवस्था में वे भी इनको अकेला छोड़ गईं। इसी प्रकार कई अन्य संबंधियों का भी विछोह हुआ। हृदय पर पत्थर रखकर द्विवेदी जी ने सब सहा; पर मुँह से उफ़ नहीं की।

व्यवस्था और नियमन

सुनते हैं, वाल्टर स्काट जिस कमरे में बैठकर लिखा करते थे वह गंदी गली में था और उस कमरे में कभी सफ़ाई नहीं होती थी। बात ठीक हो या न हो, पर इससे यह ध्वनि अवश्य निकलती है कि वह व्यवस्था-प्रिय न था, आलसी था। द्विवेदी जी को इस प्रकार की अव्यवस्था बिलकुल पसन्द नहीं थी। वे स्वयं सब सफ़ाई अपने हाथ से करते थे। घर में जो चीज़ जहाँ रक्खी जाती है वह वहीं अपने स्थान पर रक्खी जानी चाहिए। टोपी या छड़ी रखने की जगह पर कोट या जूते नहीं रक्खे जा सकते थे। इसी प्रकार वे पुस्तकों को भी निश्चित स्थान पर ही रखते थे। यदि कोई पुस्तक अपनी जगह से हट या ग़ायब हो जाती थी तो उन्हें तुरंत मालूम हो जाता कि कोई गड़बड़ हुआ है। वे घरवालों से पूछताछ कर तुरंत पता लगा लेते थे। पुस्तकों की सफ़ाई तो वे वृद्धावस्था में भी रोज़ करते थे। पुस्तकें उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यारी थीं। गाँव में पुस्तक केवल उन्हीं लोगों को देते थे जिनके बारे में यह जानते थे कि ये पुस्तक पढ़कर समझ सकते हैं। जो व्यक्ति उनसे पुस्तक ले जाता था उसे निश्चित समय में ज्यों की त्यों वापस करनी पड़ती थी। द्विवेदी जी की सुव्यवस्था का प्रभाव

मिलनेवालों पर भी पड़ता था। इस संबंध में पंडित सूर्यनारायण दीक्षित एडवोकेट अपना अनुभव इस प्रकार लिखते हैं—

"उसके एक कमरे में द्विवेदी जी का पुस्तकालय था। उसको पुस्तकालय न कहकर सरस्वती देवी के भिन्न-भिन्न रत्नों का एक महान् भाण्डार कहना चाहिए। कमरे की चारों दीवारों में अलमारियाँ चिपकी हुई थीं, जिनमें किताबें ठसाठस भरी हुई थीं। उसके एक कोने में छोटा-सा तख़्त बिछा हुआ था। तख़्त के एक ओर एक जोड़ा खड़ाऊँ और दूसरी ओर जूते रक्खे रहते थे। तख़्त के ऊपर लेखन-सामग्री रक्खी रहती थी और उसी पर विराजमान होकर द्विवेदी जी भगवती सरस्वती की एकाग्रचित्त से आराधना किया करते थे। अलमारियों में एक ओर हिंदी-भाषा की पुस्तकें थीं, दूसरी ओर मराठी, गुजराती, अँगरेज़ी और बँगला की पुस्तकों का भाण्डार था। अलमारियों के ऊपर मचान बँधे हुए थे और उन पर संस्कृत के ग्रंथरत्न खारुये से बँधे हुए सुरक्षित रक्खे हुए थे। पत्रों के रक्षण करने का द्विवेदी जी को इतना प्रेम था कि सूचीपत्र आदि तक यथास्थान सँभाल कर रक्खे रहते थे। द्विवेदी जी जिस सिलसिले में पुस्तकें रखते थे उस सिलसिले में यदि कोई परिवर्तन कर देता था तो यदि वह द्विवेदी जी का घनिष्ठ और असीम मित्र न होता था तो द्विवेदी जी उसी के सामने चुपचाप उठकर उन पुस्तकों को फिर यथास्थान रख देते थे और यदि उससे घनिष्ठता और मित्रता हुई तो उसको द्विवेदी जी की डाँट भी सहनी पड़ती थी। एक बार मैंने द्विवेदी जी की खड़ाऊँ इधर से उठाकर उधर रख दी। द्विवेदी जी ने तुरंत भर्त्सना-पूर्वक मेरी उच्छृंखलता पर फटकारा और कहा कि मनुष्य-जीवन में प्रत्येक मनुष्य को तरतीब का मूल्य समझना चाहिए और कभी बेतरतीबी से कार्य नहीं करना चाहिए।

"एक बार मैं और आचार्य जी भोजन करने बैठे तब उनकी

धर्म्मपत्नी ने थाली में खाद्य पदार्थ उस सिलसिले में नहीं रक्खे थे जिसमें द्विवेदी जी नित्यप्रति रखवाते थे, अतएव उनको भी स्नेह-मिश्रित भर्त्सना सुननी पड़ी।''

द्विवेदी जी की सफ़ाई और व्यवस्था-प्रेम का पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी ने बड़ा सुन्दर चित्र निम्न शब्दों में खींचा है—

''घर के सामने पक्का कुआँ, छोटी-सी फुलवाड़ी, अगल-बग़ल में हिंदी-पाठशाला, डाकघर, अतिथिशाला, गोशाला, सब उसी घर से मिले हुए छोटे दायरे में थे। सामने ही मैदान में एक ओर एक पक्का चबूतरा और उस पर छोटा-सा महावीर जी का मंदिर, फिर माता जी (आचार्य-पत्नी) का मंदिर, फिर एक बड़ा-सा गहरा तालाब! प्रथम दर्शन में ही उस बीहड़ देहात में यह दृश्य सचमुच एक तीर्थस्थान-सा दिखाई दिया। मैं सामने ही चबूतरे पर चढ़कर पादत्राण बाहर उतार एकदम आचार्य के बैठके में घुस गया। आप एक बंडी पहने हुए, बिलकुल देहाती—वज्र गवाँर-से—एक छोटा-सा झाड़न लिये आलमारियों की अपनी पुस्तकें पोंछ रहे थे। पुस्तकों में धूल चढ़ी हुई नहीं थी; पर आचार्य का यह क्रम था कि प्रतिदिन सुबह उठकर पहले सफ़ाई का काम करते और देखते थे। तमाम कमरा साफ़, सामान साफ़, जहाँ का तहाँ बाक़ायदा। बाहर चबूतरा बिलकुल साफ़ झाड़ा हुआ!

आचार्य छोटा-सा झाड़न लिये सिर झुकाये किताबें झाड़ रहे थे। मैं एकदम गया, और पैर छुए। आपने सिर ऊपर उठाया; और मेरी ओर अपनी स्वाभाविक जलदगंभीर, पर मधुर स्नेह से भरी हुई ध्वनि से बोल उठे—'लक्ष्मीधर!' एक-दो कुशल प्रश्न की बातें हुईं और आचार्य फिर पुस्तकें पोंछने में लग गये। मैं बाहर तालाब की तरफ़ जाकर जंगल की तरफ़ इधर-उधर देखने लगा। पाँच-सात मिनट बाद आया तब देखता क्या हूँ कि मेरे पादत्राण जो कमरे के बाहर दरवाज़े

के पास चबूतरे पर सामने ही धूलधूसरित रक्खे हुए थे, बिलकुल साफ़ लक़दक़ ! मैं देखकर एकदम भौचक्का रह गया।

सत्यनिष्ठा

द्विवेदी जी के वचन, चिन्तन और कर्म में साम्य था। उनका जो आदर्श था, उनके विचार भी उसी के अनुरूप थे। जैसा वे दूसरों से चाहते थे, वैसा ही स्वयं भी करते थे। मनुष्य के साथ तो वे मनुष्यता का व्यवहार करते ही थे, राक्षस को भी वे मनुष्य बनाना चाहते थे। वे प्रसिद्धि से बहुत घबराते रहे। इसका कारण यही था कि उनको दिखावे से घृणा थी। उनकी सेवाओं की हृदय से सराहना करते हुए कविवर नाथूराम 'शंकर' शर्मा ने 'सरस्वती की महावीरता'-शीर्षक एक कविता लिखी। द्विवेदी जी के पास ही उन्होंने इसे प्रकाशित करने के लिए भेजा। वे 'शंकर' जी को बहुत चाहते थे; पर इस कविता के प्रकाशन के लिए उन्होंने 'नाहीं' लिख दी, पर अंत में जनवरी १९०७ की सरस्वती में बड़ी कठिनता से इस कविता को प्रकाशित किया। कहने का तात्पर्य यह कि द्विवेदी जी सत्य के उपासक थे और अपने जीवन के भिन्न-भिन्न मार्गों में इसी पथ का अनुसरण करते थे। निम्नलिखित श्लोक उन्हें बहुत प्रिय था—

लज्जागुणौघजननीं जननीमिव स्वा-
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्त्तमानाम्।
तेजस्विनः सुखमसूनपि संत्यजन्ति
सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम्॥

हास्य और विनोद

द्विवेदी जी स्वभावतः बड़े विनोदप्रिय थे। उनके विनोद

से दूसरे भी प्रसन्न हो जाते थे, किसी को दुःख नहीं होता था। उनके साथ बातचीत करने में एक विशेष प्रकार का आनंद आता था। उनकी बातों में कुछ अनोखापन और आकर्षण रहता था। प्रायः अपने संभाषण में वे साहित्यिक पुट भी जमाते जाते थे। व्यंग्य तो उसकी जान थी और उनका व्यंग्य सारगर्भित होता था। उनसे मिलने और बातचीत करने पर शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा हो जिस पर कुछ प्रभाव न पड़ा हो। एक बार वे अपने आफ़िस में अपने दो-एक मित्रों के साथ बैठे थे। डाक आई। जो लेख आये उनमें कुछ लेख बिलकुल रद्दी थे। ऐसे लेखों के सुधारने में द्विवेदी जी को बड़ा परिश्रम करना पड़ता था। अतः उनके एक मित्र ने टोका—आप ऐसे लेख स्वीकार ही क्यों करते हैं? आपने मुस्कराकर उत्तर दिया—'द्वार पर आनेवाले का स्वागत करना हिन्दू-मात्र का धर्म है।' आज के संपादक उनके इस वाक्य से अपने 'सिद्धान्त-वाक्य' की तुलना करके देखें तो उन्हें द्विवेदी जी की महत्ता का कुछ अनुभव हो सकेगा।

एक बार द्विवेदी जी स्वर्गीय श्रीपद्मसिंह शर्मा की प्रेरणा से ज्वालापुर गये। आने के पहले आपने तार दिया—"मैं आ रहा हूँ। सवारी का प्रबंध करना। पन्द्रह बजे (तीन बजे) दिन को पहुँचूँगा (Reaching Jubbulpore manage conveyance fifteen hours) तारबाबू ने भूल से hour की जगह horse लिख दिया, जिसका अर्थ यह निकाला गया कि १५ घोड़े की गाड़ी का प्रबंध करो। लोग बड़े परेशान हुए। जब द्विवेदी जी ज्वालापुर पहुँचे और उन्हें वह तार दिखाया गया तब उन्होंने जाकर तारबाबू से विनोदपूर्वक कहा—"वाह बाबू जी! वाह! ख़ूब किया।" बेचारा तारबाबू खिसिया गया। इसी प्रकार जब द्विवेदी-मेले के अवसर पर

आपसे एक साहब ने कहा—महाराज ! आज आपका चित्र लिया जायगा, तब सर्वसंपन्न द्विवेदी जी ने मुस्कराते हुए व्यंग्यपूर्वक कहा—"भाई, सच ! मैं तो देहात का रहनेवाला हूँ। अगर जानता कि चित्र लिया जायगा तो कम से कम एक कोट का तो इन्तज़ाम कर लेता।"

उनकी विनोद-प्रियता के न जाने कितने उदाहरण हैं जो उनके कठोर व्यक्तित्व और संयमशील जीवन में अपवाद की भाँति घुले-मिले हैं। जब हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने अपनी परीक्षायें चलाईं तब द्विवेदी जी ने भी प्रथमा परीक्षा के लिए अपना आवेदन-पत्र भर कर भेजा था। प्रताप-संपादक पंडित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने एक लेख में द्विवेदी जी की विनोद-प्रियता का बड़ा सुन्दर उल्लेख किया है। वे लिखते हैं—

"आचार्य कभी कभी बड़ा सुंदर मज़ाक़ भी कर बैठते थे। एक बार 'प्रताप'-प्रेस पधारे। मेरे कमरे में आरामकुर्सी पर बैठे हुए थे। हम लोग—मैं, चि० हरिशङ्कर, चि० पन्नालाल—आस-पास बैठे थे। एकाएक मुझसे पूछ बैठे—'काहे हो बालकृष्ण, ई तुम्हार सजनी, सखी, सलौनी, प्राण, को आयँ ? तुम्हार कविता माँ इनका बड़ा जिकर रहत है ?' मुझे बड़ी झेंप लगी। सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई। लड़के लोग हँस पड़े। तब मैंने अपना साहस बटोर कर कहा—'महाराज, बूढ़ हुइगये हो; इन सबका जानिकै का करिहो ?' इस पर बड़ा ठहाका मार कर वे हँसे और मुझे चपत लगाते हुए बोले—'अरे तुम बड़े मुरहा हो'।"

प्रेम और भक्ति

द्विवेदी जी को बच्चों से बड़ा प्रेम था। बच्चे भी उनसे ख़ूब हिले थे। उनके कमरे में तो वे प्रायः खेला करते थे। कभी-कभी उनके लकड़ी के तख़्त पर चढ़ जाते थे। वे उन्हें दिक़ भी

करते थे। द्विवेदी जी पत्र लिखने बैठते थे तब बाहर से कोई बच्चा पूछता था—

"बाबा, का लिखत है ?"

"मुनिया का चिट्ठी लिखत है।"

"मुन्नी—कमलाकिशोर जी की बेटी—का जानत है।"—चिट्ठी लिखते-लिखते द्विवेदी जी फिर बच्चे को छेड़ते थे।

"हाँ।"

"मुन्नी कहाँ रहति है ?"

"इलाहाबाद।"

"हाँ, जानत हो।"

और बच्चा उछलता-कूदता अपने ज्ञान पर गर्व करता चला जाता था।

द्विवेदी जी अपनी धर्म-पत्नी से भी बहुत संतुष्ट थे। पूज्य माता जी में गुण भी ऐसे ही थे। रेल की २००) की नौकरी छोड़कर जब द्विवेदी जी आये तब भी सुना जाता है, उन्होंने किसी प्रकार का असंतोष न प्रकट किया; बरन सुख और संतोष के साथ यही कहा—अगर तुम मेहनत-मजदूरी करके आठ आने भी कमा लाओगे तो मैं उसी में संतोष कर लूँगी। इन्हें द्विवेदी जी बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। अपनी धर्म-पत्नी की मृत्यु के समय द्विवेदी जी की अवस्था अधिक नहीं थी, कान्यकुब्जों में एक स्त्री के होते हुए भी दूसरा विवाह कर लेने का चलन रहा है और जब पहली स्त्री को कोई भयानक रोग हो और उनके संतान भी न होती हो तब तो दूसरा विवाह कर लेना कोई अनहोनी बात नहीं थी।

परंतु द्विवेदी जी से यह बात लाखों कोस दूर रही। उन्होंने सपने में भी दूसरे विवाह का नाम न लिया और अपनी धर्म-पत्नी को प्राणाधिक समझकर प्यार करते रहे। वे उन्हें गंगा जी पर स्नान करने अकेला नहीं जाने देते थे; क्योंकि अपस्मार का रोग जल के किनारे प्रायः उठ आता है! विधि की बात। एक दिन किसी तरह वे गंगा-स्नान करने चली गईं। वहाँ रोग का दौरा हो गया और वे वहीं डूबकर स्वर्गवासिनी हो गईं।

द्विवेदी जी का हृदय तिलमिला उठा। वे व्याकुल हो गये। धीरज धरा और अपनी स्वर्गीया पत्नी की एक सुन्दर मूर्ति बनवाकर मकान के सामने नव-निर्मित मण्डप में विराजमान कराई। वहाँ उन्होंने जो संस्कृत-पद्य रच कर अंकित कराये हैं उनसे उनकी भावना स्पष्ट सामने आ जाती है। द्विवेदी जी ने जब अपनी अर्द्धाङ्गिनी की मूर्ति यों स्थापित की तब लोगों ने बड़ा मज़ाक़ उड़ाया। जगह-जगह गाँव के लोग कहने लगे—'दुबौना कलजुगी है कलजुगी। दाखौ ना, मेहेरिया कै मूरति बनवाय कै पधराईसि हइ! यहौ कौनिउ वेद-पुरान कै मरजाद आय?' द्विवेदी जी के सामने भी लोग ताना मारते रहे। परंतु उस भावमूर्ति पर कुछ असर न हुआ।

आचार्य ने माता जी का मंदिर बनवाया और उनकी मूर्ति स्थापित की, इसके अंदर भी एक रहस्य है। माता जी जब जीवित थीं, द्विवेदी जी एक दिन कुटुम्ब में बैठे थे। बातचीत में हँसी के तौर पर माता जी ने कहा—'तुम्हारा चबूतरा तो हमने बनवा दिया!' भावुक आचार्य माता जी से बोल उठे—'तुमने हमारा चबूतरा बनवाया है, मैं तुम्हारा मंदिर बनवाऊँगा!'

बात यह थी कि आचार्य-पत्नी के घर में उनके पड़ोस की उनकी एक सहेली बैठती-उठती थीं। दोनों में बड़ा प्रेम था। सहेली ने माता जी से कहा कि महावीर जी की पुरानी मूर्ति दरवाज़े पर बुज़ुर्गों की स्थापित पड़ी है, इसके लिए एक पक्का चबूतरा बन जाता तो अच्छा था। माता जी ने उस सहेली की सलाह से चबूतरा बनवा दिया और महावीर जी के लिए वहीं एक मठिया भी। इसी पर आज उन्होंने हँसी में अपने पतिदेव से अचानक कह दिया! उनको क्या मालूम था कि यह महावीर उनको कितना पूजते हैं! महावीर के ऊपर भी दीवार में द्विवेदी जी के रचे हुए श्लोक खचित हैं, जिनमें माता जी और उनकी सहेली की प्रशस्ति है।

द्विवेदी जी अपनी माता जी पर भी बड़ी भक्ति रखते थे। यह बात हमें श्रीपरमानंद चतुर्वेदी नामक एक सज्जन के द्विवेदी जी को लिखे हुए एक पत्र से मालूम हुई है। पत्र ११ मार्च १९०८ को लिखा गया था। पत्र इस प्रकार है—

"द्विवेदी जी महाराज,

नमस्कार—आज भट्ट गिरिधरलाल जी मुझसे मिलने आये थे। उन्होंने आपके अजमेर जाने का ज़िक्र किया था और उनकी बातों से यह भी पाया गया कि आपकी अपनी माता जी की तरफ़ अधिक भक्ति है।

११ मार्च, १९०८ परमानंद चतुर्वेदी।"

गुण-ग्राहकता

द्विवेदी जी में एक और गुण था। यह था उनकी गुण-ग्राहकता। संपादक हो जाने पर कुछ लोग "हमचुनी दीगरे

नेस्त" का बुरी तरह शिकार हो जाते हैं और अपनी योग्यता के आगे किसी को कुछ नहीं समझते। द्विवेदी जी संपादकों की इस श्रेणी में नहीं आते। 'सरस्वती'-संपादक की हैसियत से विभिन्न विषयों की पुस्तकों का अध्ययन करके उन्होंने स्वयं सभी की आलोचना की थी; पर इससे उन्हें यह अभिमान न हुआ कि हम सभी विषयों के पारंगत हैं। 'सरस्वती'-क्षेत्र के बाहर जिन विषयों के विद्वानों के लेख वे प्रकाशित देखते थे उनको 'सरस्वती' में उद्धृत करते थे। एक बार सुनते हैं, उर्दू के किसी पत्र में 'हज़रते दिल की कहानी' प्रकाशित हुई थी। द्विवेदी जी ने भावात्मक ढंग की इस सुंदर रचना की ख़ूब प्रशंसा की और उसे 'सरस्वती' में उद्धृत किया। पर यह उद्धरण-कार्य अन्य संपादकों का-सा नहीं था कि न कहीं लेखक का नाम न कहीं उस पत्र या पत्रिका का, जिससे वह उद्धृत किया गया है। किसी विद्वान् का लेख, यदि हिंदी में ही प्रकाशित हुआ है तो यों ही, और यदि बँगला, मराठी, गुजराती और अँगरेज़ी में प्रकाशित हुआ है, तो उसका सरल भाषा में अनुवाद करके वे 'सरस्वती' में छापते थे। लेखक और पत्र-पत्रिका का नाम तो रहता ही था; साथ ही साथ नोट के आरंभ में एक छोटी-सी भूमिका रहती थी, जिसके कुछ वाक्यों से उनके विषय-संबंधी विचार ज्ञात हो जाते थे। भूमिका का अवशिष्ट भाग मूल-लेखक की प्रशंसा में रहता था, जिसमें निरभिमानता और सचाई स्पष्ट दिखाई देती थी। ऐसे निबंधों के उदाहरण 'सरस्वती' के प्रायः प्रत्येक संख्या में रहते थे।

यह तो हुई लेखों के विषय में उनकी गुण-ग्राहकता। पुस्तक-परिचय इससे और भी स्पष्ट होता था। जो पुस्तकें नये ढंग की लिखी होती थीं—नये विषयों पर लिखी होती थीं—या पुराने और प्रचलित विषयों पर ही खोज और विद्वत्ता से लिखी

होती थीं, उनका परिचय, बड़ी विशदता से, 'सरस्वती' में प्रकाशित किया जाता था और अनेक साधुवाद-धन्यवाद देकर लेखक का आदर किया जाता था। नये विषयों की कई पुस्तकों की आलोचना 'सरस्वती' में निकली थी; पर प्रचलित विषयों की खोज करके लिखनेवाले अधिक नहीं थे। मेरा आशय हिंदी-वालों से है। हिंदी-भाषा-भाषी, लाख अनुनय-विनय करने पर भी इस ओर ध्यान न देते थे। हाँ, मराठी, बँगला के लेखक अवश्य प्रयत्नशील थे। द्विवेदी जी उनसे ही आशा रखते थे और बड़ी श्रद्धा से उनका नाम लिया करते थे। सुप्रसिद्ध मराठी-लेखक और ग्रंथकार रायबहादुर चिंतामणि विनायक वैद्य, एम० ए०, एल-एल० बी० के मराठी में लिखे हुए अवलोन्नति-लेखमाला के लेखों से प्रभावित होकर द्विवेदी जी ने लिखा था—

"उन्हें (अवलोन्नति-लेखमाला के लेख) पढ़कर हमारे हृदय में लेखक महाशय के विषय में श्रद्धा का अंकुर उग आया। उनके अन्यान्य ग्रंथ और लेख पढ़ते-पढ़ते वह अंकुर बढ़कर विशाल वृक्ष हो गया। महाभारत-विषयक उनका ग्रंथ पढ़कर हमने बहुत अधिक लाभ उठाया। इस ग्रंथ में वैद्य महाशय ने महाभारत से संबंध रखनेवाले प्रायः सभी विषयों का जिस योग्यता से विचार किया है और उनकी तुलनामूलक आलोचना करने में उन्होंने जिस बुद्धि-दाक्षिण्य और सदसद्विवेचना का परिचय दिया है, उसकी बार-बार प्रशंसा करने को जी चाहता है।"

हिंदी-हितैषियों और सेवकों के विषय में उनका यह आदर-भाव और भी बढ़ा-चढ़ा था। यह स्वाभाविक था और उनकी प्रशंसा में लिखे हुए विचार उनके हृदय से निकले हुए होते थे। इसका एक उदाहरण आज से ३५ वर्ष पहले का है। 'सरस्वती' के संपादक होने के पहले ही बाबू श्यामसुन्दरदास की हिंदी-

सेवाओं के विषय में वे बहुत कुछ सुन चुके थे। अतः उनके प्रति द्विवेदी जी के हृदय में इतना श्रद्धा-भाव था कि अपने संपादन-कार्य के प्रथम वर्ष के प्रथम अंक (जनवरी, १६०३) के प्रथम पृष्ठ पर उनका चित्र प्रकाशित करके अपना सर्वप्रथम संपादकीय नोट इस प्रकार लिखा—

जिन्होंने बाल्यकाल से मातृभाषा हिंदी में अनुराग पैदा किया, जिनके उत्साह और अश्रांत श्रम से नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) की इतनी उन्नति हुई, हिंदी की दशा को सुधारने के लिए जिनके उद्योग को देखकर सहस्रशः साधुवाद दिये बिना नहीं रहा जाता; जिन्होंने विगत दो वर्षों में इस पत्रिका के संपादन-कार्य को बड़ी ही योग्यता से निबाहा, उन विद्वान् बाबू श्यामसुन्दरदास के चित्र को, इस वर्ष, आदि में प्रकाशित करके 'सरस्वती' अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करती है।

बाबू साहब के चित्र के नीचे उन्होंने अपना यह सुप्रसिद्ध पद्य लिखा है—

मातृभाषा के प्रचारक विमल बी० ए० पास;
सौम्य शीलनिधान बाबू श्यामसुन्दरदास।

नागरी-प्रचारिणी सभा की सेवाओं को भी द्विवेदी जी बड़ी आदर की दृष्टि से देखते थे। इस सभा के ४० वें अधिवेशन के अवसर पर सभापति के आसन को सुशोभित करते हुए आचार्य द्विवेदी जी ने सभा के कार्यों की बड़ी प्रशंसा की थी। सभा के कार्य-कर्ताओं की प्रशंसा करने के बाद सभा के पूर्व उद्योगों का वर्णन करते हुए द्विवेदी जी ने कहा था—

"हिंदी में इस समय जो अनेकानेक सुंदर-सुंदर पत्रिकायें निकल रही हैं, उनकी भी प्रेरक यह सभा ही है। वह यदि 'सरस्वती' को

जन्म देकर इस विषय में पथ-प्रदर्शक न बनती तो शायद बहुत दिनों तक वैसी पत्रिकाओं के दर्शन न होते। मेरी मंद बुद्धि तो यही कहती है कि नागरी-लिपि के प्रचार और हिंदी-भाषा के साहित्य के उद्धार के लिए इस सभा ने जितना काम किया है, उतना काम न तो किसी अन्य संस्था ने ही किया और न अनेक साहित्य-सेवियों ने सम्मिलित रूप से ही किया। इसके उद्योग से बना हुआ हिंदी-भाषा का कोष और व्याकरण बड़े ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। यदि यह इस ओर दत्तचित्त न होती तो शायद हिंदी-साहित्य के ये दोनों अंग अपनी उन्नतावस्था में अब तक देखने ही को न मिलते।"

ये वाक्य उसी सभा की प्रशंसा में लिखे गये हैं जिसके कार्यों की कटु आलोचना उन्होंने १६०५ में की थी। उस समय सभा की स्थिति भी कुछ वैसी ही थी; परंतु इस बार स्वयं द्विवेदी जी ने आगे चल कर कहा है—

"आप बनावट न समझिए, मैं शुद्ध हृदय से इस बात को स्वीकार करता हूँ कि मैं इस सभा का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। इसे तो मैं अपनी गुरुस्थानीय ही नहीं, अन्नदात्री तक समझने को तैयार हूँ। यदि इस सभा के कुछ प्रमुख कार्यकर्ता इण्डियन प्रेस से 'सरस्वती' का प्रकाशन न कराते तो मैं हिंदी लिखने और उसके साहित्य की थोड़ी-बहुत चेष्टा करने में कदापि समर्थ न होता। यह इस सभा का ही प्रभाव, प्रसाद या प्रताप है, जो मैं आज एक विशेष निमित्त की पूर्ति के लिए काशी में उपस्थित हुआ हूँ।"

ये हैं गुण-ग्राहक द्विवेदी जी के सच्चे हृदयोद्गार। इन वाक्यों पर ग़ौर करने से यह भी पता चल जायगा कि सभापति के आसन से शिष्टाचार और सज्जनता की रक्षा के लिए ही ये प्रशंसात्मक वाक्य नहीं लिखे गये हैं।

दान

द्विवेदी जी ब्राह्मण थे; लेकिन दान लेनेवाले ब्राह्मण नहीं, दान देनेवाले ब्राह्मण। साहित्य की सेवा में जो कुछ लता-पता, पोथी-पुस्तक संग्रह किया था, वह सबका सब लोक-सेवा की भेंट कर दिया। साहित्य के पुजारियों में यह भाव कहाँ? अन्य पुजारियों की भाँति यह पुजारी भी दिल का तंग होता है। यह सच है कि साहित्य का पुजारी अन्य पुजारियों की भाँति भाग्यशाली नहीं होता। अर्थ-चिंता में जिसे नींद न आती हो, उससे उदारता की आशा रखना रोग से छटपटाते हुए आदमी से गाना सुनने की आशा रखना है! कभी माया के दर्शन भी हुए तो वह उससे इतने ज़ोर से चिपटता है कि प्राण निकल जाने पर ही उसके हाथ ढीले हो सकते हैं। वह एक पैसा भी दे तो उसे लाख रुपया समझो।* फिर द्विवेदी जी ने तो अपनी गाढ़ी कमाई के ६,४००) छात्र-वृत्तियों के लिए हिंदू-विश्व-विद्यालय को दिये। उनकी यह प्रवृत्ति आरंभ से ही रही है। जब उनकी आमदनी दो सौ रुपये से केवल तेईस-चौबीस रुपये रह गई थी, तब भी वे प्रतिमास तीन-चार रुपये दान-पुण्य के लिए अवश्य ही निकाल लेते थे। दूसरे शब्दों में, उन्होंने अपने धन का दुरुपयोग नहीं किया। हिंदी में केवल 'संपत्तिशास्त्र' लिख-कर ही उन्हें संतोष न हुआ, उन्होंने अपने जीवन-द्वारा संपत्ति-शास्त्र के नियमों को चरितार्थ किया। मितव्ययिता के यदि वे आदर्श माने जायँ तो इसमें अत्युक्ति न होगी। अपने खर्च व आमदनी का हिसाब वे हमेशा लिखते रहे। उनका स्वयं सदा यही ध्येय रहा—और दूसरों को भी प्रायः यही शिक्षा देते रहे कि आय से व्यय कदापि अधिक न होना चाहिए। इस संबंध में वे प्रायः यह श्लोक कहा करते थे—

---

* जागरण—मि० वैशाख शुक्ल ७, सोमवार, सं० १९९०, पृ० ३

इदमेव हि पाण्डित्यमियमेव विदग्धता।
अयमेव परो धर्मो यदायान्नाधिको व्ययः॥

अर्थात्—जो प्राप्ति से अधिक व्यय नहीं होने देता वही पंडित है, वही चतुर है और वही धर्मात्मा भी है। मितव्ययिता का गुण होते हुए भी वे अपने संबंधियों तथा और लोगों को यथावसर आर्थिक सहायता देते रहे। अँगरेजी में एक कहावत है—Liberality does not consist in giving much but in giving at the right moment. अर्थात् बहुत देने से ही उदारता नहीं होती, बल्कि आवश्यकता के समय पर देने से दानशीलता समझी जाती है। द्विवेदी जी की उदारता भी ठीक इसी प्रकार की थी। अपने गाँव में, लड़कियों की शादी में, ग़रीब व छोटी जाति के मनुष्यों की दीनावस्था में, और विधवा स्त्रियों के संकट-समय में, वे सदा सहायता देते रहे। दूसरी ओर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को अपना प्राणों से भी प्रिय ग्रंथ-भंडार दान दे दिया। उसमें 'सरस्वती' की पुरानी कापी, शुरू से आज तक का समस्त पत्र-व्यवहार और अख़बारों की कतरनों के बंडल हैं। ग्रंथों से आठ अलमारियाँ भरी हैं और बंडलों से दो। इन सब बंडलों की छान-बीन करने के लिए नियमित रूप से ६ महीने की आवश्यकता है।

आत्माभिमान

जो नवयुवक साहित्य-सेवी स्वाभिमान और आत्मसम्मान के साथ ज़िंदगी बसर करना चाहते हों वे द्विवेदी जी से इस विषय में भी अनेक बातें सीख सकते हैं। यह बात बहुत-से पाठकों को न मालूम होगी कि द्विवेदी जी ने २००) की नौकरी छोड़कर २३) की नौकरी की थी। रेलवे ट्रैफिक-विभाग में वे

१५०) के नौकर थे और ५०) भत्ते के मिलते थे। नौकरी भी ऐसी-वैसी न थी। हज़ारों प्रार्थना-पत्रों का फ़ैसला द्विवेदी जी के हाथों से होता था। यदि द्विवेदी जी चाहते तो कई लाख रुपये रिश्वत में कमा सकते थे। रेल पर जो माल भेजा जाता था, उसकी दर में पैसे-दो पैसे के फ़र्क़ से भी व्यापारियों को लाखों का नफ़ा-नुक़सान हो सकता था, और ये व्यापारी बड़ी ख़ुशी से द्विवेदी जी को सहस्रों रुपये रिश्वत में दे देते, पर द्विवेदी जी ने अपनी ईमानदारी की कौड़ी को लखपतियों से अधिक मूल्यवान् समझा।

द्विवेदी जी का नौकरी छोड़ने का भी एक क़िस्सा है। एक गोरे साहब बहादुर द्विवेदी जी से ट्रेनिंग पाकर अफ़सर बने थे। फिर उन्होंने द्विवेदी जी पर ही रोब गाँठना शुरु किया और उनके साथ असज्जनता का व्यवहार किया। बस इसी पर नाराज़ हो कर द्विवेदी जी ने २००) की नौकरी पर लात मार दी। लोगों ने बहुत समझाया, स्वयं साहब बहादुर ने भी अपने किये पर पश्चात्ताप किया; बड़े-बड़े अफ़सरों को भी जो द्विवेदी जी की घोर परिश्रमशीलता से परिचित थे, रंज हुआ। वे इस बात का अनुभव कर रहे थे कि एक अत्यंत अनुभवशील आदमी हमारे हाथ से जा रहा है, इसलिए उन्होंने भी इस बात की कोशिश की कि किसी तरह द्विवेदी जी रह जायँ, पर उन्होंने एक बार जो निश्चय कर लिया, सो कर लिया।

साहित्यिक विवाद छिड़ने पर एक महाशय ने द्विवेदी जी को एक पत्र लिखकर कुछ बुरा-भला कहा था। द्विवेदी जी ने इस पर उन्हें लिखा था—

"Mean" and "mimic" used by you are words which never occur in the correspondence of a

gentleman and I must warn you against your having recourse to such language in future, should you have occasion to write to me again."

इसी प्रकार एक दूसरे महाशय के लेख को अपमान-सूचक समझकर उन्होंने मानहानि का दावा दायर करने का नोटिस दिया था। इसकी कथा इस प्रकार है—

सितंबर सन् १९०८ की 'सरस्वती' के पृष्ठ ४१५ पर 'आर्य शब्द की व्युत्पत्ति'-शीर्षक एक लेख छपा था। वह बँगला 'प्रवासी' में प्रकाशित श्री महेशचन्द्र घोष के एक लेख के आधार पर लिखा गया था। उसी लेख के संबंध में १६ नवम्बर, १९०८ के 'आर्य-मित्र' में पण्डित नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ ने एक आलोचनात्मक लेख लिखा था; किंतु इसके पहले ही २४ सितम्बर और १ अक्टूबर १९०८ के 'आर्य-मित्र' में क्रमशः एक लेख छपा था। उस लेख का शीर्षक था, 'सरस्वती में आर्य'। उसके लेखक थे कोई मथुरा-निवासी बी० एन्० शर्मा। वह लेख व्यक्तिगत आक्षेपों से भरा हुआ था। उसी पर द्विवेदी जी ने बीस हज़ार का मानहानि का दावा करने का नोटिस दिया था। वह नोटिस २४ अक्टूबर १९०८ के 'आर्य-मित्र' में संपादकीय मंतव्य के साथ छपा था। हिंदी के यशस्वी कवि और कानपुर के प्रतिष्ठित वकील राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने द्विवेदी जी की ओर से नोटिस दिया था। फलस्वरूप उक्त बी० एन्० शर्मा ने २४ सितम्बर १९०९ के 'आर्य-मित्र' में अपना क्षमापत्र प्रकाशित किया। उस क्षमाप्रार्थना के नीचे 'आर्य-मित्र' के प्रिंटर (बाबूराम शर्मा, भूतपूर्व सम्पादक) और पब्लिशर (कपूरचंद) का दुःख प्रकाश बड़े-बड़े अक्षरों में छपा था। इस क्षमाप्रार्थना के संबंध में २७ फ़रवरी १९१० के

'बिहारबन्धु' (पटना) में निम्नलिखित संपादकीय टिप्पणी निकली थी—

"जिसमें द्विवेदी जी की विद्या, बुद्धि और चरित्र पर भी निष्ठुरता से प्रहार किया था, द्विवेदी जी ने उस लेख को अपमानसूचक समझकर अपने मान की मरम्मत के लिए अदालती कार्रवाई करने का नोटिस दिया था। द्विवेदी जी को 'ऐंग्लो वर्नाक्यूलर पंडित' बतलानेवाले बी० एन्० शर्मा ने मुआफ़ी माँग ली है।"

स्वयं बी० एन्० शर्मा ने भी २७ सितम्बर १९०९ को 'काला-महल' (मथुरा) से एक प्राइवेट पत्र लिखकर द्विवेदी जी से क्षमा माँगी थी। उस पत्र में शर्मा जी ने घोर पश्चात्ताप प्रकट किया है। पत्र के अन्त में नीचे 'वशंवद' आदि लिखकर बड़ी नम्रता दिखाई है। यहाँ तक लिखा है कि देखें, यह परिताप कब तक दूर होता है।

ऐसे स्वाभिमानी द्विवेदी जी थे। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के उद्देश्य का आदर वे करते थे; पर जब एक बार उसके कार्यकर्ताओं से मतभेद हो गया तब वे काशी जाकर भी सभा-भवन में नहीं गये। यदि उन्हें किसी से मिलना होता था तो सभा के बाहर के कंपनीबाग़ में जाकर बेंच या घास पर बैठ जाते थे और किसी आने-जानेवाले से उस व्यक्ति को बुलवा लेते थे।

निर्भयता और स्पष्टवादिता

युवावस्था में हिंदी रीडरों की आलोचना करते समय द्विवेदी जी ने जिस निर्भीकता और स्पष्टवादिता का परिचय दिया था वही समस्त साहित्यिक जीवन-काल में उनकी सहायक बनी

रही और उसी ने हिंदी-साहित्य-संसार में उनका एकच्छत्र राज्य स्थापित कर दिया। सत्य, स्पष्टता और निर्भीकता का निरंतर अनुसरण करने के कारण ही आज हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में उनका यशःसौरभ फैल रहा है। वास्तव में जीवन की सचाई ही सदैव उनका ध्येय रही है और सांसारिक शिष्टाचार तथा कृत्रिमता से दूर रहने की वे सदा चेष्टा करते रहे हैं। किसी से दबकर वे कभी बात ही नहीं करते थे। कारण, स्वार्थवश होकर या अन्य किसी लाभ की आशा से वे कभी कोई ऐसा काम ही नहीं करते थे कि उन्हें दूसरों से दबना पड़े। यों वे वाद-विवाद से भी दूर ही रहना पसन्द करते रहे, परन्तु जब-जब वे विवश किये गये—वाद-विवाद में पड़ने के लिए ललकारे गये, तब उन्होंने पैर पीछे नहीं रक्खा। उनकी इस निर्भीकता तथा स्वाभिमान का पता हमें बाबू बालमुकुन्द गुप्त, बाबू श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु, ला० भगवानदीन आदि से होनेवाले साहित्यिक वाद-विवादों से लगता है। अपने मित्रों के प्रति भी उनका व्यवहार निष्कपट रहा है। मन में जो रहता था, वही वे मुख से भी कहते थे। कृत्रिमता से उन्हें घृणा थी। इससे लोग प्रायः असंतुष्ट हो जाते थे, उनको घमंडी कहा करते थे। द्विवेदी जी ने ऐसे व्यक्तियों की कभी परवा ही नहीं की। जिस बात को वे जैसा समझते थे, फ़ौरन कह डालते थे। मई १६०४ की 'सरस्वती' में उन्होंने राजा रामपालसिंह का जीवनचरित प्रकाशित किया था। उसमें उन्होंने धनी-मानी पुरुषों पर आक्षेप करते हुए अपनी स्पष्टवादिता का परिचय दिया था। उसमें द्विवेदी जी ने लिखा था—

"हम देखते हैं कि हिंदी-भाषा-भाषी अनेक बड़े-बड़े राजा और धनी लोग इस देश में हैं, परंतु देशहित और स्वभावोत्कर्ष के निमित्त

वे एक फूटी कौड़ी तक नहीं ख़र्च करते, यों विलासिता अथवा किसी अनुपयोगी चंदे में वे चाहे लाखों रुपये दे डालें।''

—सरस्वती, मई १६०४

एक लेखक ने अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा कि "यदि इस पुस्तक में छापे की भूलें रह गई हों और मात्राओं के टूटने से पढ़ने में असुविधा हो तो इसके लिए पाठकगण हमें क्षमा करें।" इस पर द्विवेदी जी बड़े क्षुब्ध हुए। पुस्तक की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा—

"क्यों? क्षमा करने का कारण? जो पैसे ख़र्च करके किताब ले वह असुविधा क्यों सहे? 'यदि' शब्द के प्रयोग से मालूम होता है कि क्षमाप्रार्थी महाशय ने इस बात के जानने की भी तकलीफ़ नहीं उठाई कि पुस्तक में सचमुच छापे की कोई भूलें हैं भी या नहीं।''

एक बार एक सरकारी अफ़सर ने राजनीतिक परिस्थिति पर उनकी सम्मति जानने के लिए बात छेड़ी। द्विवेदी जी ने पहले तो बात टालनी चाही, फिर स्पष्ट रूप से कह दिया—"आप सरकारी कर्मचारी हैं। इसी से मैं आपसे इस विषय पर बात नहीं करना चाहता था। परन्तु आपका आग्रह है, इसलिए पूछता हूँ कि यदि आपकी जोरू के गहने, कपड़े और खाने का कोई दूसरा प्रबन्ध करे तो आपको अच्छा लगेगा?" "बस-बस, मैं समझ गया।" कहकर उस कर्मचारी ने मुस्करा दिया।

'सरस्वती' (१५–५–६११ और १५–५–६५३,४,५) से एक उदाहरण और देता हूँ। आर्यसमाज की दो संस्थाएँ द्विवेदी जी के विरुद्ध हो गई थीं। उन्हीं की टीका-टिप्पणी यहाँ दी जाती है। इससे द्विवेदी जी की निर्भीकता और स्पष्टवादिता पर

समुचित प्रकाश पड़ता है। द्विवेदी जी ने इस नोट का शीर्षक दिया था—'आर्यसमाज का कोप।' इसे उन्होंने यों शुरू किया था—

"आर्य-ग्रन्थकारों से सविनय निवेदन है कि वे अपनी लिखी पुस्तकों को 'सरस्वती'-संपादक पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के पास समालोचनार्थ कदापि न भेजा करें। पक्षपात के बिना न्यायपूर्वक पुस्तक के गुण-दोष-वर्णन करना प्रत्येक समालोचक का प्रधान कर्तव्य होना चाहिए। परंतु खेद है कि द्विवेदी जी इस बात को कभी-कभी बिलकुल भूल जाते हैं। आर्यसमाज के ऊपर तो उनके क्रोध की मात्रा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है। अभी हाल में आपने एक पुस्तक की समालोचना करते हुए श्रीस्वामी दयानंद सरस्वती के गुरु महर्षि विरजानंद जी प्रज्ञाचक्षु के ऊपर गंदे शब्दों की बौछार करके अपनी महावीरता का प्रचंड परिचय दे डाला है। ऐसी दशा में हमारी सम्मति है कि कोई आर्य-ग्रंथकार अपनी पुस्तकों को वहाँ न भेजें।"

आर्य-प्रतिनिधि-सभा,
संयुक्तप्रांत, बुलंदशहर
ता० ६—१०—१४

—विनीत
मदनमोहन सेठ, एम० ए०,
एल-एल० बी०, मंत्री सभा

इस विज्ञप्ति को प्रकाशित करके उन्होंने दो नोट दिये। वे इस प्रकार हैं—

(१) मंत्री महाशय ने सरस्वती पर यह अपराध लगाया है कि उसमें पुस्तकों की समालोचना पक्षपात-रहित नहीं होती। मंत्री जी हमें क्षमा करें, उनका यह आरोप सर्वथा निर्मूल अतएव मिथ्या है।

(२) जो बात आज तक किसी को न सूझी थी, वह आर्य-प्रतिनिधि-सभा के मंत्री को सूझी है। हिंदू-धर्म पर आघात पर

आघात हुए; पर वह अब तक जीता है। बौद्धों ने उसके उच्छेद का बहुत उद्योग किया, पर स्वयं उसी का उच्छेद इस देश से हो गया। जैनों ने उस पर न मालूम कितने आक्रमण किये; परंतु उसने उन्हें भी सह लिया, वह मरा नहीं। जैनों के द्वारा कठोर से कठोर समालोचनायें इसी भारतवर्ष में हुईं और अब तक होती चली आती हैं। यही क्यों, हिंदू-धर्मधारी भी कितने ही दार्शनिकों तथा पंडितों ने एक दूसरों के मतों और धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचारों पर बड़े-बड़े खंडन-मंडनात्मक लेख लिख डाले। तिस पर भी इनमें से किसी का लोप नहीं हुआ। परंतु मालूम होता है, आर्यसमाज के अनुयायियों का मत या धर्म बहुत ही कमज़ोर है—वह कच्चे धागे के सदृश है। इसी से समालोचनारूपी ज़रा से धक्के से भी उसके टूट जाने का डर है। अथवा जान पड़ता है, वह छुई-मुई का नाज़ुक पौधा है, जो समालोचना की फूँक से भी कुम्हला जा सकता है। जिस धर्म में सहनशीलता नहीं, जिसमें दूसरों के किये हुए आघात-प्रतिघात और आक्षेप-प्रत्याक्षेप सहन करने और सुनने की शक्ति नहीं, वह कब तक अपनी ख़ैर मना सकता है? जिसके सर्वमान्य और परमपूज्य ग्रंथों में दूसरे धर्मों और धर्मानुयायियों की बड़ी से बड़ी निंदा की गई हो और उनके विषय में घृणित से भी घृणित कुवाच्य कहे गये हों वही यदि दूसरों की कठोर आलोचना सुनकर भयभीत हो उठे और उसका द्वार बन्द करने के उपाय निकालने दौड़े, पर अपने उन दूषित ग्रंथों का सशोधन न करे तो समझ लेना चाहिए कि उसमें कितना आत्मिक बल है और उसकी चेष्टा कहाँ तक सफल हो सकती है। हमें स्वप्न में भी ख़याल न था कि आर्यसमाज में आत्मिक बल, साहस और सजीवता की इतनी कमी है।

इस कठोर आलोचना का जो परिणाम होना चाहिए था वही हुआ कि जलती आग में घी पड़ गया। बनावटी या सच्चा

नाम देकर बी० सिंह नाम के एक महाशय ने आगरे से एक पोस्टकार्ड उर्दू में उनके पास भेजा। उसमें अनेक दुर्वचनों और अभिशापों के अनन्तर इस बात पर दुःख प्रकट किया गया था कि राज्य अँगरेजी है, अन्यथा तुम्हारा (द्विवेदी जी का) सिर धड़ से अलग कर दिया जाता। एक दूसरे ने उन्हें लिखा कि—
"आपकी सेवा में आर्य-विद्यार्थी-सभा, अजमेर, के निम्नलिखित प्रस्ताव की प्रतिलिपि सूचनार्थ भेजी जाती है—

प्रस्ताव

यह सभा एक स्वर से (Unanimously) महावीरप्रसाद जी द्विवेदी पर निंदा का प्रस्ताव करती है, क्योंकि उन्होंने 'सरस्वती' में महर्षि विरजानंद जी के लिए अपमानसूचक शब्दों का प्रयोग किया है, और संपादक जी को यह नेक सलाह देती है कि वे शीघ्र ही 'सरस्वती' के आगामी अंक में अपने किये पर पश्चात्ताप प्रकट करें।

भवदीय

—चाँदकरण शारदा बी० ए०, एल्-एल्० बी०
प्रधान आर्य-विद्यार्थी सभा, अजमेर"

द्विवेदी जी ने बी० सिंह महाशय के लिए लिखा—

"भाई सिंह दुःख मत करो। आर्यसमाज की धर्मोन्नति होती हो तो—

"कर कुठार आगे यह शीशा"

जिन लोगों का यह हाल है उनके विषय में परमेश्वर से हमारी प्रार्थना है—

येषां चेतसि मोह-मत्सर-मद-भ्रान्तिः समुज्जृम्भते
तेऽप्येते दयया दयाधन विभो संतारणीयास्त्वया ॥

आघात हुए; पर वह अब तक जीता है। बौद्धों ने उसके उच्छेद का बहुत उद्योग किया, पर स्वयं उसी का उच्छेद इस देश से हो गया। जैनों ने उस पर न मालूम कितने आक्रमण किये; परंतु उसने उन्हें भी सह लिया, वह मरा नहीं। जैनों के द्वारा कठोर से कठोर समालोचनायें इसी भारतवर्ष में हुईं और अब तक होती चली आती हैं। यही क्यों, हिंदू-धर्मधारी भी कितने ही दार्शनिकों तथा पंडितों ने एक दूसरों के मतों और धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचारों पर बड़े-बड़े खंडन-मंडनात्मक लेख लिख डाले। तिस पर भी इनमें से किसी का लोप नहीं हुआ। परंतु मालूम होता है, आर्यसमाज के अनुयायियों का मत या धर्म बहुत ही कमज़ोर है—वह कच्चे धागे के सदृश है। इसी से समालोचनारूपी ज़रा से धक्के से भी उसके टूट जाने का डर है। अथवा जान पड़ता है, वह छुई-मुई का नाज़ुक पौधा है, जो समालोचना की फूँक से भी कुम्हला जा सकता है। जिस धर्म में सहनशीलता नहीं, जिसमें दूसरों के किये हुए आघात-प्रतिघात और आक्षेप-प्रत्याक्षेप सहन करने और सुनने की शक्ति नहीं, वह कब तक अपनी ख़ैर मना सकता है? जिसके सर्वमान्य और परमपूज्य ग्रंथों में दूसरे धर्मों और धर्मानुयायियों की बड़ी से बड़ी निंदा की गई हो और उनके विषय में घृणित से भी घृणित कुवाच्य कहे गये हों वही यदि दूसरों की कठोर आलोचना सुनकर भयभीत हो उठे और उसका द्वार बन्द करने के उपाय निकालने दौड़े, पर अपने उन दूषित ग्रंथों का संशोधन न करे तो समझ लेना चाहिए कि उसमें कितना आत्मिक बल है और उसकी चेष्टा कहाँ तक सफल हो सकती है। हमें स्वप्न में भी ख़याल न था कि आर्यसमाज में आत्मिक बल, साहस और सजीवता की इतनी कमी है।

इस कठोर आलोचना का जो परिणाम होना चाहिए था वही हुआ कि जलती आग में घी पड़ गया। बनावटी या सच्चा

नाम देकर बी० सिंह नाम के एक महाशय ने आगरे से एक पोस्टकार्ड उर्दू में उनके पास भेजा। उसमें अनेक दुर्वचनों और अभिशापों के अनन्तर इस बात पर दुःख प्रकट किया गया था कि राज्य अँगरेज़ी है, अन्यथा तुम्हारा (द्विवेदी जी का) सिर धड़ से अलग कर दिया जाता। एक दूसरे ने उन्हें लिखा कि—

"आपकी सेवा में आर्य-विद्यार्थी-सभा, अजमेर, के निम्नलिखित प्रस्ताव की प्रतिलिपि सूचनार्थ भेजी जाती है—

प्रस्ताव

यह सभा एक स्वर से (Unanimously) महावीरप्रसाद जी द्विवेदी पर निंदा का प्रस्ताव करती है, क्योंकि उन्होंने 'सरस्वती' में महर्षि विरजानंद जी के लिए अपमानसूचक शब्दों का प्रयोग किया है, और संपादक जी को यह नेक सलाह देती है कि वे शीघ्र ही 'सरस्वती' के आगामी अंक में अपने किये पर पश्चात्ताप प्रकट करें।

भवदीय

—चाँदकरण शारदा बी० ए०, एल्-एल्० बी०
प्रधान आर्य-विद्यार्थी सभा, अजमेर"

द्विवेदी जी ने बी० सिंह महाशय के लिए लिखा—

"भाई सिंह दुःख मत करो। आर्यसमाज की धर्मोन्नति होती हो तो—

"कर कुठार आगे यह शीशा"

जिन लोगों का यह हाल है उनके विषय में परमेश्वर से हमारी प्रार्थना है—

येषां चेतसि मोह-मत्सर-मद-भ्रान्तिः समुज्जृम्भते
तेऽप्येते दयया दयाधन विभो संतारणीयास्त्वया॥

दूसरे पत्र के उत्तर में उन्होंने लिखा—

"सो आर्यसमाज के विद्यार्थियों तक के हौसले का यह हाल है। ये तो किसी दिन मूर्तिपूजकों के परमेश्वर पर भी निन्दा का प्रस्ताव कर देंगे !!! जिसके विषय में प्रसाद प्रदान करने की शक्ति नहीं, उस पर अप्रसन्नता प्रकट करने से क्या लाभ—यह इस सभा के बी० ए०, एल्-एल्० बी० मंत्री ने भी नहीं सोचा। हमारे विषय में तो इन वीर विद्यार्थियों का प्रसाद और रोष, दोनों निष्फल हैं—

प्रसादो निष्फलो यस्य यस्य क्रोधो निरर्थकः।
किं करिष्यति स क्रुद्धः प्रीतो वा किं प्रदास्यति ?

जिस समाज के विद्यार्थी बच्चों तक को अपने दोषों पर धूल डालकर दूसरों को धमकाने और बिना पूछे ही 'एक सलाह' देने का अधिकार है उसके बड़ों और विद्वानों के पराक्रम की सीमा कौन निर्दिष्ट कर सकता है ?"

सहृदयता और सहानुभूति

बहुत-से हिंदी-साहित्य-सेवियों की धारणा है कि द्विवेदी जी का स्वभाव इसपात की तरह कड़ा है। सदा कड़ी आलोचना करते रहने के कारण उनकी कोमल भावनायें कुंठित-सी हो गई हैं। उनकी तीव्र बुद्धि शीघ्र ही कमज़ोरियों को पकड़ लेती है और उनका ऐसा पलस्तर बनाती है कि लोगों की ख़ूबियाँ उनकी क़लम से दिखाई ही नहीं पड़तीं। ये बातें वर्षों पहले साहित्य-सेवियों के मुँह से सुनाई पड़ती थीं। पर ये सब ठीक नहीं। वास्तविक बात यह है कि हिंदी-साहित्य में द्विवेदी जी धवल चोटी के समान स्वच्छ, पवित्र और महान् रहे हैं। इतने महान् होते हुए भी उनका दिमाग़ आसमान में नहीं, बरन साधारण जनता में रहा है।

आचार्य द्विवेदी जी का स्वभाव इतना सरल और सरस था कि उनके लिए यह कहा जा सकता है कि वे करुणा के साक्षात् अवतार थे—करुणा के परमाणुओं से बने थे। उनके सामने—

"मो सम कौन कुटिल खल कामी ?"

पढ़ने पर उनकी आँखों से टपाटप आँसुओं की झड़ी लग जाती थी। यदि आपने कहीं ऐसे दो-एक पद पढ़ दिये, तो बस वे मूच्छित होकर गिर जाते थे। यह स्वभाव उनका बुढ़ापे के कारण नहीं, भरी जवानी में भी उनकी यही दशा थी। चरखारी के राजा जुझारसिंह जी द्विवेदी जी के बड़े भक्त थे और शायद संगीत-प्रेमी भी। एक बार राजा साहब के यहाँ संगीत-मंडली थी। द्विवेदी जी उसमें नहीं पधारे; क्योंकि वहाँ पर सदासुहागिन भी विराजमान थी। आग्रह करने पर गये तब "मो सम कौन कुटिल खल कामी" गवाया। सुनकर स्वयं मूच्छित होकर गिर पड़े। 'बिछुड़ गई जोड़ी, जोड़ी मोरे रामा" जैसे स्त्रियों के गीत सुनकर भी द्विवेदी जी को मूर्च्छा आ जाती थी। तुलसी और अन्य कवियों के करुण-रस के पदों को पढ़ते ही द्विवेदी जी को रोमांच हो जाता था और आँखों से जलधारा बहने लगती थी। शायद भावावेश में गलकर उनका हृदय आँसुओं के रूप में निकल सकता था *। निम्नलिखित पंक्तियाँ उन्हें बहुत प्रिय थीं। प्रायः वे इन्हें गाया करते थे—

भागीरथी हम दोष भरे को
भरोस यही कि परोस तिहारे।

द्विवेदी जी के चित्र को देखिए। उसमें आपका ध्यान उनके उन्नत ललाट और घनी भौंहों की ओर विशेष रूप से जायगा।

* सुधा (९—१—२ पृष्ठ २२४)

यदि उन्नत ललाट उनकी मनस्विता का सूचक है, तो भृकुटी-विशेष उनके संकल्प की दृढ़ता और उद्देश्य में 'तल्लीनता' का द्योतक है। उनमें वात्सल्य-भाव भरा था! मित्र या भक्त के लिए यदि द्विवेदी जी के हाड़-चाम की भी ज़रूरत पड़ती, तो हँसते हुए वह दधीचि की तरह उन्हें देने में तनिक भी संकोच न करते। 'संकोच' शब्द का इस संबंध में प्रयोग करना द्विवेदी जी के साथ अन्याय करना है। नहीं, संकोच तो ऐसे मामलों में उनके पास भी फटकने की धृष्टता न करेगा। ऐसे अवसरों पर द्विवेदी जी अपने मित्र या भक्त को मुसीबत से बचाने के लिए अपने सर्वस्व को न्योछावर करने में मित्र के ऊपर एहसान करने का अनुभव नहीं करते थे। मित्र का एहसान उल्टा उनके ऊपर होता था कि उसकी बदौलत द्विवेदी जी को आत्मसमर्पण का अवसर मिला। एक बार नहीं, अनेक बार मित्र या भक्त में द्विवेदी जी की तल्लीनता कार्य-रूप में देखी गई है।

वास्तव में द्विवेदी जी बड़े ही भावुक थे। अवसर विशेष पर जब उन्हें अपने मृत संबंधियों का स्मरण हो आता था और साधारण गृहस्थों की भाँति उनकी आँखें सजल हो जाती थीं तब यह ज्ञात होता था कि "वह विशाल हृदय जो हँसते हुए साहित्यिक संसार की चोटें सह चुका है, इतना भावुक भी है कि भक्ति और प्रेम के आवेश में सहसा द्रवित हो जाता है।"

ये थे उग्र स्वभाव और गर्विष्ठ समझे जानेवाले 'सरस्वती' के संपादक, साक्षात्कार के पश्चात् ही इस नम्र, प्रेमी, साधु और उदारहृदय के दर्शन होते थे, मिलनेवाले का भ्रम दूर हो जाता था और उसे ज्ञात हो जाता था कि उनके रोबदार

* भारत (२८ अक्टूबर, १९२८)

चेहरे और लम्बे डील-डौल के अंदर एक सहानुभूति-पूर्ण, करुणार्द्र और कोमल हृदय छिपा हुआ है। वास्तव में वे सच्चे प्रेम और भाव के भूखे थे। उनके समान पर-दुःख-कातर बहुत कम होते हैं। किसी भी व्यक्ति को कष्ट में देखकर उनका हृदय पिघलने लगता और वे उसके दुःख को दूर करके ही चैन लेते थे; किसी के चोट लग गई है, बिच्छू ने काट खाया है, तो द्विवेदी जी उधर ही दौड़ जाते थे और अपने हाथ से दवा लगाते। ब्राह्मण होकर भी वे यह नहीं देखते कि रोगी या आहत व्यक्ति पासी, कोरी अथवा चमार है। विपत्ति-पीड़ित ब्राह्मण और पासी, में उनकी दृष्टि में कोई भेद नहीं था। एक बार एक अहीर किसान बैल-गाड़ी में किसी दूसरे गाँव को जा रहा था उसकी तबीअत ख़राब थी। द्विवेदी जी ने उससे कहा——द्याखौ, उहाँ कुछ अंट-संट न खाय लीन्ह्यों, नाहीं तौ बहुत दिक होइ जइहौ। इस तरह उसे बड़ी देर तक समझाते रहे। हमारे यहाँ के पढ़े-लिखे कह उठते——मरने दो साले को। इन लोगों से सिर मारने को हमारे पास समय कहाँ!

द्विवेदी जी अपने आश्रित जनों के साथ भी बड़े प्रेम का बर्ताव करते थे। नौकरों का वे आदर करते थे, उनकी दुःख-वार्ता से कोरी समवेदना प्रकट करके ही नहीं रह जाते, वरन उनकी सहायता और रक्षा भी वे करते थे। उन्हें वे प्रायः मासिक वेतन देते थे। कभी-कभी प्रसन्न होकर इनाम भी देते थे। एक बार एक नौकर को चाँदी के कड़े बनवा दिये थे। दूसरों को आश्रित व्यक्तियों और नौकरों के साथ कठोरता का व्यवहार करते देखकर उन्हें बड़ा दुःख होता। वे स्वयं अपने नौकरों से कभी कठोर वचन नहीं कहते थे। उनके घर की दास-दासियों की वेश-भूषा देखकर बाहर के आदमियों को यह जानना कठिन

हो जाता था कि वे द्विवेदी जी के नौकर-चाकर हैं या कुटुम्बी। अपने अधीनों और आश्रितों के प्रति द्विवेदी जी का व्यवहार कितना आत्मीयतापूर्ण होता था, इसका पता श्रीयुत हरिभाऊ उपाध्याय के एक लेख से मिलता है। उपाध्याय जी सरस्वती के सहायक-संपादक की हैसियत से काम करते थे।

"एक बार मैं उनके गाँव दौलतपुर गया। अपने मकान के पड़ोस में ही कच्ची ईंट की दीवारों पर एक फूस की झोंपड़ी उन्होंने मेरे लिए बनवाई विनोद में वे उसे 'हरि बाबू का बँगला' कहते थे। उसी में मैं रहता था और उसी में अपना खाना भी बना लेता था। भोजपुर नामक एक गाँव की हाट से खाने-पीने की सब चीज़ें आया करती थीं। शायद आठवें दिन हाट लगती थी। एक बार मैं नियत समय पर चीज़ों की फ़ेहरिस्त देना भूल गया जिससे बिना दाल और सब्ज़ी के सिर्फ़ रोटी ही खाने की नौबत आ गई। मैं स्वभाव से संकोच-शील और कष्ट या असुविधा सहन करने में आनंद माननेवाला जीव ठहरा। इत्तिफ़ाक़ से द्विवेदी जी उसी समय आ पहुँचे। कोरी रोटी खाते हुए मुझे देखकर त्योरी चढ़ाकर बोले—'हैं, यह क्या? सब्ज़ी भी नहीं? दाल भी नहीं? क्या रोज़ ऐसा ही खाते हो?' मैंने शर्म से नीचा मुँह करके जवाब दिया—'पंडित जी, भूल से अब की हाट से सामान मँगाना भूल गया।'

"तो क्या हुआ? क्या यहाँ घर नहीं है? घर से क्यों नहीं मँगवा लिया?" और तुरंत आवाज़ दी—'बिटिया?' कमला दौड़ी आई तो उसको हुक्म दिया—"देखो, कल से रोज़ जब उपाध्याय जी खाने बैठें तब आकर देख जाया करो। अगर दाल बनायें तो साग अपने चौके से दे जाया करो और साग बनायें तो दाल दे जाया करो।"

"मैंने अपनी उस ग़लती का उनके हाथों ऐसा मधुर फल पाया।"

"दौलतपुर की ही बात है। एक बार मैंने चूल्हा जलाकर दाल के लिए अदहन रक्खा था कि पंडित जी ने आवाज़ लगाई। उन दिनों वे 'किरातार्जुनीय' का हिंदीरूपान्तर मुझे लिखाते थे। मैंने उसी क्षण बटुआ चूल्हे से उतारकर चूल्हा बुझा दिया और लिखने आ बैठा। दो घंटे तक लिखाते रहे। बाद को मैं रसोंई बनाने बैठा। जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं चूल्हा बुझाकर आया था तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उसके बाद आवाज़ देने से पहले वे पूछ लिया करते थे कि 'क्या कर रहे हो'?"

अध्ययन

द्विवेदी जी का ज्ञान बहुत विस्तृत और अध्ययन बहुत अधिक था। उनमें आरम्भ से ही जिज्ञासावृत्ति प्रधान रही और नये-नये विषयों का उन्होंने काफ़ी पठन-पाठन किया। यही कारण था कि 'सरस्वती' के प्रत्येक अङ्क में वे १०-१२ विषयों पर संपादकीय नोट लिख डालते थे। विभिन्न विषयों पर उन्होंने विस्तृत लेख भी लिखे, जिनको पढ़कर आश्चर्य होता है कि संपादकीय कार्य करते हुए भी उन्हें इन सबका अध्ययन करके लेख लिखने का समय ही कैसे मिल जाता था। यहाँ तक कि 'सरस्वती' (भाग ४ सं० ११) में उन्होंने "रजोदर्शन"-शीर्षक लेख कामिनीकौतूहल के अन्तर्गत लिखा है। इसके बहुत पहले सन् १८९८ में काला-काँकर के किन्हीं रमेशसिंह नाम के व्यक्ति ने उनसे अलंकार के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ के विषय में पूछा था और यह भी लिखा था कि यदि मैं अलंकार और उसके अन्यान्य अंगों पर लिखा हुआ अपना निबन्ध भेजूँ तो क्या आप उस पर अपनी सम्मति देने की कृपा करेंगे।

बात यह है कि नई-नई बातों को जानने की इच्छा साधारण

विद्यार्थियों में नहीं होती। प्रायः वे लोग शुष्क रहकर किताबी कीड़ा बनने में ही अपना गौरव समझते हैं। दूसरों से मिलना-जुलना भी उन्हें अच्छा नहीं लगता। वे सोचते हैं कि ऐसा करने से व्यर्थ समय नष्ट होगा। द्विवेदी जी में यह बात नहीं हो सकी थी, इससे शुरू से ही नई-नई बातें जानने की अभिलाषा उनके मन में पैदा हो गई थी। कई भाषायें तो वे पढ़ते ही थे, पर संस्कृत में उनकी विशेष रुचि थी। जब वे रेलवे में नौकर थे, तब भी संस्कृत पढ़ाने के लिए एक पंडित आया करता था। पंडित जी को 'ट्यूशन-फ़ी' भी दी जाती थी। जब द्विवेदी जी ने नौकरी छोड़ दी और बेकार होकर घर पर ही रहने लगे तब भी उन्होंने संस्कृत पढ़ानेवाले पंडित को जवाब नहीं दिया और अन्यान्य आवश्यक ख़र्चों को कम करके 'ट्यूशन-फ़ी' का प्रबन्ध करते रहे। इसी जिज्ञासावृत्ति और अध्ययनविशेष का यह परिणाम हुआ कि जनवरी-फ़रवरी १६११ की 'सरस्वती' में हिन्दी-नवरत्न की समालोचना करते हुए उसके चित्रों की भी वे विवेचना कर सके हैं।

संग्रह

एक बार मैं श्री दुलारेलालजी भार्गव के यहाँ गया था। उन्होंने द्विवेदी जी के कुछ पत्र देने का वादा किया था। वहीं श्रीयुत ज्योतिःप्रसाद मिश्र निर्मल जी से भेंट हो गई। मेरे वहाँ जाने का कारण जानकर वे बोले—तो आप द्विवेदी जी के लिए परेशान हैं। अरे साहब, वे साहित्यिक तो क्या केवल एक क्लर्क थे—But a good and prominent clerk indeed. सचमुच सुव्य-वस्था उन्हें बहुत पसन्द थी। पुस्तकें तो वे सँभाल कर रखते ही थे; चिट्ठियाँ, लिफ़ाफ़े, रजिस्ट्री और तार की रसीदें तक रखते थे। अख़बार के रैपर पर तो प्रायः लिखते भी रहते थे। घर का

हिसाब लिखने और पुड़ियाँ वनाने के काम में भी उन्हें लाते थे। शायद महात्मा गांधी के वाद दूसरा नंवर इस विषय में उन्हीं का था। उनकी सुव्यवस्था-प्रियता का इससे बढ़कर नमूना और क्या हो सकता है कि जब वे 'सरस्वती' के संपादन-कार्य से अलग हुए थे तब उन्होंने पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी जी को कई लेख ऐसे भी दिये थे जो लगभग २० वर्ष पहले बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने चार्ज देते समय उन्हें दिये थे। वर्षों के पुराने कपड़े उनके पास रक्खे थे और वे प्रायः उन्हें पहनते भी रहे हैं। पैसे-पैसे का हिसाब भी वे रखते रहे हैं। महीने का बजट वे पहले ही वना लेते थे, उनके पास २०-२५ वर्ष पूर्व के भी माहवारी बजट मिल सकते थे।

सफलता का रहस्य

द्विवेदी जी ऐसे देशभक्त या सुधारक नहीं थे, जो केवल सुधार-सुधार चिल्लाया करते हैं। जिस भारतीय सभ्यता, धर्म आदि की वे वकालत करते हैं उसको उन्होंने स्वयं भी अपनाया था। जिस अपनाने की ओर वे संकेत करते हैं उसके कारण भी बताते चलते हैं। कभी कहते हैं—

"कुछ तो कर्मयोग के और कुछ तुम्हारी ही अकर्मण्यता के कारण तुम्हारा वह प्राचीन वैभव इस समय कथावशेष रह गया है। लौकिक ज्ञान और विज्ञान में तुम्हें विदेशी योरप और अमेरिका ने परास्त कर दिया, बल-विक्रम में तुम्हें विदेशी जातियों ने मुँह दिखाने लायक़ न रक्खा। तुम्हारे हीरों का ह्रास हो गया।"

और कभी सुधारकों और कर्मवीरों को सावधान करते हुए उन्हें कर्तव्य सुझाते हैं—

"चेतो, जागो, कर्म और चेष्टा करना सीखो। पुरानी बातों का स्मरण कर लो, पर उनकी दुहाई देकर डींग मत मारो। उद्योग, अध्यवसाय और परिश्रम के द्वारा अपनी दशा सुधारने का प्रयत्न करो। और चुपचाप मत बैठो।"

—सरस्वती (भा० १६ सं० पृष्ठ ६४१)

एक बार उन्होंने "विराट् बनो"-शीर्षक लेख द्वारा नव-युवकों को उनका कर्तव्य सुझाया था। उस लेख का आरंभ इस प्रकार किया गया है—

"पश्चिमीय देशों के निवासियों के संपर्क से हम लोगों ने उनके गुण तो कम ग्रहण किये हैं, दोष अधिक। हमारे पूर्वजों की सभ्यता का चरम उद्देश्य था—आत्मचिंतन और आत्म-लाभ। वे आशुतोष थे। उनकी आवश्यकताएँ बहुत कम थीं। वे मोटा खाते और मोटा पहनते थे; पर विचार उनके बड़े उच्च थे। उनके उन्हीं विचारों की बदौलत हम उनके प्रणीत संख्यातीत ग्रंथों से लाभ उठा रहे हैं। महाभारत, रामायण, षड्दर्शन, उपनिषद् आदि ग्रंथ कोट-बूटधारियों की उपज नहीं, अरण्यवासियों, कौपीन-धारियों और कणभुक् विद्वानों की ही उपज है।"

—हिन्दी-नवजीवन

अपने इन्हीं विचारों को वे स्वयं अपना आदर्श समझते थे और जीवन भर इन्हीं पर अमल करने का प्रयत्न करते रहे हैं। उनकी सफलता की कुञ्जी घोर परिश्रम, दृढ़ संकल्प, ईमानदारी, कर्तव्यपरायणता और उनका मनुष्यत्व है। उन्होंने कोई काम बेदिली या आधे मन से कभी किया ही नहीं। उनकी काया चाहे कभी स्वस्थ न रहे, पर मन सदैव ही स्वस्थ रहा। अपने दीर्घ साहित्यिक जीवन-काल में उन्हें अनेकानेक मतभेदों और

विरोधों का सामना करना पड़ा; पर उन्होंने वीरता के साथ अपने प्रतिद्वंद्वियों का सामना किया और असीम योग्यता, अटूट धैर्य, अप्रतिम दक्षता दिखाई। कालांतर में लोगों ने उन्हें समझा और उनकी महत्ता को स्वीकार किया। इस विजय का श्रेय उनकी निर्भीक सत्य-प्रीति, तेजस्विता, बहुदर्शिता और मर्म-ज्ञता, नियम-निष्ठा, श्रमशीलता, साधन-बहुलता और कार्य-दक्षता को ही दिया जा सकता है। उनका जीवन साहित्य-सेवियों की कृत-कृत्यता का एक महान् उज्ज्वल दृष्टांत है। यह नितांत सत्य है कि कोई भी व्यक्ति उनकी विशेषताओं को अंगीकृत करके गौरवशाली हो सकता है। संक्षेप में द्विवेदी जी की बालोचित विनम्रता, उनकी सादगी, उनका समय का सदुप-योग, उनकी शिष्टता और सज्जनता आदि गुणों ने हिंदी-भाषा का इतिहास जाननेवाले लोगों के वीरोपासक हृदयों में उनके प्रति वह भाव पैदा कर दिया है, जो अमिट है।

——

भारतीयता का भाव

"भारत, क्या तुम्हें कभी अपने पुराने दिनों की बात याद आती है? क्या तुम्हें कभी इस बात का स्मरण स्वप्न में भी होता है कि किसी समय तुम ज्ञान, विज्ञान, सम्मान, आदि सभी विषयों में लोकमान्य थे? धन, जन और प्रभुता में भी तुम अपना सानी न रखते थे। सुवर्ण और रजत ही की नहीं, हीरों तक की एक नहीं अनेक खानें तुम्हारी ही रत्नगर्भा भूमि के भीतर भरी हुई पड़ी थीं। जिन कितनी ही हीरक-मणियों को पाकर इस समय योरप के कुछ देश अपने को परम सौभाग्यशाली समझ रहे हैं वे सब तुम्हारी ही दी हुई हैं।"

—सरस्वती (दिसंबर, १६२८)

× × ×

विश्वविख्यात अँगरेजी कवि शेक्सपियर के संबंध में कुछ पाश्चात्य विद्वानों का कथन है कि अपने जीवनकाल की सामाजिक, धार्मिक या राजनीतिक घटनाओं के विषय में उसने कभी एक पंक्ति भी नहीं लिखी, यद्यपि उसके समय में समाज, धर्म और राजनीति सभी में बहुत कुछ परिवर्तन हुए। इसी प्रकार हिंदी के कुछ आधुनिक रहस्यवादियों, हृदयवादियों या शृंगाररस की कविता करनेवालों के विषय में भी कहा जाता है कि 'नारकी करैं कविता नर की' के सामाजिक प्राणी के लिए अग्राह्य आदर्श का अनुसरण-सा करते हुए देश-काल की परिस्थिति और उसमें होनेवाले परिवर्तन की ओर से वे आँखें

मूँदे रहते हैं। शेक्सपियर की बात को तो जाने दीजिए, पर हिंदी के कवि अपने रंग में मस्त रहकर ही यदि भारतीयता की भावनाओं से शून्य रहें या भारतीय परिस्थिति और भारतीय समस्याओं की ओर से, किसी कारण से भी, उदासीन रहें तो सचमुच बड़े आश्चर्य की बात होगी। कारण, पिछले लगभग ५० वर्ष से देश में ऐसी-ऐसी समस्याओं का जन्म हो रहा है जिनका संबंध भारत की सभी श्रेणियों और वर्गों से है। सामाजिक प्राणी—स्वांतःसुखाय कविता करनेवाले कल्पना-प्रधान अथवा भाव-प्रधान कवियों को भी मैं यही समझता हूँ—साधारणतः इनकी ओर उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता और न ऐसा करना उचित ही है। ऐसे कवियों की भावना, सहृदयता और सहानुभूति की जननी बनकर, मनुष्यमात्र का हृदय जाति-प्रेम और देश-प्रेम से परिपूर्ण कर देती है। कृतज्ञता और समवेदना का भाव भी इस कार्य में सहायक होता है। फलतः कवि-हृदय की भावुक सहृदयता इससे प्रभावित होकर शब्दों के रूप में प्रकट होती है।

ऐसा ही भावुक कवि-हृदय द्विवेदी जी का था। देश-प्रेम से वह सदैव ही परिपूर्ण रहा। यद्यपि उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक मामलों में शायद कभी भाग नहीं लिया, तथापि स्वतंत्रता के लिए होनेवाले आंदोलन से उनकी पूर्ण सहानुभूति रही। स्वदेशी वस्त्रों का प्रयोग स्वदेशी-आंदोलन से भी पहले से वे करते आये थे। गांधी जी के प्रति उनकी श्रद्धा और भक्ति भी आज से लगभग २७ वर्ष पहले से थी। जिन दिनों महात्मा जी दिल्ली में उपवास कर रहे थे और समाचार-पत्रों में उनकी हालत के वृत्तांत छपते थे, द्विवेदी जी उन समाचारों को बड़ी चिंता के साथ पढ़ते थे। एक दिन पढ़ा कि उनकी

हालत नाज़ुक है। उस रात को द्विवेदी जी दूध नहीं पी सके (दूध पर ही उन दिनों वे रहते थे) और बहुत रोये भी। एक बार 'सरस्वती' में (भा० ६ खं० २ सं० ३ पृ० १६८—सितंबर १६१८) द्विवेदी जी ने महात्मा जी के विषय में लिखा था—

"गाँधी जी को तो आधुनिक साँचे में पला हुआ प्राचीन महर्षि समझना चाहिए। उनके लेखों और व्याख्यानों में व्यक्त किये गये उनके विचारों से हम लोगों को यथाशक्ति लाभ उठाना चाहिए।"

वास्तव में महात्मा गांधी की तरह द्विवेदी जी भी भारत की आधुनिक अवनत दशा को देखकर दुखी होते थे। अपने देश को बेड़ियों में जकड़ा हुआ देखकर कौन ऐसा सहृदय भारतवासी होगा जो दिल में रोता न हो? फिर द्विवेदी जी को तो भारतीय होने का—भारत में जन्म लेने और जीवन व्यतीत करने का अभिमान था; सच्चे देशभक्त की तरह यदि वे देश की दीन दशा को देखकर दुखी होते थे तो कौन आश्चर्य की बात है? स्थान-स्थान पर, भावावेश में, उन्होंने अपने हृदयोद्गार प्रकट किये हैं। इसका एक उदाहरण इस लेख के आरंभ में दिया जा चुका है। जिस निबंध से वह चुना गया है उसका शीर्षक है 'भारतवर्ष में हीरे की खानें'। ऐसे अनेक लेख द्विवेदी जी प्रतिवर्ष 'सरस्वती' में अपने संपादनकाल में, प्रकाशित किया करते थे। परंतु ऊपर का उदाहरण 'सरस्वती' से अवकाश ग्रहण करने के सात-आठ वर्ष बाद का है। इससे हमें ज्ञात होता है कि बुढ़ापे में भी द्विवेदी जी को देश का ध्यान नहीं भूला था। यह लेख लिखने के लगभग एक वर्ष पहले 'अफ़ग़ानिस्तान में बौद्धकालीन चिह्न' शीर्षक निबंध में उन्होंने लिखा था—

"हाय, जिस भारत ने अपने धर्म, अपने कला-कौशल और अपनी सभ्यता का पाठ दूसरे-दूसरे देशों और दूसरी-दूसरी विलायतों को पढ़ाया, वही आज असभ्यों में नहीं तो अर्द्ध-सभ्यों में गिना जा रहा है। महाकवि ने ठीक ही कहा है—

हतविधिलसितां ही विचित्रो विपाकः।"

—सरस्वती (दिसंबर १९२७)

भारतीयता का यह पक्षपात द्विवेदी जी की अधिकांश रचनाओं—विशेषकर पुरातत्त्व विषय पर लिखे हुए लेखों—में प्रधान है। उनका विचार जो उनके लेखों से स्पष्ट होता है, वह यह है कि एकता और जातीयता के भाव भारतवासियों में तभी पैदा हो सकते हैं जब हम अपने पूर्व-पुरुषों के बताये हुए मार्ग पर चलें। 'व्रत-कथायें'-शीर्षक निबंध में, जो श्रीशारदा (दिसंबर सन् १९२१ पृ० ५६५) में प्रकाशित हुआ था, द्विवेदी जी ने इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं। उनके कुछ लेख तो प्राचीन साहित्य के प्रमुख ग्रंथों का परिचयमात्र हैं। इसका कारण भी स्पष्ट है। हमें अपने पूर्वजों की उन्नति, सभ्यता, गौरव आदि का गर्व है। यही गर्व द्विवेदी जी को भी था। पर वे यह नहीं चाहते थे कि भारतवासी सिर्फ घमंड में ही चूर रहें—केवल अपने पूर्वजों का गुणगान करते हुए स्वयं अकर्मण्यता का भद्दा नमूना बनते रहें। हमारे पूर्वजों ने बहुत-कुछ किया था; परंतु आज हम क्या हैं—द्विवेदी जी अपने पाठकों को यही सुझाना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने प्रायः तुलनात्मक लेख लिखे हैं, जो परिचायकमात्र होते हुए भी पाठकों के सामने एक आदर्श उपस्थित करते चलते हैं।

भारत की आधुनिक अवनति का प्रधान कारण विदेशियों की शक्ति, एकता या नीति को नहीं समझते, बरन, उनका कथन है कि भारतवासी स्वयं ही अपनी दीन-दशा के कारण हैं। अपने पूर्वजों के आदर्श को ठुकराकर भारतवासी आलसी बने और इसी से उन्हें अपनी स्वतंत्रता, संपत्ति आदि सबसे हाथ धोना पड़ा। यह बात उन्होंने 'पुरातत्त्व-प्रसंग' नाम की पुस्तक की भूमिका में लिखी है। वे लिखते हैं—

भारत जिस गति या दुर्गति को इस समय, नहीं, बहुत पहले से ही प्राप्त हो रहा है, उसका कारण दैव-दुर्विपाक नहीं। कारण तो स्वयमेव भारत ही की अकर्म्मण्यता है। जिस भारत ने समुद्रपार दूरवर्ती देशों और टापुओं तक में अपने उपनिवेश स्थापित किये, जिसने दुर्लंध्य पर्वतों और पार्वत्य उपत्यकाओं का लंघन करके अन्य देशों पर अपनी विजय-वैजयंती फहराई और जिसने कितने ही असभ्य और अर्द्धसभ्य देशों को शिक्षा और सभ्यता सिखाई, वही भारत आज औरों का मुखापेक्षी हो रहा है। जिस भारत के जहाज़ महासागरों को पार करके अपने वाणिज्य की वस्तुओं से दूसरे देशों को पालते थे वही भारत आज सुई और दियासलाई तक के लिए विदेशों का मुहताज हो रहा है। यह सब उसी के कृत कर्मों का परिपाक है। बेचारे दैव का इसमें क्या दोष? महाकवि भारवि ने लिखा है—

"द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः समूलमुन्मूलयतीव मे मनः।
परैरपर्य्यासितवीर्य्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम्॥"

जिसके बल, वीर्य्य, पराक्रम और संपत्ति का नाश दूसरों ने नहीं कर डाला वे यदि दैवयोग से विपत्ति-ग्रस्त हो जायँ तो विशेष परिताप की बात नहीं। ऐसी दशा में तो संतोष मानने के लिए जगह भी

रहती है। तब तो यह भी कहा जा सकता है कि बात उपाय के बाहर थी; क्या करें; लाचार होना पड़ा। परंतु जिनका पराभव उन्हीं की मूर्खता और बेपरवाही के कारण दूसरों के द्वारा हो जाता है उन्हें तो डूब मरना चाहिए। वे तो मुँह दिखाने लायक़ भी नहीं रह जाते। उनकी दुर्गति देखकर तो कलेजा मुँह को आता है।

अकर्मण्यता के जिस पहलू पर द्विवेदी जी ने लिखा है वह नितांत सत्य है, यह हम अपने जीवन में प्रायः देखते हैं। परंतु इसके अतिरिक्त भारत की अवनति का जो कारण वे मुख्य समझते हैं वह है हमारी कूपमंडूकता। पाश्चात्य देशों में आज वे ही अधिक उन्नति कर सके हैं जिनका जीवन संघर्ष और जीवट का रहा है। द्विवेदी जी ने इसका अध्ययन किया और फिर प्राचीन भारतीय उन्नति के कारणों से तुलना करते हुए इस अकर्मण्यता के विषय में लिखा—

"हमारी कूपमंडूकता ने हमारी जो हानि की है उसकी इयत्ता नहीं। उसके कुफल हम पद-पद पर भोग रहे हैं। उसने हमें किसी काम का नहीं रक्खा। परंतु दुर्दैव हमें फिर भी सचेत नहीं होने देता। उसने हमें यहाँ तक अंधा बना दिया है कि हम अपने पूर्व-पुरुषों के चरित और उनके दृष्टांत भी भूल गये हैं। हमारे जिन धर्मधुरीण प्राचीन ऋषियों और मुनियों ने द्वीपांतरों तक में जाकर आर्यों के धर्म, ज्ञान और ऐश्वर्य की पताका फहराई और बड़े-बड़े उपनिवेशों तक की स्थापना कर दी उनकी चरितावली आज भी हमें अपनी पुरानी पोथियों में लिखी मिलती है। परंतु उनकी ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता, उनके कार्यों का अनुसरण करना तो दूर की बात है।"

—सरस्वती (दिसंबर १९२६)

कूपमंडूकता और अकर्मण्यता, यद्यपि ये दोनों ही हमारे लिए हानिकर हैं, तथापि दूसरी के कारण हमारी जितनी हानि हुई है उतनी पहली के कारण नहीं। द्विवेदी जी को विदेश जाने का अवसर तो नहीं मिला, परंतु अकर्मण्यता के वे बड़े ही कट्टर शत्रु थे। अकर्मण्य मनुष्य से उन्हें हार्दिक घृणा थी फिर वह चाहे उनका निकट संबंधी और कितना ही प्रेमपात्र क्यों न हो। इस संबंध में बुकर टी० वाशिंगटन के परिचयात्मक जीवनचरित में लिखते हुए द्विवेदी जी ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये हैं—

"सोचने की बात है कि जिस आदमी का जन्म दासत्व में हुआ, जिसको अपने पिता या पूर्वजों का कुछ भी हाल मालूम नहीं, जिसको अपनी बाल्यावस्था में स्वयं मज़दूरी करके पेट भरना पड़ा, वही इस समय अपने आत्मविश्वास और आत्मबल के आधार पर कितने ऊँचे पद पर पहुँच गया है। बुकर टी० वाशिंगटन का जीवनचरित पढ़कर कहना पड़ता है कि 'नर जो पै करनी करै तो नारायण हो जाय।' प्रतिकूल दशा में भी मनुष्य अपनी जाति, समाज और देश की कैसी और कितनी सेवा कर सकता है, यह बात इस चरित से सीखने योग्य है।"

जिस प्रकार बुरे को सारा संसार बुरा ही सूझता है उसी प्रकार भले की हार्दिक अभिलाषा यही रहती है कि अपने संपर्क में आनेवाला भला ही बन जाय, सुधार करने की यह भावना द्विवेदी जी के चरित्र और स्वभाव की मुख्य विशेषता थी। वे अपने लेखों में इसका बराबर परिचय दिया करते थे। देश के अछूतों के लिए उनका हृदय कितना व्याकुल था इसका परिचय अग्रलिखित उद्धरण से मिलेगा—

"यद्यपि हमारे देश में अमेरिका के समान दासत्व नहीं है, तथापि, वर्तमान समय में, अस्पृश्य जाति के पाँच करोड़ से अधिक मनुष्य सामाजिक दासत्व का कठिन दुख भोग रहे हैं। क्या हमारे यहाँ वाशिंगटन के समान इन लोगों का उद्धार करने के लिए—सिर्फ़ शुद्धि के लिए नहीं—कभी कोई महात्मा उत्पन्न होगा? क्या इस देश की शिक्षा-पद्धति में शारीरिक श्रम की ओर ध्यान देकर कभी सुधार किया जायगा? जिन लोगों ने शिक्षा-द्वारा अपने समाज की सेवा करने का निश्चय किया है क्या वे लोग उन तत्त्वों पर उचित ध्यान देंगे जिनके आधार पर हैम्पटन और टस्केजी की संस्थायें काम कर रही हैं?

इसी प्रकार देश के नवयुवकों के लिए भी उनका संदेश है कि अध्यवसाय से काम लो, अपने पैरों पर खड़े हो और आत्मबल पर विश्वास रक्खो। स्पेंसर ने अपनी पुस्तक 'एजूकेशन' में लिखा है—मनुष्य को प्रत्येक चीज़ परिश्रम करके प्राप्त करनी चाहिए और स्वाभाविक शक्तियों का विकास बिना औरों की मदद के मनुष्यों को यथासंभव ख़ुद ही करना चाहिए। द्विवेदी जी ने स्पेंसर के इन विचारों का समर्थन अपनी अनुवादित पुस्तक 'शिक्षा' की भूमिका (पृ० ४) में किया है। इसी प्रकार उन्होंने बाबू कालिदास जी कपूर को एक पत्र में आज से लगभग २० वर्ष पहले लिखा था—

"ख़ूब परिश्रम कीजिए और संयम को हाथ से मत जाने दीजिए।"

यदि ग़ौर करके देखा जाय तो हमें ज्ञात हो जायगा कि द्विवेदी जी की इतनी उन्नति केवल उनके परिश्रम के कारण ही हो सकी है। अस्तु।

इनके अतिरिक्त, एक तीसरे दोष की ओर भी द्विवेदी जी प्रायः संकेत करते रहे हैं। वह है हमारी कृतघ्नता या अगुण-

ग्राहिता। ऐसे विचार उनके हृदय में उस समय उठते थे जब वे विदेशियों को अपने देशभक्त, समाजसुधारक आदि का मान करते देखते थे। इसका भी एक उदाहरण लीजिए। क्लाइव को अँगरेज़ लोग—इतिहासकारों से मेरा आशय नहीं है—भारत में अँगरेज़ी राज्य की नींव डालनेवाला समझते हैं। उसकी इस सेवा के प्रति अपनी कृतज्ञता दिखाने और उसका सत्कार करने के लिए लंदन में उसकी एक विशाल मूर्त्ति बनाई गई। इस विषय को लेकर द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में 'क्लाइव की मूर्त्ति की स्थापना' शीर्षक नोट देते हुए लिखा था—

"मीरजाफ़र, सिराजुद्दौला या अमीचंद की मूर्ति बनवा कर स्थापित करने का विचार भी शायद हम लोगों में से किसी के जी में न आया होगा। इनकी बात जाने दीजिए। राय दुर्लभ, रामनारायण या महाराज नंदकुमार को भी तो हम लोगों ने भुला दिया है। और भुलाया हमने किसको नहीं? यादगार हमने किसी की बनाई भी है? हम दुर्गुणों पर दुर्लक्ष्य करें तो आक्षेप की बात नहीं। गुणों का अभिनंदन करना भी तो हम नहीं जानते।"

—सरस्वती (१२-१-२८)

इन दोषों की ओर संकेत करते हुए भी द्विवेदी जी सदैव इस प्रयत्न में रहे हैं कि भारतीयता के भाव प्रत्येक भारतवासी के हृदय में जाग्रत हो जायँ। पर कार्य कितना कठिन है, इतिहास का प्रत्येक विद्यार्थी इसे जानता है। द्विवेदी जी ने इस ओर अपनी नीति यही रक्खी है कि भारत का मस्तिष्क ऊँचा करनेवाले कार्यों की और उनके संपादकों की भूरि-भूरि प्रशंसा की जाय। दूसरों के मन में भी उनकी ख्याति और कीर्ति देखकर वही

भारतीयता का भाव पैदा हो जाय, यही उनका आदर्श रहा है। एक बार उन्होंने लिखा था—

"इस देश के निवासियों में श्याम जी कृष्ण वर्मा पहले सज्जन हैं जिन्होंने आक्सफ़ोर्ड-विश्वविद्यालय से एम० ए० की पदवी पाई है। स्पेन्सर की श्मशान-क्रिया के समय वे वहाँ उपस्थित थे, थोड़ा-सा समयोचित भाषण करने के बाद उन्होंने १९ हज़ार रुपया ख़र्च करके स्पेन्सर के नाम से एक छात्रवृत्ति नियत करने का निश्चय किया। इस निश्चय का वे पालन भी कर रहे हैं। इँगलैंड के ब्रह्मर्षि-तुल्य वेदांत-वेत्ता का इस तरह भारतवर्ष के एक विद्वान्-द्वारा आदर देना कुछ कौतूहलजनक अवश्य है। सच है, दर्शनशास्त्र की महिमा यह बुड्ढा भारत अब भी ख़ूब जानता है।"

अंतिम वाक्य का व्यंग्य समझने के लिए उसकी तह में पैठना पड़ेगा। द्विवेदी जी के भारतीयता-विषयक भाव इस एक ही वाक्य में निहित समझे जा सकते हैं। पर भारत की आधुनिक परिस्थिति के संबंध में उनके विचार 'आर्य-भूमि' शीर्षक कविता में है। भारतभूमि के पूर्व-गौरव, धर्म, साहित्य, वेदांत, विज्ञान आदि की उन्नति की ओर संकेत करने के पश्चात् उन्होंने लिखा—

विचार ऐसे जब चित्त आते,
विषाद पैदा करके सताते।
न क्या कभी देव दया करेंगे,
न क्या हमारे दिन भी फिरेंगे?

अंतिम पंक्ति की 'कसक'-भावना ही किसी परतंत्र देश के नवयुवकों और नवयुवतियों के हृदयों में उत्पन्न होकर उस

देश या राष्ट्र को स्वतंत्र करा सकती है। साहित्यिक क्षेत्र में तो द्विवेदी जी के संकेतों के अनुसार कार्य हो रहा है और सफलता भी मिली है, पर राजनैतिक परिस्थिति के उद्धार के लिए शायद अब भी उनकी आत्मा भारतीय नवयुवकों और नवयुवतियों की ओर एक बार देखकर शून्य आकाश की ओर ताकती हुई कहती होगी—

न क्या कभी देव दया करेंगे ?
न क्या हमारे दिन भी फिरेंगे ?

सम्मान

"मनुष्य के गुणों का विकाश प्रायः उसके मरने के अनन्तर होता है। जीवित दशा में ईर्ष्या-द्वेष और मत्सर आदि के कारण मनुष्य औरों के गुण बहुधा नहीं प्रकाशित होने देते। परन्तु मरने के अनन्तर राग-द्वेष अथवा मत्सर करना वे छोड़ देते हैं। इसी लिए मरणोत्तर ही प्रायः मनुष्यों की कीर्त्ति फैलती है। यदि जीते ही कोई यशस्वी हो तो उसे विशेष भाग्यशाली समझना चाहिए। जीवित-दशा में किसी के गुणों पर लुब्ध होकर उसका सम्मान जिस देश में होता है उस देश की गिनती उदार और उन्नत देशों में की जाती है।"

(सरस्वती, जुलाई १६०३)

× × × ×

अँगरेज़ी में एक कहावत है—'ए थिंग इज़ वेल्यूड आफ़टर इट इज़ लास्ट'। इसका भाव यह है कि जब तक कोई वस्तु हमारे पास रहती है, हम प्रायः उसका वास्तविक मूल्य नहीं निर्धारित कर पाते हैं—या इस ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता है। परंतु जब वह वस्तु हमारे हाथ से निकल जाती है तब हम उसके लिए पछताते हैं। जीवन में अनेक बार हमें इस बात का अनुभव करना पड़ता है। संसार के इतिहास में अगणित उदाहरण ऐसे व्यक्तियों के मिलते हैं जिनके साथ उनके जीवित रहते तो पाशविक व्यवहार किया गया है, परंतु मरणोपरांत उनका देवता के समान आदर हुआ। इसी बात को अपनी भाषा में सकारण समझाते हुए द्विवेदी जी ने

उक्त वाक्य आज से लगभग ३५ वर्ष पहले सुप्रसिद्ध वंग-कवि माइकेल मधुसूदनदत्त के जीवन-चरित में लिखे थे। उनका यह निबंध सन् १९०३ के जुलाई और अगस्त मास में प्रकाशित हुआ था। यह हमारे लिए कितने सुख और संतोष का विषय है कि जीवित रहते हुए जिस सम्मान के प्राप्त होने पर वे किसी भी व्यक्ति को भाग्यशाली समझते वह उन्हें अपने जीवनकाल में ही प्राप्त हो गया, यद्यपि वह उनकी साहित्यसेवा को देखते हुए पर्याप्त नहीं समझा जा सकता।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि द्विवेदी जी इस सम्मान के लिए लालायित थे। यह नितांत सत्य है कि जो किसी प्रकार की थोड़ी-सी भी सेवा कर लेता है—चाहे दुनिया उसकी दाद दे या न दे—वह भी सभाओं और संस्थाओं व कालेजों और स्कूलों के कवि-सम्मेलनों आदि के लिए स्वयं दौड़ता है, अपने आदमी छोड़ाता है, रुपये लगाता है और सभापति-निर्वाचिनी सभाओं में अपने मत के पोषक और समर्थक मित्रों और संबंधियों को पहुँचाता है, दूसरों से लेख लिखवाता है, कभी कभी स्वयं ही लिखकर अज्ञात नाम से छपवा देता है। परंतु द्विवेदी जी इस 'नियम' के अपवाद थे। उन्होंने कभी इस विषय का या इससे संबंध रखता हुआ कोई प्रयत्न नहीं किया। यों अपनी कृति की प्रशंसा में सभी को प्रसन्नता होती है, परंतु यह प्रयत्न करना कि दूसरे व्यक्ति सेवाओं की दाद दें, उनका आदर करें, दूसरी बात है। ममत्व की साक्षात् मूर्ति समझे जानेवाले द्विवेदी जी महाराज इस विषय में इतने निर्मोही रहे कि जिन रायबहादुरी आदि के ख़िताबों के लिए बड़े बड़े धनी साहूकार अपनी पैत्रिक संपत्ति नष्ट कर देते हैं, संबंधियों से बिगाड़ कर लेते हैं, अपने धर्म को भी बेंच डालते हैं, उन्हीं की ओर संकेत किये जाने पर द्विवेदी जी ने सदैव हँसकर टाल दिया।

'सार्टिफिकेट आफ़ आनर' के लिए नाम पूछे जाने पर उन्होंने शायद मन ही मन आत्म-गौरव और आत्माभिमान के भावों में भरकर गर्व और गौरव से लिखा था—"बदलू चमार की जूड़ी उतर जाती है तब मैं समझता हूँ कि मुझे 'क़ैसरे हिंद' का तमग़ा मिल गया।" उनके चरित्र की यह विलक्षणता—मोह की यह निर्दयता—हिंदी के अधिकांश सेवी अभी तक नहीं समझ पाये हैं। उनके इस त्याग में क्या हमारे प्राचीन महर्षियों के त्याग के अनुकरण की पूत और महती भावना निहित नहीं समझी जायगी ?

× × × ×

संसार में जीवित और जाग्रत् जातियाँ वास्तव में वे ही हैं जो अपने नेताओं, साहित्यिक महारथियों, शहीदों और समाज-सुधारकों के कार्यों का उचित मूल्य निर्धारित करके उनका यथोचित सम्मान करना जानती हैं। बड़े गर्व और गौरव का विषय है कि हमने भी इस बात को समझा और उस पर कुछ अमल भी किया। आचार्य द्विवेदी की सेवाओं को स्वीकार करने के लिए, उनका सम्मान करने के ही विचार से वे कई बार कवि-सम्मेलनों के सभापति चुने गये। इसकी सूचना प्रायः प्रत्येक बार उन्हें तार से दी गई। हर बार उनसे प्रार्थना की जाती थी कि स्वीकृति तार ही द्वारा भेजिए। इसके उत्तर में द्विवेदी जी सदैव यही लिखते रहे कि अपनी अस्वस्थता के कारण यह भार स्वीकार करने में असमर्थ हूँ। लोगों ने उनकी विवशता के कई अर्थ लगाये। किसी ने कहा—घमंड है। किसी ने व्यंग्य किया—जी हाँ, हमेशा बीमार रहते हैं। एक ने प्रश्न किया—तब 'सरस्वती' का नियमित रूप से संपादन कैसे करते हैं ? इसका रहस्य जो कुछ भी हो, पर द्विवेदी जी

महाराज ने इन शंकाओं का समाधान करने के लिए गोरखपुर के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के लिए 'प्रार्थना' शीर्षक के अंतर्गत अपना जो संदेश १७-१०-२६ को लिखा था उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

"हिंदी-साहित्य की सेवा करनेवालों के लिए सम्मेलन का सभापति होना बड़े ही गौरव की बात है। इस दशा में मुझे यह पद देने का कई बार प्रयत्न किया गया है। परंतु मुझ अभागी ने अपने को उसका पात्र न समझा। कारण और कुछ नहीं केवल यह कि मुझमें इस पद के लिए आवश्यक कार्य करने की शक्ति नहीं, और जो काम मैं अच्छी तरह कर नहीं सकता उसे भी करने के लिए तैयार हो जाना मेरी आत्मा या मेरे सिद्धांत के विरुद्ध है। इस विषय में मुझसे और बाबा राघवदास जी से बहुत-कुछ वार्तालाप हुआ है। आशा है वे मेरे पूर्वोक्त कारण की यथार्थता देने की अवश्य कृपा करेंगे"।

—विशालभारत ३-१-४-४-४१ ८-६

इसके पहले कानपुर के तेरहवें सम्मेलन के अवसर पर उन्होंने अपने व्याख्यान में कहा था—

"हिंदी का यह तेरहवाँ साहित्य-सम्मेलन है। इसके पहले एक को छोड़कर और किसी सम्मेलन में अभाग्यवश मैं नहीं उपस्थित हो सका। अस्वस्थता के सिवा इसका और कोई कारण नहीं। मैं दूर की यात्रा नहीं कर सकता और बाहर बहुत कम रह सकता हूँ। परंतु मेरे सुनने में आया है कि कुछ लोगों ने मेरी अनुपस्थिति का और ही कुछ कारण कल्पित किया है। वे समझते हैं कि मेरी अनुपस्थिति का कारण ईर्ष्या, द्वेष; मेरा मद और मत्सर; मेरा गर्व और पाखंड है। अतएव मैं चाहता था कि सम्मेलन के प्रधान कार्यकर्ता मुझे कोई ऐसा काम देते जिससे मुझ पर गुप्त रीति से किये गये इन निर्मूल दोषारोपणों का आपही आप परिहार हो जाता।"

इन दोनों अवतरणों से यह स्पष्ट होता है कि द्विवेदी जी अपनी विवशता के कारण ही सम्मेलन के सभापति-पद को अस्वीकार करते रहे हैं। हम उनके इन विचारों की विवेचना करके किसी अनुमानित अथवा कल्पित कारण की ओर संकेत करने की अपेक्षा यह अच्छा समझते हैं कि पाठकों के सामने यही दो परिच्छेद रख दिये जायँ।

× × × ×

जनवरी १६३१ में आचार्य द्विवेदी २४ घंटे के लिए काशी पधारे थे। उस समय काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से उन्हें एक अभिनंदन-पत्र दिया गया था। उनके चले जाने के कई दिन बाद श्री शिवपूजनसहाय के कहने पर द्विवेदी जी के सत्तरवें वर्ष में पदार्पण करनेके शुभ अवसर पर सभा ने उनके अभिनंदनार्थ एक ग्रंथ प्रकाशित करने का निश्चय किया। पाश्चात्य देशों में इस प्रकार के आयोजन प्राय: होते रहते हैं। भारत में भी बंगाल, महाराष्ट्र आदि प्रांतों में भी अपने साहित्यिकों तथा अन्य नेताओं के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करने के लिए इस प्रकार की योजनायें आदर की दृष्टि से देखी गई हैं। परंतु हिंदी के लिए यह पहला प्रस्ताव था। सौभाग्य से सभी ने हृदय से इसका स्वागत किया। सभा के कार्य्यकर्ताओं और श्री शिवपूजनसहाय जी के अनवरत परिश्रम के परिणाम-स्वरूप बाबू श्यामसुन्दरदास जी के संपादकत्व में वह ग्रंथ प्रकाशित हुआ। बहुत से हिंदीप्रेमी राजाओं और महानुभावों ने इस शुभ कार्य में सहायता दी। इंडियन प्रेस के संचालक श्री हरिकेशव घोष ने उस ग्रंथ को लागतमात्र पर छापकर अपनी उदारता का परिचय दिया।

उस ग्रंथ में कुल ६३२ पृष्ठ हैं। ११ पृष्ठों में दोनों विद्वान्

संपादकों की लिखी हुई प्रस्तावना है। ५१७ पृष्ठों में इतिहास, दर्शन, धर्म, साहित्य आदि विभिन्न विषयों पर लिखे हुए लगभग ६० लेख और ३५ कवितायें हैं। ५६ पृष्ठों में द्विवेदी जी के चरित और स्वभाव तथा साहित्य-सेवा का परिचय है। शेष भाग में भूमिका, चित्र-परिचय-सहायता देनेवाले महानु-भावों के नाम आदि हैं। सभी लेखक विद्वान् और लब्ध प्रतिष्ठ हैं। महात्मा जी का भी एक छोटा-सा संदेश है। रंगीन और सादे २३ सुंदर चित्र भी हैं।

द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ का प्रणयन करके सभा ने बड़ा महत्त्वपूर्ण तथा हिंदी-संसार के लिए तो अपूर्व कार्य किया है। इसके लिए सभा की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। यों तो हिंदी-सेवा के लिए उसने अनेकानेक गौरवपूर्ण कार्य किये हैं, परंतु द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ का प्रकाशन ऐसा है जिसे देख हमें गर्व होता है। यह ग्रंथ उस महापुरुष के स्मारक का काम करेगा और उसके प्रति इस युग का सम्मान-भाव प्रकट करेगा। यद्यपि साहित्य के स्थायी विचार-भवन में द्विवेदी जी की कीर्ति को जरामरण का भय नहीं है, किंतु लोक में उस कीर्ति का प्रसार भी साहित्य के संस्कार का कारण होगा। हिंदी के इस नवीन संधि-काल में नवयुग के उन्नायकों के लिए, इस संस्कार की आवश्यकता और भी अधिक होगी; अतः इस ग्रंथ की दूनी उपयोगिता सिद्ध होगी।

× × × ×

२ मई सन् १९३३ को सभा ने बड़े समारोह से आचार्य द्विवेदी जी को अभिनंदन-ग्रंथ अर्पित किया। इसके दो दिन बाद प्रयाग के निवासियों ने प्रयाग में द्विवेदी-मेले का

आयोजन किया और बड़ी धूम-धाम से आचार्य का स्वागत किया। इस शुभ कार्य में योग देनेवालों में ठाकुर श्रीनाथसिंह, मुंशी कन्हैयालाल एडवोकेट, वयोवृद्ध पंडित लक्ष्मीधर वाजपेयी, पंडित रघुनंदन शर्मा, बाबू केदारनाथ गुप्त और श्री निरंजनलाल भार्गव मुख्य थे। ठाकुर गोपालशरणसिंह इसके स्वागता-ध्यक्ष थे।

द्विवेदी जी ने हिंदी-साहित्य और मातृ-भाषा की जितनी सेवा की है, उतनी कोई बिरला ही साहित्य-सेवी करता है, इसलिए 'अपने समकालीन साहित्य-सेवियों की ऋण-स्वीकृति के रूप में' जितना सत्कार उपलब्ध हुआ है, वह भी किसी बिरले को ही नसीब होता है। कम से कम हिंद में तो किसी आधुनिक लेखक को नहीं हुआ। फिर भी अभी तीन बातों की कमी है—(१) द्विवेदी जी का विशद जीवन-चरित, (२) उनके पत्रों का संकलन और संदर्भ-साहित्य-प्रकाशन, (३) उनकी समस्त रचनाओं का एक संस्करण। इन अभावों का हिंदी-संसार स्वयं अनुभव कर रहा है। अब इस ओर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

महत्त्व

हमारे समाज में स्वामी दयानंद सरस्वती, राजा राममोहन राय आदि ने सुधार के लिए सतत प्रयत्न करके जिस प्रकार युग-परिवर्तन किया था, उसी प्रकार हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में द्विवेदी जी भी युग-प्रवर्तक के रूप में प्रतिष्ठित हैं—उन्होंने भगीरथपरिश्रम और अनेकानेक विरोधों का सामना करके हिंदी-भाषा, उसकी शैली, उसके आदर्श आदि सभी में आशातीत और अपूर्व परिवर्तन कर दिया। आज इसका हम अनुमान नहीं कर सकते कि कितने विकट साहित्यिक युद्ध उनके प्रादुर्भाव के समय हो रहे थे; इस महारथी ने किस साहस तथा वीरता से उनका सामना किया और हिंदी की स्थिरता, उसके संस्कार, सुधार आदि के लिए कैसे-कैसे स्तुत्य कार्य किये। द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ में एक महाशय ने लिखा है—

"नई दिल्ली की सुंदर विशाल सड़कों पर घूमनेवाला यात्री जिस प्रकार इस बात को नहीं जान सकता—कभी ध्यान में भी नहीं ला सकता—कि कुछ वर्ष पहले उसी भूमि पर घना जंगल, रेगिस्तान और ग्रामीणों के खेत थे, वहाँ दिन के समय भी इक्के-दुक्के मनुष्य का गुज़रना असंभव था, दिन-दहाड़े डाका पड़ना साधारण बात थी, उसी प्रकार हिंदी के जो नये लेखक आज इस विशाल पथ पर निर्भय होकर मोटर, गाड़ी और घोड़े दौड़ाये फिरते हैं वे इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते कि तीन वर्ष पहले साहित्य की इस सुंदर सड़क पर कैसा घनघोर जंगल था। साहित्य की प्रारंभिक

अवस्था में जिस विद्वान् लेखक ने निष्काम भाव से अपने स्वास्थ्य को खोकर इसका मार्ग विशाल बनाया, कंकड़-पत्थर बीने, झाड़-झंखाड़ और काँटों को जलाया, वह हैं पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी।"

इसी से द्विवेदी जी आज आधुनिक हिंदी-गद्य के निर्माता अथवा जनक कहे जाते हैं।

× × ×

माता-पिता अपने बालक को किसी योग्य गुरु के सुपुर्द कर देते हैं। वे जानते हैं कि गुरु जितना ही योग्य होगा, बालक की शिक्षा-दीक्षा उतनी ही संयत और उच्च कोटि की होगी। हिंदी-भाषा-भाषियों को भी बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में एक ऐसे पथ-प्रदर्शक गुरु की आवश्यकता थी, जो मातृभाषा और उसके साहित्य के प्रति उनका कर्त्तव्य उन्हें सुझाकर, ज्ञान की वृद्धि करके, उन्हें उचित मार्ग पर लाकर खड़ा कर दे। यह हमारा सौभाग्य ही था कि आवश्यकता के इस समय में ही प्रकृति माता ने हमारे लिए एक योग्य शिक्षक और पथ-प्रदर्शक पैदा कर दिया। द्विवेदी जी हमारे पथ-प्रदर्शक बने और उन्होंने अपने इस कार्य का—'उत्तरदायित्व' भी कह सकते हैं—संपादन कुशलता-पूर्वक किया। यद्यपि उन्होंने किसी ऐसी संस्था की स्थापना नहीं की जो हिंदी-भाषा या उसके साहित्य के प्रचार के लिए किसी प्रकार का कार्य करती, तथापि 'सरस्वती' की सहायता से, भाषा के शिल्पी, विचारों के प्रचारक तथा साहित्य के शिक्षक, तीन-तीन संस्थाओं के संचालन का उत्तर-दायित्व-पूर्ण कार्य उन्होंने स्वेच्छा से उठाया तथा सम्मान और सफलता के साथ निभाया। यही उनके महत्त्व का प्रधान कारण है।

द्विवेदी जी की रचनाओं के विषय में कई बार कहा जा चुका है कि ये हमारे साहित्य की स्थायी संपत्ति के अंतर्गत नहीं आ सकतीं। इस विचार से हम भी, किसी सीमा तक, सहमत हैं। परंतु क्या इससे द्विवेदी जी का महत्त्व कम हो जाता है? क्या हिंदी-भाषा, उसकी शैली, आदर्श आदि पर उनके व्यक्तित्व का जो प्रभाव पड़ा है वह हिंदी-भाषा के इतिहास के साधारण पाठक भी सरलता से उलट सकते हैं? कदापि नहीं। यह दूसरी बात है कि उनकी अधिकांश रचनायें अध्ययन और मनन की सामग्री नहीं समझी जातीं; परंतु उनमें से कितनी ही हिंदी-भाषा-भाषियों में सत्साहित्य के अनुराग और ज्ञान के प्रति स्पृहा उत्पन्न करने के लिए लिखी गई हैं। साधारण पाठकों में ज्ञान का जितना प्रचार उन्होंने इन रचनाओं के द्वारा किया है उतना शायद किसी ने भी नहीं किया। 'सरस्वती' का संपादन-कार्य ग्रहण करके उन्होंने मानों सर्व-साधारण के लिए ज्ञान का द्वार ही उन्मुक्त कर दिया। इस संबंध में दो बातें कही जा सकती हैं। पहली, साहित्य का उद्देश्य, उनकी दृष्टि में, केवल बहुदर्शिता बढ़ाने, बुद्धि के तीव्र करने अथवा आत्म-गौरव की जागृति और चरित्र-निर्माण करने के अतिरिक्त, प्रायः, कुछ नहीं रहा है। अतः जनता के सामने उन्होंने वैसा ही परिचयात्मक साहित्य—देश-समाज की तत्कालीन और सामयिक परिस्थिति-संबंधी लेख भी इसके अंदर आ जाते हैं—रक्खा, जिसकी उसको, साथ ही देश और समाज को भी, चाह या आवश्यकता थी। यों ज्ञान का प्रचार वे ख़ूब कर सके और उनका ध्यान इस ओर कभी न गया कि उनकी रचनायें साहित्य की स्थायी संपत्ति समझी जायँगी या नहीं। हिंदी की कल्याण-भावना से प्रेरित होकर उन्होंने साहित्य-सेवा-कार्य अपने हाथ में लिया था और इसी शुभ उद्देश्य की

पूर्ति ही उनके साहित्यिक-जीवन-काल में उनका लक्ष्य बनी रही—इसी के लिए वे सदैव प्राणपण से प्रयत्न करते रहे। 'साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन से बहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि को तीव्रता प्राप्त हो, हृदय में एक प्रकार की संजीवनी शक्ति की धारा बहने लगे। मनोवेग परिष्कृत हो जाय और आत्मगौरव की उद्भावना होकर वह पराकाष्ठा को पहुँच जाय।' इस आदर्श और मनोवृत्ति ने ही उन्हें आचार्यत्व के पद पर बैठा दिया।

दूसरी बात इस संबंध में यह भी कही जा सकती है कि जिस परिस्थिति में द्विवेदी जी का प्रादुर्भाव हुआ था वह किसी स्थायी संपत्ति के निर्माण के योग्य का ही नहीं। उस समय तो केवल पथ-प्रदर्शकों की आवश्यकता थी जो साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में "अबाधित रूप से बढ़ती हुई विचार-विदग्धता को नष्ट करके शुद्ध साहित्य-निर्माण की महत्त्वपूर्ण भावना साहित्य-सेवियों के हृदयों में जागरित कर दे।" यही कार्य द्विवेदी जी ने किया भी। इसी लिए 'यदि मनुष्य की अनुभूतियों, उसके आह्लाद, उसकी वेदना, और उसकी आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति के लिए साहित्य में अवकाश समझा जाय और उसी के अनुसार द्विवेदी-साहित्य की परीक्षा की जाय तो मानना पड़ेगा कि समस्त 'द्विवेदी-युग' भी हमारे साहित्य के इतिहास में कोई बहुत गौरव की वस्तु नहीं बन पाया; उसने प्रथम श्रेणी की एक भी मौलिक शुद्ध साहित्यिक कृति हमारे सामने नहीं रक्खी।' फिर केवल द्विवेदी जी की रचनाओं की तो बात ही क्या है। कारण, उनको तो, एक तरह से मौलिक रचनाओं के लिए अवकाश ही नहीं मिलता था—'सरस्वती'-संपादन में ही वे सदैव व्यस्त रहते थे। इस कथन की पुष्टि इस बात से भी की जा सकती है कि आज तक हिंदी के किसी भी पत्र-

संपादक ने शायद किसी क्षेत्र में कोई ठोस कार्य नहीं किया। अस्तु।

किसी भाषा की उन्नति एक व्यक्ति विशेष पर ही निर्भर नहीं होती। हिंदी ने भी जो उन्नति आज की है उसका श्रेय किसी एक व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता। परंतु हिंदी की 'अनस्थिरता' को स्थिरता प्रदान का—भाषा-संस्कार और परिमार्जन—भाषा की काट-छाँट व्याकरण के नियमों की प्रतिष्ठा, वाक्य-विकास की व्यवस्था के साथ-साथ हिंदी को साधारण बोलचाल की भाषा के निकट लाकर उसमें विचारों के प्राण फूँकने का—भगीरथप्रयत्न उन्होंने किया। प्रेरणा और प्रोत्साहन के द्वारा अनेकानेक नवीन लेखकों का उत्साह बढ़ाया। उन्होंने अँगरेज़ी की ओर झुके हुए हिंदी-भाषियों का हिंदी की ओर खींचा; अन्य भाषाओं से ढूँढ़-ढूँढ़ कर रत्न निकाले और उनसे हिंदी का सिंहासन सुसज्जित किया; इस सिंहासन पर बैठकर उन्होंने हिंदी को उस समय चमकाया जब उसमें कोई चमक नहीं दिखाई दे रही थी। हिंदी के साहित्य को उन्होंने एक ओर तो कलुषित होने से बचाया और दूसरी ओर उसके सामने ऐसा उच्च आदर्श रक्खा जिसका अनुकरण करके वह अन्य उन्नत भाषाओं से टक्कर ले सके। यों हिंदी के लिए उन्होंने जो त्याग किया, उसकी जो सेवा की वह अनुपम है। दूसरे शब्दों में, 'जिनके मस्तिष्क की भगीरथ-शक्ति संसार में नवीन विचार-धारा प्रवाहित करती है, 'ते नरवर थोड़े जगमाँही।' किंतु जो नई नहरें निकाल कर उस धारा का स्वच्छ जल अपने समाज के लिए सुगम कर देते हैं, वे भी हमारी अभ्यर्थना के अधिकारी हैं। आचार्य द्विवेदी जी ने पिछले पैंतीस-चालीस वर्षों के सतत परिश्रम से खड़ी बोली के गद्य और पद्य की एक पक्की व्यवस्था की और दोनों प्रणालियों

के द्वारा पूर्व और पश्चिम की, पुरातन और नूतन, स्थायी और अस्थायी, ज्ञान-संपत्ति—अपनी कठिन कमाई—संपूर्ण हिंदी भाषा-भाषी प्रांतों में मुक्त-हस्त से वितरित की, जिसके लिए हम सब उनके ऋणी हैं और स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के बाद यदि किसी ऐसे एक व्यक्ति का नाम लिया जा सकता है जिसके व्यक्तित्व की हमारे हिंदी-साहित्य के विविध अंगों पर स्थायी और अमिट छाप लगी हो तो वह आचार्य द्विवेदी जी ही हैं।' जिस दिन कला की सुदृढ़ नींव पर हिंदी-संस्कृति के महान् प्रासाद का निर्माण होगा, जिस दिन गंगा और यमुना के किनारे का 'प्राचीन' एक बार फिर उठकर देश के दूसरे जाग्रत् प्रांतों के समकक्ष में बैठने का हक़दार हो सकेगा, उस दिन हम देखेंगे कि उसकी नींव को खोदकर तैयार रखने का सारा श्रेय दौलतपुर के एक ग्रामीण ब्राह्मण को ही है।* वास्तव में, इसी सम्राट् की दिग्विजय से गौरवान्वित होकर आज हम गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। हमें इस प्रकार प्रसन्न होते और स्वर्गीय गौड़ जी के शब्दों में, अपने साहित्यिक जीवन में मातृभाषा हिंदी की जो सेवायें उन्होंने की हैं, उनको फूलते-फलते देखकर आज द्विवेदी जी की आत्मा को जो आनंद हो रहा होगा उसका मूल्य कौन आँक सकता है? और उससे हिंदी-साहित्य का जो प्रचार और प्रसार हो रहा है वह हमारी आँखों के सामने इतना प्रत्यक्ष है कि स्वाभाविक-सा लगता है और हम उसके प्रेरक के प्रति कृतज्ञ होना भी भूल जाते हैं।

× × ×

---

* हंस—अक्टूबर ३५ पृष्ठ २७।

नीचे हम द्विवेदी जी के समकालीन साहित्य-सेवियों और उनकी साहित्य-सेवा का महत्त्व समझनेवाले कुछ प्रसिद्ध लेखकों के विचार दे रहे हैं। यद्यपि कुछ महानुभावों की दृष्टि में इन लेखकों ने द्विवेदी जी की सेवा का उचित मूल्य आँके बिना ही, सामयिक प्रवाह में बहने से अपने को न रोक सकने के कारण अथवा प्रिय बनने के अभिप्राय से, उन्हें बहुत ऊँचा उठा दिया है, तथापि यह बात उनको भी माननी ही पड़ेगी कि द्विवेदी जी के हिंदी-सेवा-कार्य-संबंधी त्याग में साहित्य-सेवी मात्र के लिए एक महान् शिक्षा निहित है।

आचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिंदी-साहित्य का जो उपकार किया है उसका परिचय देना मानो सूर्य को दीपक दिखाना है। जिस क्षेत्र को आपने वर्षों की तपस्या और जीवन के सर्वश्रेष्ठ रस से सींचा है वह आज हरा-भरा दिखाई दे रहा है। आज हम लोग हिंदी के गद्य और पद्य का जो सम-वैभव देख रहे हैं वह आचार्य द्विवेदी जी ही के अविरत परिश्रम का सुफल है। × × ×। आपका नाम हिंदी-भाषा के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा।

—ओरछा-नरेश सवाई महेन्द्र
महाराज वीरेंद्रसिंह जू देव।

१

द्विवेदी जी ने संस्कृत अथवा अँगरेज़ी आदि के साहित्यिक सिद्धांतों का अनुसरण करके अपने विचार नहीं प्रकट किये, यह कहना कि शास्त्र लिखने नहीं बैठे थे। स्टील, एडीसन, जनसन, लैम्ब,

हैज़लिट या हमारे देश के रवींद्रनाथ कोई भी नहीं बैठे। यह भी नहीं कह सकते कि ये लोग शास्त्रीय समीक्षा की प्राचीन प्रणाली से परिचित नहीं थे। उन्होंने उसका अभ्यास नहीं किया। हमारा अभिप्राय यह भी नहीं कि हम द्विवेदी जी की समीक्षा से स्टील, जानसन, रवींद्रनाथ आदि की समीक्षा की तुलना करें। परंतु इतनी समता तो सबमें है कि अपने समय की साहित्य-समीक्षा पर अपनी प्रकृति की मुद्रा ये सभी अंकित कर गये हैं। भावना की वह गहन तन्मयता, जो रवींद्रनाथ को कविता के निगूढ़ रहस्यतम अंतरपट का दर्शन करा देती है, द्विवेदी जी में नहीं मिलती; न इन्हें कल्पना की वह आकाशगामिनी गति ही मिली है जो सदा रवि बाबू के साथ रहती है। परंतु इन प्रदेशों के निस्संपन्न, कर्मठ ब्राह्मण की भाँति द्विवेदी जी का शुष्क, सात्विक आचार साहित्य पर भी अपनी छाप छोड़ गया है जिसमें न कल्पना की उच्च उद्भावना है, न साहित्य की सूक्ष्म दृष्टि; केवल एक शुद्ध प्रेरणा है जो भाषा का भी मार्जन करती है और समय पर सरल उदात्त भावों का भी सत्कार करती है। यही द्विवेदी जी की देन है। शुष्कता में व्यंग्य है, सात्विकता में विनोद है। द्विवेदी जी में ये दोनों ही हैं। स्वभाव की रुखाई. कपास की भाँति नीरस होती हुई भी गुणमय फल देती है। द्विवेदी जी ने हिंदी-साहित्य के क्षेत्र में कपास की ही खेती की "निरस विशद गुणमय फल जासू।"

× × × ×

द्विवेदी जी अपने युग के उस साहित्यिक आदर्शवाद के जनक हैं जो समय पाकर प्रेमचंद जी आदि के उपन्यास-साहित्य में फूला-फला। अपनी विशेषताओं और त्रुटियों से समन्वित इस आदर्शवाद की महिमा हमें स्वीकार करनी चाहिए। मनुष्य में सत् के प्रति जो

पक्षपात रहता है वह जब उसकी साहित्य-रचना का नियंत्रण करने लगता है तब साहित्य में आदर्शवाद का युग आता है। कभी-कभी समाज की कुछ विशेष रीतियों का समर्थन करनेवाला यह आदर्शवाद उक्त समाज की बहुजनमान्यता का ही एकमात्र आश्रय लेकर बुद्धि-जन्य संस्कार का त्याग कर देता है और केवल उन प्रथाओं के प्रचार की पद्धति पकड़ लेता है। कभी यह आदर्शवाद वीर प्रजा की प्रकृति पर प्रतिष्ठित होकर महच्चरित्रों का आविर्भाव करता है। आदर्शवादी कभी—जैसे रामचरित-मानस में—प्रतिस्पर्द्धी पात्रों के काले पट पर ईप्सित नायक का उज्ज्वल चित्र अंकित करते हैं और कभी—जैसे कतिपय आधुनिक पाश्चात्य उपन्यासों में—स्वयं नायक के ही उत्तरोत्तर विकास में अपना आदर्शवाद निहित रखते हैं। इसकी कोई निश्चित प्रणाली नहीं है, तथापि आशामय वातावरण का आलोक, उत्साह-भरे उदात्त कार्य आदर्शवादी कृतियों में देखे और पहचाने जा सकते हैं। द्विवेदी जी और उनके अनुयायियों का आदर्श, यदि संक्षेप में कहा जाय तो, समाज में एक साहित्यिक ज्योति जगाना था। दीनता और दरिद्रता के प्रति सहानुभूति, समय की प्रगति का साथ देना, शृंगार के विलास-वैभव का निषेध ये सब द्विवेदी-युग के आदर्श हैं। इन्हीं आदर्शों के अनुरूप उस साहित्य का निर्माण हुआ जो अपनी पूर्णता का अवलंब लेकर चाहे चिरकाल तक स्थिर न रहे, परंतु अपनी सत्य-वृत्ति के कारण चिरस्मरणीय अवश्य होगा। वह आदर्श धन्य है जो हमारी व्यापक भावना का कपाट खोलकर सरस, शीतल समीर का संचार करता है और हमारे मस्तिष्क की सत्यान्वेषिणी शक्ति का समाधान करके आत्मतृप्ति की व्यवस्था करता है। परंतु जो आदर्श समय और समाज के अंधकार में आलोक की दीपशिखा दिखाकर प्रकाश की व्यवस्था करता है वह भी अपना अलग महत्त्व रखता है। द्विवेदी जी का ऐसा आदर्श था। मुक्ति ज्ञान से ही है; किंतु शास्त्रों में कर्म और उपासना की

भी विधियाँ विहित हैं। द्विवेदी-युग को साहित्य के कर्मयोग का युग कहना चाहिए।

—बाबू श्यामसुंदरदास, बी० ए०
राय कृष्णदास
(प्रस्तावना दि० अ० अ० अं० पृष्ठ ६-७)

२

द्विवेदी जी उस गगनस्पर्शी मेरु-स्तंभ से समता करते हैं जो गिरि-मेखला से वेष्टित होते हुए भी, अपने आकार-विस्तार के कारण, एक स्वच्छंद पर्वत-सा मालूम होता है, जिसके वक्षःस्थल पर मेघों का हार है और विद्युच्छटा दमकते हुए हीरे की तरह क्षण-क्षण में चमक जाती है; परंतु जिसका उन्नत ललाट शुभ्र आकाश में सूर्य की रश्मियों से कीर्तिमयी कांति का पुंज बन, अपने युग-प्रदेश को तेजोमय करता है, और जिसकी प्रतिभा से पीयूषमयी शक्ति का स्रोत, शिवशंकर की जटा से निकली हुई पुण्यसलिला गंगा के समान, अनेक प्रांतों को सिंचित और अनंत प्राणियों को सत्साहित्य और सदुद्योगों में प्रवृत्त होने के लिए स्फूर्ति का दान देता है। अपने युग में वह बेजोड़ है। श्रद्धेय श्रीनिवास शास्त्री ने जो गांधी जी के विषय में कहा था, वही, साहित्यिक क्षेत्र में—और वह भी वहीं तक के लिए जहाँ तक हिंदी-भाषा की सीमा का विस्तार है—द्विवेदी जी के लिए कहा जा सकता है। वह वास्तव में 'आश्चर्य और अननुगम्य' है, उन्हें न कोई छू सकता है और न कोई उनके पास तक फटक सकता है। अपनी अनूठी विशिष्टता से वे सर्वथा अकेले और निराले हैं। अपने समय के वे एकच्छत्र राजा थे। काफ़ी समय तक प्रतिद्वंद्वियों ने उनके हाथ से साहित्यिक दंड को छीनने की व्यर्थ चेष्टायें कीं। अंत में विजयलक्ष्मी ने उन्हीं के माथे पर मुकुट रक्खा

और उन्हीं के ललाट पर राज्यश्री का टीका लगाया। विद्रोह की ज्वाला शांत हो गई, और एक स्वर से हिंदीवालों ने उनकी अधीनता को स्वीकार कर लिया।

—पं० वेंकटेशनारायण जी तिवारी, एम० ए०
(माधुरी १२-२-१ पृ० ३५)

३

द्विवेदी जी की टक्कर का साहित्यिक संसार में अगर कोई महारथी दूसरा है, तो वह डाक्टर जानसन ही है। जिन लोगों ने अँगरेज़ी साहित्य के इतिहास का पारायण किया है, उन्हें यह बताने की आवश्यकता नहीं कि बहुत सी बातों में डाक्टर जानसन और पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी में समानता है। डाक्टर जानसन ने अपनी कृतियों से उतना नहीं, जितना अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व के द्वारा अँगरेज़ी साहित्य के विकास की गति और क्रम को प्रभावित किया है। इस समय भी अँगरेज़ी साहित्य के गद्य और पद्य के संग्रहों में विद्यार्थी को डाक्टर जानसन के फुटकर लेख या पद्य पढ़ने को मिल जाते हैं, लेकिन डाक्टर जानसन का नाम यदि अमर है, तो केवल इसी कारण कि उनकी प्रतिभा की छाप अँगरेज़ी साहित्य पर इस तरह से लगी है कि यदि सदियों तक क्रूर काल उसको मिटाने की चेष्टा करेगा, तब भी उसे कामयाबी न होगी, इसी तरह से, लेखक को इसमें संदेह नहीं है कि द्विवेदी जी की संपूर्ण ग्रंथावली को आज से १०० वर्ष बाद लोग पढ़ेंगे, उस समय के गद्य-पद्य के संग्रह में बीसवीं सदी के हिंदी-साहित्य की शैली के नमूना के रूप में, उनके लेख सम्मिलित ज़रूर होंगे। डाक्टर जानसन की तरह उन्होंने हिंदी-गद्य के व्यवस्थित विकास में अन्यतम भाग लिया है। इस दृष्टि से द्विवेदी जी हिंदी-गद्य के यदि स्रष्टा या निर्माता नहीं हैं

तो उसके सबसे बड़े विधायक तो अवश्य हैं। दोनों ही अपने-अपने समय के अद्वितीय समालोचक हुए हैं। डाक्टर जानसन ही की तरह द्विवेदी जी के साहित्यिक कोड़ों की चोट से बहुत से अनधिकार चेष्टा करनेवाले लेखकों को समय-समय पर तिलमिलाना पड़ा है। दोनों ही असाधारण पांडित्य के कारण विद्वन्मंडली के पूज्यास्पद हुए हैं। डाक्टर जानसन ही की तरह द्विवेदी जी में मैत्री का अपूर्व गुण है।

—पंडित वेंकटेशनारायण तिवारी, एम० ए०
(साप्ताहिक भारत २८ अक्टूबर और ११ नवंबर, १९२८)

४

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी जी, जो अपने युग के प्रधान साहित्याचार्य हुए, अपने आरंभिक विकास की दृष्टि से दयानंदी थे। सामयिक जड़ताओं का प्रतीकार करने में आप सदा खड्गहस्त रहे। परशुराम की भाँति आपने राजसभाव के विरुद्ध चिरकाल तक अनवरत संघर्ष किया। युग की परिस्थिति के वश होकर द्विवेदी जी, द्रोणाचार्य की भाँति क्षात्रधर्म के अनुयायी हुए। उन्होंने सैनिक वृत्ति धारण की। पच्चीस वर्ष लगातार हिंदी-साहित्य के शिविर में उसके सेनानायक होकर रहे। सच पूछा जाय तो हिंदी का वह युग ब्राह्मणयुग न था, क्षत्रिययुग था। उसकी संपूर्ण मतिगति वैसे ही साँचे में ढली थी। उस युग के सच्चे ब्राह्मणों ने—जिनमें द्विवेदी जी प्रमुख हैं—एक अभूतपूर्व आवेश में आकर कार्य किया। उनका ऋण हम पर अपार है। परंतु जब हम यह विचार करते हैं कि निरंतर संघर्षमय समय में रहकर भी द्विवेदी जी उत्तम कोटि की साहित्यिक दृष्टि से संपन्न थे, तब हमें उनकी वास्तविक महत्ता का बोध होता है। संस्कृत-काव्य की मध्यकालीन-कला—विशेषतः युक्त-रचना का चमत्कार द्विवेदी जी पर पूर्ण प्रभाव रखता था, किंतु वे और भी

उत्तम कोटि की काव्य-सुषमा से अपरिचित न थे। × ×। इस अद्वितीय प्रतिभाशाली व्यक्ति के कर्मठ जीवन का प्रसाद हिंदी में युगों तक प्राप्त किया जायगा।

— पं० नंददुलारे वाजपेयी, एम० ए०
(माधुरी १३-१-१-पृ० १४४)

५

द्विवेदी जी का जीवन साहित्य और साधना और तप का जीवन है। साहित्य ही उनका सर्वस्व था। उनकी चिंता, आकांक्षा और विनोद सबका स्रोत एक था और वह था साहित्य। साहित्य उनके लिए कीर्ति का साधन न था और धन का तो हो ही क्या सकता था। पांडित्य-प्रदर्शन भी उनकी मनोवृत्ति न थी। उनके हृदय में इसकी जड़ें उतनी ही गहरी थीं जितनी हमारे जीवन में स्वार्थ और ममत्व की होती हैं। उनका स्वार्थ भी यही था और परमार्थ भी यही था।

× × ×

साहित्य की लगन का कितना ऊँचा आदर्श है। कहाँ से क्या लूँ और उसे किस तरह अच्छे से अच्छे रूप में संसार को दूँ यही धुन है। जन-हित का कोई अंग उनसे नहीं छूटा। जहाँ कोई उपयोगी चीज़ देखी, चाहे वह पुरातत्त्व से संबंध रखती हो, या दर्शन से, या भाषा-विज्ञान से, या प्राकृतिक दृश्यों से, उसे पाठकों के लिए संकलन करना उनका कर्तव्य था। वह जिस चीज़ को पढ़कर स्वयं आनंदित होते थे उसका रस पाठकों को चखाना लाज़िमी बात थी।

—स्व० श्री प्रेमचंद
(जागरण वै० शु० ७ सोमवार सं० १६६०)

६

यदि कोई मुझसे पूछे कि द्विवेदी जी ने क्या किया तो मैं उसे समग्र आधुनिक हिंदी-साहित्य दिखाकर कह सकता हूँ कि यह सब उन्हीं की सेवा का फल है। हिंदी-साहित्य गगन में सूर्य, चंद्रमा और तारागणों का अभाव नहीं है। सूरदास, तुलसीदास, पद्माकर आदि कवि साहित्याकाश के देदीप्यमान नक्षत्र हैं। परंतु मेघ की तरह ज्ञान की जलराशि देकर साहित्य उपवन को हरा-भरा करनेवालों में द्विवेदी जी की ही गणना होगी।

—श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी
(द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ पृ० ५३१)

७

हिंदी के द्वारा द्विवेदी जी ने हिंदू-संस्कृति का भला किया है। मेरे लिए हिंदू-संस्कृति और हिंदुत्व दो पर्यायवाची शब्द हैं। द्विवेदी जी ने भाषा-द्वारा हिंदू की रक्षा तथा विकास किया है; अतः मेरे लिए वे मान्य हैं।

— श्री भाई परमानंद एम० ए०, एम० एल० ए०
(द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ पृ० ५३१)

८

No one has laboured harder or to greater purpose in the cause of promoting intellectual freedom by popularizing expression in an Indian language—Hindi in his case—than Pandit Mahavir Prasad Dvivedi × × × All honour to him for the pioneer work that he has per-

उत्तम कोटि की काव्य-सुषमा से अपरिचित न थे। × × । इस अद्वितीय प्रतिभाशाली व्यक्ति के कर्मठ जीवन का प्रसाद हिंदी में युगों तक प्राप्त किया जायगा।

— पं० नंददुलारे वाजपेयी, एम० ए०
(माधुरी १२-१-१-पृ० १४४)

५

द्विवेदी जी का जीवन साहित्य और साधना और तप का जीवन है। साहित्य ही उनका सर्वस्व था। उनकी चिंता, आकांक्षा और विनोद सबका स्रोत एक था और वह था साहित्य। साहित्य उनके लिए कीर्ति का साधन न था और धन का तो हो ही क्या सकता था। पांडित्य-प्रदर्शन भी उनकी मनोवृत्ति न थी। उनके हृदय में इसकी जड़ें उतनी ही गहरी थीं जितनी हमारे जीवन में स्वार्थ और ममत्व की होती हैं। उनका स्वार्थ भी यही था और परमार्थ भी यही था।

× × ×

साहित्य की लगन का कितना ऊँचा आदर्श है। कहाँ से क्या लें और उसे किस तरह अच्छे से अच्छे रूप में संसार को दें यही धुन है। जन-हित का कोई अंग उनसे नहीं छूटा। जहाँ कोई उपयोगी चीज़ देखी, चाहे वह पुरातत्त्व से संबंध रखती हो, या दर्शन से, या भाषा-विज्ञान से, या प्राकृतिक दृश्यों से, उसे पाठकों के लिए संकलन करना उनका कर्तव्य था। वह जिस चीज़ को पढ़कर स्वयं आनंदित होते थे, उसका रस पाठकों को चखाना लाज़िमी बात थी।

—स्व० श्री प्रेमचंद
(जागरण वै० शु० ७ सोमवार सं० १६६०)

६

यदि कोई मुझसे पूछे कि द्विवेदी जी ने क्या किया तो मैं उसे समग्र आधुनिक हिंदी-साहित्य दिखाकर कह सकता हूँ कि यह सब उन्हीं की सेवा का फल है। हिंदी-साहित्य गगन में सूर्य, चंद्रमा और तारागणों का अभाव नहीं है। सूरदास, तुलसीदास, पद्माकर आदि कवि साहित्याकाश के देदीप्यमान नक्षत्र हैं। परंतु मेघ की तरह ज्ञान की जलराशि देकर साहित्य उपवन को हरा-भरा करनेवालों में द्विवेदी जी की ही गणना होगी।

—श्रीपदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी
(द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ पृ० ५३१)

७

हिंदी के द्वारा द्विवेदी जी ने हिंदू-संस्कृति का भला किया है। मेरे लिए हिंदू-संस्कृति और हिंदुत्व दो पर्यायवाची शब्द हैं। द्विवेदी जी ने भाषा-द्वारा हिंदू की रक्षा तथा विकास किया है; अतः मेरे लिए वे मान्य हैं।

—श्री भाई परमानंद एम० ए०, एम० एल० ए०
(द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ पृ० ५३१)

८

No one has laboured harder or to greater purpose in the cause of promoting intellectual freedom by popularizing expression in an Indian language—Hindi in his case—than Pandit Mahavir Prasad Dvivedi × × × All honour to him for the pioneer work that he has per-

formed in the face of obstacles and discouragements that would have daunted a less brave soul than his.

—St. Nihal Singh
(द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ पृ० ५१४)

९

ज्यों-ज्यों समय गुज़रता जायगा, त्यों-त्यों लोग द्विवेदी जी की साहित्यिक सेवाओं की महिमा के अधिकाधिक अनुभव करने लगेंगे। उत्तरीय भारतवर्ष के आधुनिक राष्ट्रनिर्माताओं में भविष्य का इतिहास-लेखक इनको बहुत ही प्रतिष्ठित पद देगा।

—"भारत" से

१०

ग़रीब-ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होकर ३) मासिक सरकारी वज़ीफ़े पर रूखी-सूखी दाल रोटी से पेट भरकर, साधारण हिंदी-अँगरेज़ी पढ़कर, कुछ वर्षों तक रेलवे में मुलाज़िमत करके, नियमनिष्ठा, श्रमशीलता और कार्यदक्षता की बदौलत आपने हिंदी-साहित्य के इतिहास में एक नया ही अध्याय लिख डाला है। सरल लेखन-शैली, खड़ीबोली की कविता, समाज में प्रतिष्ठित और आदरणीय माने जानेवाले भूत और वर्तमानकालीन लेखकों और कवियों की कृतियों की तीव्र समालोचना का आदर जब तक हिंदी-साहित्य-संसार में रहेगा, तब तक द्विवेदी जी हिंदी-साहित्य के एक युग-निर्माता की दृष्टि से माने जायँगे।

—पंडित हरिभाऊ उपाध्याय
(हिंदी-प्रचारक)

११

ईमानदारी और नियमितता, परिश्रम और योग्यता, स्वाधीनता-

प्रेम और अक्खड़पन का जो standard हिंदी-पत्रकारों के सामने उन्होंने रक्खा है उस तक पहुँचने के लिए अभी बीसियों वर्ष लगेंगे। उनके मुक़ाबले का दूसरा कोई जर्नलिस्ट हिंदी-संसार में तो विद्यमान नहीं।

—पं० बनारसीदास चतुर्वेदी
(विशाल भारत, मई १६२६)

१२

हिंदी-संसार में तो क्या उनकी टक्कर के साहित्य-सेवी भारत के अन्य भाषा-भाषियों में भी कितने हैं, पता नहीं।

—पं० श्रीरामशर्मा
(सुधा, ६-१-२ पृ० २२५)

१३

व्यक्तित्व बनाया जाता है, स्वयं नहीं बनता। लोकाकांक्षा ही व्यक्तित्व की महिमा प्रतिष्ठापित करती है। हमारे आचार्य द्विवेदी जी इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अपनी निःस्वार्थ साहित्यिक साधना से इन्होंने जिस वातावरण की सृष्टि की, उसके भीतर से इसी लोकाकांक्षा का प्रादुर्भाव हुआ और यही आज के हमारे इतने बड़े आह्लाद का कारण बनी। इस प्रकार की आकांक्षाओं का हमारे बीच जितना ही अधिक प्रसार होगा, हम उतनी ही जल्दी अपने आपको समुन्नत बना सकेंगे।

—स्व० श्री प्रेमचंद जी
(हंस ३-७-पृ० १०२)

१४

समय परिवर्तनशील है। भारतवर्ष में अँगरेज़ों का राज्य रहे, चाहे स्वराज्य हो जाय, एकाधिपत्य हो, चाहे प्रजातंत्रवाद की दुंदुभि बजे; परंतु हिंदी-साहित्य का जो राष्ट्रीय भवन द्विवेदी जी ने तैयार किया

है, वह सदा अपना मस्तक उन्नत किये साभिमान खड़ा रहेगा और उसके द्वारा भारतीय संस्कृति का संदेश संसार में फैलेगा।

—श्रीसत्यदेव परिव्राजक

(द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ पृ० ४३८)

१५

हम लोगों के लिए इससे बढ़कर क्या बात हो सकती है कि हमारे समाज में भी एक ऐसा व्यक्ति है जिसका महत्त्व निर्विवाद है—जिसकी कार्य-पद्धति में हमारी आशावृद्धि है। द्विवेदी जी महाराज देखे, और बहुत दिनों तक देखे, कि उन्होंने जवानी में जो प्रयत्न किया है—जिसके लिए उन्होंने युद्ध किया है—आज वह प्रयत्न सफल हुआ। आज वे ही युद्ध में विजयी हुए हैं। भगवान् उनको चिरायु करें और उनके परामर्श से हम लोग सदा लाभ उठाते रहें।

—श्री चंद्रशेखर शास्त्री

(द्विवेदी-अभिनंदन-ग्रंथ पृ० ४३३)